काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

विभागाध्यक्ष
प्रो० ओंकार नाथ सिंह

शोध निर्देशिका
प्रो० मीना लाल

शोध छात्रा
पूजा अर्चना

उच्चानुशीलन केन्द्र
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

पंजीयन सं0-314405

वर्ष : 2021

पंजीकरण सं0-AIHC&Arch/RES/sept.2015/912

Annexure- E

(See Clauses XIII.2 (b) (iii))

शोध-छात्रा का घोषणा-पत्र

मैं **पूजा अर्चना** प्रमाणित करती हूँ कि प्रो0 मीना लाल के निर्देशन में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सम्पूर्ण कार्य/लेखन स्वयं मेरे द्वारा किया गया है और यह पूर्णतया मौलिक है। शोध-प्रबन्ध को सितम्बर, 2015 से अगस्त, 2021 की अवधि में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पूरा किया गया। शोध-प्रबन्ध में सम्मिलित सामग्री पूर्णतया या आंशिक रूप से अन्य उपाधि या डिप्लोमा के लिए अन्यत्र प्रस्तुत नहीं की गई है।

मैं हृदय से यह स्वीकार करती हूँ कि जहाँ भी अन्य शोध-कर्त्ताओं या पुस्तकों की सामग्री का शोध-प्रबन्ध के मूल या विवेचन-विश्लेषण के क्रम में उपयोग किया गया है, वहाँ उनके नाम और पुस्तकों का उल्लेख किया गया है। मैं यह भी प्रमाणित करती हूँ कि पत्रिकाओं, पुस्तकों, रिपोर्टों, लघु शोध-प्रबन्धों या शोध-प्रबन्ध आदि अथवा वेबसाइट पर उपलब्ध किसी कार्य के अनुच्छेद, मूल (टेक्स्ट) द्वारा निष्कर्ष आदि को अपनी जानकारी में यथावत् इस शोध-प्रबन्ध में न तो प्रस्तुत किया है और न ही ऐसे किसी कार्य को मैंने अपना मौलिक कार्य घोषित किया है।

दिनांक .... शोध-छात्रा

स्थान- वाराणसी **(पूजा अर्चना)**

शोध निर्देशिका का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि शोध छात्रा **पूजा अर्चना** का कथन/लेखन मेरी जानकारी में सत्य है।

विभागाध्यक्ष

(प्रो0 ओंकार नाथ सिंह)
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

शोध निर्देशिका

(प्रो0 मीना लाल)
महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

शोध-छात्रा का प्रतिज्ञा-पत्र

मैं **पूजा अर्चना,** शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अपना शोध-प्रबन्ध **''काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व''** नामक शीर्षक से प्रस्तुत कर रही हूँ। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में तृतीय शताब्दी ई0पू0 से बारहवीं शती ई0 तक काशी से प्राप्त अभिलेखों में वर्णित काशी के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पक्षों पर दृष्टि डालते हुए कार्य किया गया है।

मेरे शोध-कार्य की पूर्ण जिम्मेदारी मेरी है और किसी भी समय त्रुटि होने पर मैं इसमें सुधार हेतु सदैव तैयार हूँ।

दिनांक ....

शोध-छात्रा

स्थान- वाराणसी

(पूजा अर्चना)
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

Annexure- E

(See Clauses XIII.2 (b) (iii))

शोध-छात्रा का घोषणा-पत्र

मैं **पूजा अर्चना** प्रमाणित करती हूँ कि प्रो0 मीना लाल के निर्देशन में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सम्पूर्ण कार्य/लेखन स्वयं मेरे द्वारा किया गया है और यह पूर्णतया मौलिक है। शोध-प्रबन्ध को सितम्बर, 2015 से अगस्त, 2021 की अवधि में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पूरा किया गया। शोध-प्रबन्ध में सम्मिलित सामग्री पूर्णतया या आंशिक रूप से अन्य उपाधि या डिप्लोमा के लिए अन्यत्र प्रस्तुत नहीं की गई है।

मैं हृदय से यह स्वीकार करती हूँ कि जहाँ भी अन्य शोध-कर्त्ताओं या पुस्तकों की सामग्री का शोध-प्रबन्ध के मूल या विवेचन-विश्लेषण के क्रम में उपयोग किया गया है, वहाँ उनके नाम और पुस्तकों का उल्लेख किया गया है। मैं यह भी प्रमाणित करती हूँ कि पत्रिकाओं, पुस्तकों, रिपोर्टों, लघु शोध-प्रबन्धों या शोध-प्रबन्ध आदि अथवा वेबसाइट पर उपलब्ध किसी कार्य के अनुच्छेद, मूल (टेक्स्ट) द्वारा निष्कर्ष आदि को अपनी जानकारी में यथावत् इस शोध-प्रबन्ध में न तो प्रस्तुत किया है और न ही ऐसे किसी कार्य को मैंने अपना मौलिक कार्य घोषित किया है।

दिनांक .... शोध-छात्रा

स्थान- वाराणसी **(पूजा अर्चना)**

शोध निर्देशिका का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि शोध छात्रा **पूजा अर्चना** का कथन/लेखन मेरी जानकारी में सत्य है।

विभागाध्यक्ष

(प्रो0 ओंकार नाथ सिंह)
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

शोध निर्देशिका

(प्रो0 मीना लाल)
महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

Annexure- F
(See Clauses XIII.1(c) and XIII.2 (b)(iv))

प्री-पी-एच॰डी॰ कोर्स प्रमाण-पत्र

(Pre-Ph.D. Course work in compliance of UGC Regulation, 2009)

प्रमाणित किया जाता है कि **पूजा अर्चना,** शोध-छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने सत्र सितम्बर, 2015 में पंजीकृत होकर प्री-पी-एच॰डी॰ कोर्स सफलतापूर्वक पूर्ण किया है। उक्त पाठ्यक्रम की परीक्षा में शोध छात्रा को उत्तीर्ण घोषित किया गया। इनके शोध प्रबन्ध का शीर्षक ''**काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व**'' है।

विभागाध्यक्ष

(प्रो0 ओंकार नाथ सिंह)
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

दिनांक :

स्थान : वाराणसी

Annexure – F

See Clause XIII.1 (c) and XIII.2 (b) (iv)

प्रस्तुति-पूर्व संगोष्ठी सफलता प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **पूजा अर्चना**, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, कला संकाय की नियमित शोध-छात्रा हैं। इन्होंने पी-एच0डी0 प्रोग्राम के निमित्त अपेक्षित प्रस्तुति-पूर्व संगोष्ठी को दिनांक 13 अप्रैल, 2021 को सफलतापूर्वक पूर्ण किया है। इनके शोध-प्रबन्ध का शीर्षक **''काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व''** है।

विभागाध्यक्ष

दिनांक :

स्थान : वाराणसी

(प्रो0 ओंकार नाथ सिंह)
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

Annexure- G
(See Clauses XIII.2 (b)(v))

रचनास्वत्वाधिकार हस्तान्तरण प्रमाण-पत्र

शोध-प्रबन्ध का शीर्षक- **''काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व''**

शोध छात्रा का नाम- **पूजा अर्चना**

रचनास्वत्वाधिकार-हस्तान्तरण

पी-एच0डी0 उपाधि के लिए प्रस्तुत उपर्युक्त शोध-प्रबन्ध के रचनास्वत्वाधिकार के अन्तर्गत आने वाले सभी अधिकारों को अधोहस्ताक्षरी इस पत्र के माध्यम से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को हस्तान्तरित करती हूँ।

दिनांक .... शोध-छात्रा

स्थान- वाराणसी **(पूजा अर्चना)**

टिप्पणी :- स्रोत और विश्वविद्यालय के रचनास्वत्वाधिकार सूचना का निर्देश करते हुये लेखिका इस शोध-प्रबन्ध को पुनः प्रस्तुत कर सकती है अथवा किसी अन्य को शोध प्रबन्ध को शब्दशः या आंशिक रूप से प्रस्तुत करने हेतु अधिकृत कर सकती है, अथवा लेखिका स्वयं अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए भी पुनः व्युत्पादित कर सकती है।

आभार

महामना की पावन बगिया में शोध कार्य करने का स्वप्न पूर्ण हुआ। शोध-प्रबन्ध की पूर्णता देवाधिदेव महादेव बाबा विश्वनाथ एवं माता पार्वती की असीम अनुकम्पा का परिणाम है। मैं जब 12वीं कक्षा में थी तभी से मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन करने की तीव्र इच्छा थी। अथक परिश्रम के परिणाम स्वरूप मुझे यहाँ अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लगभग 13 वर्षों के अध्ययन के पश्चात् आज जब बीते वर्षों की स्मृति होती है, तो लगता है कि कितना लम्बा वक्त था और हम कितनी जल्दी में थे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, मेरे अध्ययन में प्रारम्भ से ही अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई, परन्तु ईश्वर की मुझ पर सदैव कृपा बनी रही। खैर...... काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से जुड़ी जितनी स्मृतियाँ हैं, उनका उल्लेख करना व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता। शोध में प्रवेश के दौरान ही सभी शोधार्थियों की तरह विषय चयन की समस्या मेरे भी सामने थी, किन्तु इसे सहज बनाने का श्रेय मेरी शोध निर्देशिका विदुषी प्रो0 मीना लाल को जाता है, जिनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

गुरु माता विदुषी प्रो0 मीना लाल न केवल शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में अपना विद्वतापूर्ण एवं विशिष्ट निर्देशन दिया अपितु प्रारम्भ से ही मेरे पारिवारिक समस्याओं में भी सहयोग दिया। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि गुरुमाता से मेरी मुलाकात स्नातक में ही हो चुकी थी। उनके विषय में एक कहावत चरितार्थ होती है कि वो नारियल के समान हैं, जो बाहर से कठोर तो होता है किन्तु अन्दर से उतना ही मुलायम। प्रारम्भ में ही उन्होंने मुझे अपने अध्यापन से आकर्षित किया था। उनके 'अभिलेखशास्त्र' में विशिष्ट ज्ञान के परिणामस्वरूप मेरी भी रुचि इसमें बढ़ी। उस समय भी वो मुझसे उतना ही स्नेह रखती थी, जितना वर्तमान समय में। उनकी मुझे सबसे अच्छी चीजों में अध्ययन-अध्यापन के पश्चात् एक और बात लगी कि वो अपने पढ़ाए हुए बच्चों का चेहरा कभी नहीं भूलती। समय से कक्षा में प्रवेश करना और अध्यापन में स्वयं को समर्पित कर देना उनकी विशेषताओं में से एक है। समय-

समय पर बच्चों का परीक्षण करना उनका व्यक्तिगत् स्वभाव है। प्रत्येक स्थिति में मेरा सहयोग करने वाली व वात्सल्यपूर्ण स्नेह देने वाली, मेरी अभिभावक स्वरूप गुरु माता मैं आपके प्रति जो भी कृतज्ञतापूर्ण आभार प्रकट करूँ, वह अपर्याप्त ही होगा। आपके सजग निर्देशन, प्रेरणा, सहयोग और स्नेह का परिणाम प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है, जिसके लिए मैं आपसे कभी भी उऋण नहीं हो सकती।

तदनन्तर, मैं उन समस्त गुरुजनों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनका सहयोग एवं स्नेह शोध कार्यावधि में मुझे सदैव प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम मैं आदरणीय गुरुवर प्रो0 सीताराम दुबे के अमूल्य सुझाव एवं सहयोग के लिए हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। जिन्होंने सदैव अपने स्नेह और वात्सल्य से मेरा मार्गदर्शन ही नहीं अपितु उत्साहवर्धन भी किया है। प्रो0 ओ0 एन0 सिंह (विभागाध्यक्ष), प्रो0 सुमन जैन, प्रो0 अनिल कुमार दुबे, प्रो0 प्रवेश कुमार श्रीवास्तव, प्रो0 अतुल त्रिपाठी, प्रो0 डी0 के0 ओझा, प्रो0 जी0 के0 लामा, प्रो0 ए0 के0 सिंह, डॉ0 सुजाता गौतम, डॉ0 विनय कुमार, एवं विभाग के समस्त गुरुजनों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

मैं अपने विभाग के कर्मचारी श्रीमती शर्मिला भट्टाचार्या के प्रति श्रद्धा समर्पित करती हूँ, जिन्होंने शोध कार्य दौरान मुझे स्नेह एवं वात्सल्य प्रदान किया। श्री श्यामबली, श्री भारतेन्दु, श्री संजय सिंह तथा विभाग के समस्त कर्मचारियों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिनका सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा।

सयाजीराव गायकवाड़ केन्द्रीय ग्रंथालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं विभागीय ग्रंथालय, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व, भारत कला भवन (का0हि0वि0वि0), ज्ञान-प्रवाह, सारनाथ संग्रहालय के पुस्तकालय एवं संग्रहालयों से सामग्री संकलन की सुविधा को सहज एवं सुलभ बनाने हेतु इन समस्त संस्थाओं के सदस्यों के सहयोग हेतु हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

मैं, अपने गुरु भाइयों एवं बहनों की भी विशेष आभारी हूँ, जिनका सहयोग शोध कार्य के दौरान प्राप्त हुआ। रीना सिंह, अनिता कुमारी, शबनम अंसारी, विजयकान्त, धनंनजय, का विशेष सहयोग मिला, जिसकी मैं ऋणी रहूँगी। मित्रों के प्रति आभार एक मामूली शब्द है और मित्रता एक अनमोल रत्न। इस क्रम में प्रज्ञा श्रीवास्तव, साधना सिंह, अंजलि जायसवाल, सत्य प्रकाश, मनीष भारती, सुप्रिया चौरसिया, ज्योति सिंह, डा0जूली सिंह (अग्रजा), डा0 रविशंकर, डा0 अरविन्द यादव एवं स्वतंत्र सिंह का विशेष योगदान रहा है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में माता-पिता का आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन अपने बच्चों के लिए पुण्यदायी होता है। मेरे प्रेरणा स्रोत पिता श्री अरुन कुमार गुप्ता एवं माता श्रीमती मुन्नी गुप्ता का आशीष न केवल शोधाध्ययन काल में वरन् जीवन के प्रत्येक क्षण में मेरा सम्बल रहा है। आत्मविश्वास, धैर्य एवं सर्वदा मार्गदर्शन के लिए अग्रज वेद प्रकाश गुप्ता एवं सत्य प्रकाश गुप्ता एवं भाभी नीति गुप्ता और विजया गुप्ता को स्नेह आभार। शोध के दौरान प्रेम एवं वात्सल्य की मूर्त्ति प्रश्विता (पीकू) को भूलना जैसे कुछ छुटने जैसा है।

अन्ततः जीवन के पड़ाव पर एक सच्चे मित्र की आपको सदैव आवश्यकता होती है, जो आपको वास्तविक रूप में समझे। आपकी अच्छाइयों और बुराइयों दोनों के साथ आपको स्वीकार करे। ईश्वर ने मुझ पर सदैव अपना आशीर्वाद बनाए रखा। दोस्त के रूप में वन्दना सिंह (इलाहाबाद) का आभार व्यक्त करना मेरे लिए कठिन प्रतीत होता है। जो मेरे शोध के दौरान सम्बल की तरह हमेशा साथ रही। जिसे व्यक्त करना मेरे लिए कठिन है। तुमने सदैव मुझे नकारात्मक लोगों से दूर रखा है। ऐसा मित्र ईश्वर सभी को दे। मैं तुमसे सदैव स्नेह करती रहूँगी। समेटने के चक्कर में बहुत कुछ छूट रहा है। क्या कहूँ, क्या भूलूँ और क्या याद करूँ!

शोध अध्ययेतावृत्ति प्रदान करने हेतु मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग यू0जी0सी0 नई दिल्ली को कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैं राहुल विश्वकर्मा, मयूरी प्रिंटर, मालवीय कुंज, लंका, वाराणसी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे शोध प्रबन्ध के शीघ्रताशीघ्र टंकण कार्य में पूर्ण सहयोग दिया।

अंततः परमपिता परमेश्वर शिव बाबा एवं महामना मालवीय जी को नमन करते हुए उन आलोचकों को हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मेरे शोध-प्रबन्ध की पूर्णता में अपनी अहम् भूमिका प्रदान की है।

पूजा अर्चना

विषयानुक्रमणिका

काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-सारांशिका

विभागाध्यक्ष
प्रो० ओंकार नाथ सिंह

शोध निर्देशिका
प्रो० मीना लाल

शोध छात्रा
पूजा अर्चना

उच्चानुशीलन केन्द्र
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

पंजीयन सं0-314405

वर्ष : 2021

पंजीकरण सं0-AIHC&Arch/RES/sept.2015/912

सारांशिका

भारतीय सभ्यता में समन्वय की भावना स्थापित करने में काशी का बहुत बड़ा योगदान रहा है, संभवतः इसी कारण लोगों का काशी के प्रति इतना आकर्षण है। जहाँ देश के अन्य नगर समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी मूलधारा का परित्याग करते रहे, वहीं काशी ने परिवर्तनों एवं समन्वय के साथ अपनी सांस्कृतिक विरासत का अस्तित्व बनाये रखा। अमेरिकी साहित्यकार **मार्क ट्वेन** ने अपने यात्रा–वृत्तान्त ***'फॉलोविंग द इक्वेटर'*** में काशी को **इतिहास, परम्परा एवं दन्तकथाओं से भी दोगुना प्राचीन बताया है।** इतना ही नहीं इस वृत्तान्त के चार अध्याय काशी (वाराणसी) को ही समर्पित हैं। हिन्दू–धर्म और संस्कृति की शिक्षा–पद्धति को देखकर उन्होंने काशी को ***'ऑक्सफोर्ड ऑफ इण्डिया'*** की संज्ञा दी है। साहित्यिक परम्परा के अनुसार काशी की प्राचीनता उत्तर–वैदिक काल **(अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा)** तक जाती है किन्तु आभिलेखिक स्रोत तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व (मौर्यकाल) से प्राप्त होते हैं।

जातक ग्रन्थों के अनुसार काशी तीन सौ योजन तक विस्तृत थी, जिसके उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स तथा दक्षिण में विन्ध्य–पर्वत था। यदि आभिलेखिक साक्ष्यों की बात की जाए तो इसका विस्तार **गाज़ीपुर** (स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ अभिलेख), **जौनपुर** (हरिश्चन्द्र का मछलीशहर ताम्रपत्र अभिलेख), **मिर्ज़ापुर** (अशोककालीन अहरौरा लघु शिलालेख, हरिश्चन्द्रकालीन बेलखरा अभिलेख), **चन्दौली** (प्रहलादपुर तिथिविहीन स्तम्भ अभिलेख) एवं **बिहार के भभुआ** (नायक अंगसिंह का सिलसिला अभिलेख) के अधिकांश भू–भाग तक था। इन सभी अभिलेखों का काशी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रहा है। वर्तमान समय में मध्य–गांगेय क्षेत्र में अवस्थित काशी का विस्तार लगभग 1535 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में है। **प्रो0 विदुला जायसवाल** के अनुसार वाराणसी नगर की परिधि के बाहर का सीमान्त–क्षेत्र जहाँ छोटे एवं बड़े गाँव स्थित थे तथा दूरस्थ ऐसे भाग जो निरन्तर वाराणसी से जुड़े हुए थे, उन्हें **'काशी–क्षेत्र'** के अन्तर्गत सीमांकित किया गया है। इन क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों को अध्ययन का आधार बनाकर काशी के इतिहास पर कार्य किया गया है। संयोग से विगत् वर्षों में काशी क्षेत्र से कुछ नवीन अभिलेखों की प्राप्ति हुई है, जो इतिहास–लेखन के तथ्यों की पुष्टि में सहायक प्रतीत होते हैं। तृतीय शताब्दी ई0पू0 से लेकर बारहवीं शती ई0 तक जिन राजवंशों ने काशी पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन किया, उनके काल का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इन्हीं के आलोक में प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध विश्लेषित है।

पूर्ववर्ती कार्य

काशी के विविध पक्षों पर अब तक अनेक कार्य हुए हैं। इनमें सर्वप्रथम उन पुस्तकों की चर्चा की जा रही है जो विशेष रूप से काशी (वाराणसी) पर केन्द्रित हैं, इनमें ई0बी0 हैवेल कृत ***बनारसः द सैक्रेड सिटी (1905)***, ए0 एस0 अल्तेकर कृत ***हिस्ट्री ऑफ बनारस (1937)***, ई0 वी0 जोशी कृत ***वाराणसीः उत्तर–प्रदेश गजेटियर (1965),*** भिक्षु धर्मरक्षित कृत ***सारनाथ का इतिहास (1969),*** पं0 कुबेरनाथ सुकुल कृत ***वाराणसी वैभव (1977),*** उमा पाण्डेय कृत ***वाराणसी– भारत का सांस्कृतिक केन्द्र (1980)***, वासुदेव शरण अग्रवाल कृत ***वाराणसी सील्स एण्ड सीलिंग्स (1984),*** वीरेन्द्र प्रताप सिंह कृत ***लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसीः एन अकाउण्ट बेस्ड ऑन द ऑर्कियोलॉजिकल एविडेन्स (1985),*** मोतीचन्द्र कृत ***काशी का इतिहास (1985),*** ईश्वरशरण विश्वकर्मा कृत ***काशी का ऐतिहासिक भूगोल (1987)***, करुणापति त्रिपाठी कृत ***काशीखण्ड– भाग–2 (1992)***, विदुला जायसवाल कृत ***एन्शियेन्ट वाराणसीः एन आर्कियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव (2009)*** एवं ***आदि काशी से वाराणसी तक (2011)*** आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

अभिलेखों से सम्बन्धित काशी के इतिहास लेखन में सहायक पुस्तकों में प्रमुख रूप से रोमा नियोगी कृत ***हिस्ट्री ऑफ गाहडवाल डायनेस्टी (1959),*** हेमचन्द्र राय चौधरी कृत ***प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास (1971)***, विशुद्धानन्द पाठक कृत ***उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (1973),*** गिरिजाशंकर मिश्र द्वारा हिन्दी में अनुवादित ***प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड–3 (1974)***, श्रीराम गोयल कृत ***प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड–1 (1982),*** प्रशान्त कश्यप कृत ***गाहडवालों का इतिहास (2006),*** परमेश्वरी लाल गुप्त कृत ***प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (दो खण्डों में विभाजित, 2008)***, टी0पी0 वर्मा एण्ड ए0के0 सिंह कृत ***इन्स्क्रिप्शंस ऑफ गाहडवालाज एण्ड देयर टाइम्स*** (दो खण्डों में विभाजित 2011), ऐ0 के0 दुबे कृत ***कल्चर अण्डर द गाहडवालाज़ः एन एपिग्राफिकल स्टडी (2011)*** आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

काशी से सम्बन्धित विभिन्न–पत्रिकाएँ जैसे– ***उत्तर–प्रदेश का काशी अंक (1984),*** भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका में ***युगों–युगों में काशी अंक (1986),*** सन्मार्ग का ***काशी विशेषांक (1986),*** ओम प्रकाश केजरीवाल द्वारा संपादित ***काशी नगरी एक : रूप अनेक (2010)*** आदि उल्लेखनीय हैं।

शोध विषय की दृष्टि से ***एपीग्राफिया इण्डिका, इण्डियन एण्टीक्वेरी, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली*** एवं ***जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया*** आदि पत्रिकायें भी महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें समय–समय पर काशी से सम्बन्धित अनेक अभिलेख प्रकाशित होते रहे हैं।

शोध का उद्देश्य एवं सीमा विस्तार

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु इन ग्रन्थों में किसी का भी उद्देश्य अभिलेखों के आधार पर काशी की ऐतिहासिकता एवं संस्कृति को प्रस्तुत करना नहीं है। अभिलेखों को केन्द्रित करते हुए काशी पर स्वतन्त्र एवं विस्तृत कार्य का अभाव है, अतः मेरे शोध–विषय का उद्देश्य ऐतिहासिक कालक्रमानुसार अभिलेखों को आधार बनाकर काशी के भौगोलिक, राजनीतिक–प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं शिक्षा–विषयक परिदृश्य की यथार्थ वस्तु–स्थिति को प्रकट करने का यथा–सम्भव प्रयत्न है।

शोध–प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन हेतु मुख्यतः ऐतिहासिक शोध–प्रविधि का अनुसरण किया गया है। अध्ययन के मुख्य स्रोत तो काशी से प्राप्त अभिलेख हैं परन्तु इनमें प्राप्त तथ्यों एवं संदर्भों की पुष्टि के लिए साहित्यिक, मौद्रिक व अन्य समकालीन साक्ष्यों से यथासंभव सहायता ली गई है। शोध–प्रबन्ध के उद्देश्य की प्रतिपूर्ति हेतु विभिन्न पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों का भ्रमण कर अध्ययन का कार्य किया गया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को भूमिका एवं उपसंहार के अतिरिक्त कुल सात अध्यायों में विभक्त किया गया है–

उपर्युक्त विवरण **भूमिका** का ही संक्षिप्त रूप है।

प्रथम अध्याय : काशी के अभिलेखों की विवेचना

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत काशी से प्राप्त अभिलेखों का वर्गीकरण, प्राप्ति स्थल, लेखन हेतु प्रयुक्त उपादान, लिपि, भाषा, संवत् एवं विषयवस्तु आदि महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। काशी–क्षेत्र से प्राप्त **75** अभिलेखों का क्रमागत् अध्ययन करते हुए इन अभिलेखों को **ताम्रपत्र** (कुल संख्या 46), **पाषाण** (कुल संख्या 19), **स्तम्भ** (कुल संख्या 06) एवं **मूर्ति लेख** (कुल संख्या 04) में विभाजित किया गया है। अभिलेखों में प्राकृत, प्राकृत मिश्रित संस्कृत एवं संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसकी लिपि मौर्यकालीन ब्राह्मी से विकसित होते हुए नागरी तक है। तिथ्यांकन के लिए विशेष रूप से विक्रम संवत्, शक संवत्, गुप्त संवत् एवं कलचुरि संवत् प्रयुक्त हुआ है। अभिलेखों में प्राप्ति स्थल, (वर्तमान समय में संरक्षित), शासक, दान देने का अवसर, धर्म, दानग्रहीता ब्राह्मण (उसकी वंशावली के साथ), उत्त्कीर्णक एवं लेखक के नाम आदि सम्मिलित हैं।

काशी से प्राप्त अभिलेखों में प्रस्तर एवं ताम्रपत्रों का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। अभिलेखन कार्य हेतु स्तम्भों, पट्टिकाओं, मूर्ति का आसन, मंदिर की दीवारों आदि में प्रस्तर का उपयोग हुआ है। कालान्तर में धातु की सुलभता के कारण दान में दी गयी भूमि, ग्राम व आवास के एक पंजीकरण पत्र के रूप में ताम्रपत्रों का भी प्रयोग लेखन हेतु अधिकता से हुआ है। इस प्रकार यह अध्याय काशी से प्राप्त अभिलेखों के परिचयात्मक अध्ययन पर आधारित है।

द्वितीय अध्याय : काशी का भौगोलिक स्वरूप एवं सीमा विस्तार

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत साहित्यिक परम्परा में काशी, नामकरण, भौगोलिक परिस्थिति एवं विस्तार का वर्णन किया गया है। वैदिक साहित्य के तीनों स्तरों–संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रन्थों, एवं बौद्ध ग्रन्थों में काशी का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों में काशी के सुप्रसिद्ध नामों के साथ महत्त्व का भी उल्लेख हुआ है। जातक ग्रन्थों में काशी के विविध नामों की चर्चा की गई है जिनमें **पुष्पवती, रम्यनगर, सुदर्शन, कासीपुर, बारानसी, ब्रह्मवर्धन, महाश्मशान एवं जित्त्वरी** आदि महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में काशी का उल्लेख तो हुआ है किन्तु भौगोलिक स्थिति, सीमा–विस्तार सम्बन्धी तथ्य स्पष्ट नहीं है। काशी के प्राकृतिक भूगोल के अन्तर्गत नदी, जलवायु, मिट्टी, वनस्पति, जीव–जन्तु, पर्वत, आदि का अध्ययन किया गया है। गंगा नदी के तट पर स्थित काशी में सन्निवेशित मानव सभ्यता का विकास हुआ, जिसकी निरन्तरता वर्तमान समय में भी बनी हुई है। इसके अतिरिक्त काशी–क्षेत्र में अन्य छोटी नदियों एवं जल स्रोतों का योगदान रहा है जिनमें वरुणा, असी, गोमती आदि उल्लेखनीय हैं। ह्वेनसांग ने यहाँ की जलवायु को समशीतोष्ण बताया है। मध्यगंगाघाटी में स्थित काशी में चिकनी, बलुई, दोमट एवं काली मिट्टी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, जिसके कारण यहाँ धान, गेहूँ, जौ,

चना, गन्ना, कपास आदि उन्नत किस्म की फसलें होती थी। प्राचीन काशी के समीपवर्ती क्षेत्रों के अन्तर्गत विन्ध्य एवं कैमूर पर्वत को भी सम्मिलित किया गया है। ये क्षेत्र धातु, खनिज, लकड़ी एवं पाषाण के मूल स्रोत हैं, जो वाराणसी नगर के आय के साधन थे।

काशी से प्राप्त विविध राजवंशों के अभिलेखों एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर काशी पर उनके आधिपत्य की पुष्टि होती है, साथ ही उनसे भौगोलिक स्थिति का संज्ञान भी हो जाता है। इस दृष्टि से काशी से प्राप्त कलचुरियों एवं गाहडवालों के अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें तीर्थ के रूप में काशी, गंगा नदी, वरुणा नदी, आदिकेशव घाट, कपालमोचन घाट आदि का वर्णन मिलता है। प्राकृतिक वनस्पतियों में आम, महुआ एवं अन्य *(समधूककाम्रवनवाटिका)* वृक्षों का उल्लेख लगभग सभी गाहडवाल ताम्रपत्रों में हुआ है। काशी क्षेत्र में स्थित 75 ग्रामों एवं 11 पत्तलाओं आदि का विवरण **चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150)** में प्राप्त होता है।

तृतीय अध्याय : काशी का राजनीतिक इतिहास एवं प्रशासनिक–व्यवस्था

प्रस्तुत अध्याय दो खण्डों में विभाजित है। जिसमें प्रथम खण्ड काशी के राजनीतिक इतिहास पर केन्द्रित है। शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण के आधार पर काशी के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ आर्यों के पूर्वी भारत के आगमन से निर्धारित किया जा सकता है। इसी आधार को लेकर हैवेल ने 'कासिस' नामक जनजाति से 'काशी' की उत्पत्ति को बताया है। बौद्ध–ग्रंथ ***अंगुत्तर निकाय*** एवं जैन–ग्रंथ ***भगवतीसूत्र*** में **षोडश महाजनपदों** जिनमें काशी राज्य एवं उसकी राजधानी वाराणसी भी सूचीबद्ध है, का उल्लेख मिलता है। मगध के अधीन रही काशी में हर्यंक वंश (बिम्बिसार, अजातशत्रु), का शासन था। इसके पश्चात् तृतीय शताब्दी ई0 पू0 में मौर्य सम्राट अशोक के शासनकाल में काशी की अवस्थिति का अनुमान **सारनाथ लघु शिलालेख** (राजाज्ञा), **अहरौरा लघु शिलालेख** एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होता है। इन अभिलेखों में अशोक को *प्रियदर्शी* और *राजा* की उपाधि से सम्बोधित किया गया है। प्रथम शती ई0 में काशी पर कुषाणों का आधिपत्य हुआ, जिसकी पुष्टि **कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्ति अभिलेख वर्ष–3**, से होती है। अभिलेख में कनिष्क को *महाराज* की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है, जो उसकी उच्च स्थिति का सूचक है। कुषाणों के पश्चात् गुप्त साम्राज्य में काशी की महत्ता बनी रही, जिसकी पुष्टि साहित्यिक विवरण के साथ–साथ आभिलेखिक साक्ष्य भी करते हैं। गुप्त शासकों के काशी–क्षेत्र से 8 अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें स्कन्दगुप्त का **भीतरी शिलालेख,** कुमारगुप्त तृतीय का **भीतरी से प्राप्त मुद्रालेख**, सारनाथ से प्राप्त **कुमारगुप्त** एवं **बुद्धगुप्त** का **बोधिसत्त्व प्रतिमा लेख** विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों में गुप्त शासकों को *परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर,* की संज्ञा दी गई है। पूर्व मध्यकाल में काशी में मौखरियों, पालों, कलचुरियों एवं गाहडवालों का शासन हुआ। मौखरि शासक **ईश्वरवर्मन का जौनपुर पाषाण अभिलेख, महीपाल का सारनाथ अभिलेख, कलचुरि शासक कर्ण का सारनाथ** एवं **बनारस दानपत्र अभिलेख** महत्त्वपूर्ण है, जिनसे तत्कालीन काशी में इन शासकों की उपस्थिति देखी जा सकती है। गाहडवाल शासकों में चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र और उसकी पत्नी कुमारदेवी, विजयचन्द्र, जयचन्द्र एवं हरिश्चन्द्र के अभिलेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें काशी के उल्लेख के साथ–साथ उनके राजनीतिक तथा व्यक्तिगत् उपलब्धियों का वर्णन हुआ है।

इस अध्याय का द्वितीय खण्ड काशी की **प्रशासनिक व्यवस्था** है, जिसके अन्तर्गत मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक काशी की प्रशासनिक–व्यवस्था का विवरण अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। काशी में प्रायः राजतन्त्रात्मक शासन–व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र के सप्तांग सिद्धान्त (**राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दंड** एवं **मित्र**) के अन्तर्गत काशी राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था संचालित होती रही होगी। इनमें **राजा** का अग्रिम स्थान था, राजा में ही सभी अधिकार एवं शक्तियाँ निहित होती थी। राजकार्य में राजा की सहायता हेतु **मंत्रिपरिषद्** की नियुक्ति की जाती थी। ये अन्य कार्यों में भी राजा की सहायता करते थे, जिसकी पुष्टि **सारनाथ लघुशिलालेख** में **महामात्र** शब्द से होती है, जो मौर्यकाल में धर्म से सम्बन्धित प्रशासनिक अधिकारी था। **राष्ट्र** (प्रशासनिक इकाई), **दुर्ग, कोष** (राजस्व–प्रशासन), **दंड** एवं **मित्र** शासन–व्यवस्था के अन्य सहायक अंग थे। गाहडवाल काल में सम्पूर्ण राज्य केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन–व्यवस्था द्वारा संचालित होता था, जिसके अन्तर्गत 17 प्रकार के उच्च राज्याधिकारियों का उल्लेख चन्द्रदेव के **चन्द्रावती ताम्रपत्र** (वि0सं0 1148) में हुआ है। इसके साथ ही गाहडवाल अभिलेखों में प्रशासनिक इकाईयों का उल्लेख मण्डल, विषय, पथक, पत्तला, ग्राम व पाटक के रूप में हुआ है। **कोष** की आपूर्ति का प्रमुख साधन *कर–व्यवस्था* थी। गाहडवाल अभिलेखों में विविध करों का उल्लेख हुआ है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। गुप्त, कलचुरि एवं गाहडवाल अभिलेखों में राजा को कुछ विशेष उपाधियों जैसे–परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, त्रियाधिपति, विद्याविचार वाचस्पति, क्षितिपाल, नरपति, गजपति एवं त्रिशंकुपति से सम्बोधित किया गया है। इनकी

आज्ञा सभी के लिए मान्य थी। मात्स्य–न्याय से बचने के लिए राजा **दण्ड** का विधान करता था। सप्तांग सिद्धान्तों में सबसे अन्तिम अंग **मित्र** है, जिसमें शासक अपने राज्य को स्थायी एवं शक्तिशाली बनाने हेतु चतुरुपाय एवं षाड्गुणों का विधान करता था। इस प्रकार का उदाहरण कलचुरि शासक **कर्ण के बनारस दानपत्र** में हुआ है, जिसमें कर्ण के वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख हूण राजकुमारी आवल्लदेवी के साथ हुआ है। गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र का विवाह राजकुमारी कुमारदेवी के साथ हुआ, जिसका विवरण **कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख** में है।

चतुर्थ अध्याय : काशी का सामाजिक जीवन

सामाजिक इतिहास देश में रहने वाले लोगों के सर्वांगीण–जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है तथा समस्त जन–समुदाय के विभिन्न क्रियाकलापों यथा**; वर्णाश्रम–व्यवस्था, परिवार, संस्कार, विवाह, स्त्रियों की दशा, खान–पान, वस्त्र–आभूषण एवं मनोरंजन के साधन** जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। इन्हीं अवयवों को दृष्टि में रखकर प्राचीन काशी के सामाजिक इतिहास का एक परिदृश्य अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक समाज के सभी अवयव वैदिक परम्परा के अनुरूप ही विद्यमान थे। कुछ परिवर्तनों के साथ इनका यथावत् रूप समाज में बना रहा। ***उत्तराध्ययन सूत्र*** में चारों वर्णों ब्राह्मण (बंभण), क्षत्रिय (खत्तिम), वैश्य (वइस्स) और शूद्र (सुद्द) का उल्लेख प्राप्त होता है। काशी से प्राप्त **कुषाणकालीन कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3,** में उपाध्याय (ब्राह्मण), आचार्य एवं चतुर्परिषदों (चार वर्णों) का उल्लेख हुआ है। गुप्तकालीन **स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख** से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त ने भीतरी में विष्णु की प्रतिमा स्थापित कराने के पश्चात् ग्राम दान दिया। ब्राह्मणों के प्रमुख 6 कर्त्तव्य थे– यज्ञ–याजन, अध्ययन–अध्यापन, दान एवं प्रतिग्रह। इन ब्राह्मणों के नाम के साथ वेद, शाखा, गोत्र एवं प्रवर का वर्णन हुआ है, जो उनके वैदिक ग्रन्थों में दक्षता का सूचक है। राष्ट्र एवं समाज की रक्षा का दायित्त्व क्षत्रिय वर्ग के ऊपर ही था, जिसे समाज में दूसरा स्थान प्राप्त था। **जयचन्द्रकालीन लाहडपुरा अभिलेख** में श्रेणी (निगम) के सदस्यों में साहूकार का उल्लेख हुआ है, जो निश्चित रूप से वैश्य वर्ग से सम्बन्धित रहा होगा। वैश्यों का प्रमुख कार्य व्यापार एवं वाणिज्य था। शूद्र वर्ण का उल्लेख क्रमशः अभिलेखों में लोहार, सुनार, सूत्रधार आदि के रूप में हुआ है। **आश्रम व्यवस्था** का परिपालन प्रारम्भ से ही काशी में होता रहा है जिसकी पुष्टि **अकथा** नामक पुरास्थल से अन्वेषित उत्तर–वैदिककालीन यज्ञ–हवन सम्बन्धी उपकरण करते हैं, इसकी निरन्तरता गाहडवाल काल तक बनी हुई थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के उल्लेख के साथ ही गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत विवाह, परिवार एवं अन्य संस्कारों का उल्लेख अभिलेखों में द्रष्टव्य है। **विवाह** संस्कार का उल्लेख **कुमारदेवी** के **सारनाथ प्रस्तर पट्ट अभिलेख** में हुआ है। इसमें गोविन्दचन्द्र एवं उसकी पत्नी कुमारदेवी की तुलना विष्णु और लक्ष्मी के समान की गई है, जो दाम्पत्य जीवन के प्रमुख उदाहरण माने जा सकते हैं। अभिलेखों में परिवार का उल्लेख हुआ है, जिसमें प्रपितामह, पितामह, पिता, माता, पुत्र एवं पुत्री का विशिष्ट स्थान था। अन्य संस्कारों के अन्तर्गत जातकर्म संस्कार का उल्लेख **जयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र** (वि0सं0 1232), नामकरण संस्कार का उल्लेख **सिहवर ताम्रपत्र** (वि0सं0 1232) एवं अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख **कर्ण के बनारस दानपत्र** (क0 सं0 793) में हुआ है, जिसे कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग में स्नान करके, शिव की आराधना के पश्चात् जारी किया था। स्त्री माता, पत्नी, एवं पुत्री के रूप में सदैव से ही आदृत रहीं हैं। काशी में स्त्रियों की दशा सम्मानजनक थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अभिलेखों में मिलता है। इन अभिलेखों से राजनीतिक, साम्पत्तिक एवं शिक्षा विषयक अधिकारों से स्त्रियों के विशेषाधिकारों को पुष्ट किया जा सकता है। खान–पान, वस्त्र–आभूषण एवं मनोरंजन के साधन आदि का विवरण राजघाट से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों, जातक ग्रन्थों, एवं ***उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण*** से भी मिलता है। लोग मांसाहार का भी सेवन करते थे, जिसकी पुष्टि गाहडवाल ताम्रपत्रों में समत्स्याकरः शब्द से होती है। वस्त्राभूषण के अन्तर्गत धोती, कुर्ता, पगड़ी और बनारसी वस्त्र के साथ कर्णफूल, नुपूर, कंठहार, मणिबन्ध, भुजबन्ध आदि महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य–प्रसाधन के स्रोत थे।

पंचम् अध्याय : काशी का आर्थिक परिदृश्य

प्राचीन काशी की आर्थिक समृद्धि के प्रमुख अवयवों में **कृषि, पशुपालन, व्यापार–वाणिज्य, उद्योग–धंधे एवं कराधान–प्रणाली** का विकास निरन्तर रूप से हुआ। मध्य गंगा घाटी में बसे होने के कारण यहाँ उन्नत किस्म की फसलें होती थी एवं प्रचुर मात्रा में खाद्यान प्राप्त होता था। प्राकृतिक वनस्पतियों में आम, महुआ *(समधूककाम्रवनवाटिका)* आदि वृक्षों का उल्लेख लगभग सभी गाहडवाल ताम्रपत्रों में मिलता है। पशुपालन अर्थव्यवस्था का दूसरा प्रमुख आधार था। गाहडवालकालीन अभिलेखों में सहस्रों गायों को *(गोसहस्रमहादान)* दान में देने का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन समय से ही गाय का आर्थिक महत्त्व

था। काशी में विशेष रूप से उद्योग–धन्धें एवं व्यापार–वाणिज्य की उन्नति हुई, जिसकी पुष्टि साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है। वस्त्र उद्योग, चन्दन उद्योग, शिल्प उद्योग एवं बढ़ईगिरी प्रमुख उद्योग थे। काशी में इस प्रकार के उदाहरण सारनाथ, राजघाट, अकथा की खुदाई से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य करते हैं। संभवतः इन व्यवसायों एवं उद्योगों का संचालन श्रेणियाँ करती थीं। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वाराणसी में श्रेष्ठि एवं सार्थवाहों के समूह विद्यमान थे, जो व्यापार करने के लिए प्रसिद्ध थे। ***बावेरू जातक*** में वाराणसी के कुछ वणिक वर्गों का दिशाकाक लेकर जहाज से बावेरू (बेबिलोन) राष्ट्र जाने का विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त जातकों से यह विदित होता है कि काशी (वाराणसी) के नाविक गंगा नदी में नाव चलाकर एवं मत्स्य पालन के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे, जिसकी निरन्तरता वर्तमान में भी बनी हुई है।

काशी से प्राप्त विविध राजवंशों के लेखों में उल्लिखित दान करने की प्रक्रिया शासकों की आर्थिक नीतियों को स्पष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त काशी में जिन राजवंशों ने अनेक स्मारकों एवं मंदिरों का निर्माण करवाया, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अर्थ–व्यवस्था में अपना सहयोग दिया।

कर–व्यवस्था का काशी के आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसका उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में विशेष रूप से हुआ है। इनमें भाग, भोगकर, हिरण्य, प्रवणिकर, तुरुष्कदण्ड, कुमारगादिआणक, कूटक, यमलिकाम्बलि, जलकर, गोकर, लवणकर, विषयदान, पर्णकर, दशबन्ध, अक्षपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विशतिअठप्रस्थ, वलदी, निधि–निक्षेप, आकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

षष्ठ अध्याय : काशी का धार्मिक परिदृश्य

विश्व स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक नगरों का उदय एवं उनका पतन हुआ किन्तु काशी सतत् विकासमान रही और इसका धार्मिक–आध्यात्मिक स्वरूप गतिमान रहा। काशी विविध मतावलम्बियों की साधना–स्थली रही है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह विदित होता है कि काशी में सनातन धर्म के विविध सम्प्रदायों यथा; शैव, वैष्णव और शाक्त धर्म के साथ जैन एवं बौद्ध धर्म का भी प्रभाव रहा। प्रस्तुत अध्याय में आभिलेखिक स्रोतों के माध्यम से काशी में धार्मिक परिदृश्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

इस क्रम में शैव–सम्प्रदाय से सम्बन्धित अभिलेख काशी में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं, जिसमें प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य कुषाणकालीन बभनियांव से प्राप्त अभिलेख है। अभिलेख पर उत्कीर्ण दो पंक्तियों में भगवान शिव के सम्मान में पुण्यवृद्धि हेतु दान का उल्लेख है। इस अभिलेख के प्राप्त होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शैव धर्म का काशी में अस्तित्व था। बौद्ध साहित्य ***महामयूरी*** नामक ग्रन्थ में वाराणसी के प्रधान यक्ष को **महाकाल** सम्बोधित किया गया है, जो शिव का अन्य नाम है। काशी में गुप्त शासकों का काल पौराणिक धर्म एवं उससे सम्बन्धित देवी–देवताओं के पुनर्स्थापना का काल था। काशी का एक अन्य नाम **'अविमुक्त'** भी है। **अविमुक्तेश्वर** नाम की मृण्मुहरें काशी के राजघाट से प्राप्त हुई हैं, जो भाषा एवं लिपि के आधार पर गुप्तकाल की मानी जाती हैं। ह्वेनसांग ने वाराणसी में शैव सम्प्रदाय की विशेष रूप से चर्चा की है। आठवीं सदी का सारनाथ से प्राप्त पंथ के लेख से यह सूचना प्राप्त होती है कि वह प्रतिदिन शिव की पूजा करते थे। कलचुरि शासक कर्ण के बनारस दानपत्र का प्रारम्भ ही शिव की स्तुति **(ओं नमः शिवाय।। निर्गुणं व्यापकं शिवं परमकारणं)** से होता है। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में उन्हें **'परममाहेश्वर'** सम्बोधित किया गया है। **कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख** में हर एवं हरि का उल्लेख हुआ है। काशी में शैव सम्प्रदाय के साथ–साथ वैष्णव सम्प्रदाय के भी अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। इस क्रम में **स्कन्दगुप्त का भीतरी शिलालेख** महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भीतरी ग्राम में विष्णु मंदिर बनवानें का उल्लेख है। वैष्णव अवतारवाद सिद्धान्त का प्रभाव काशी में था, जिसे साहित्य एवं पुरातत्त्व के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। भारत कला भवन संग्रहालय में संरक्षित गुप्तकालीन गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सातवीं शताब्दी ई0 के **प्रकटादित्य के सारनाथ लेख** में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष) नामक मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में विशेष रूप से वैष्णव सम्प्रदाय की चर्चा की गई है। अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाहडवाल शासकों का झुकाव वैष्णव सम्प्रदाय की ओर विशेष रूप से था। विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा करने का विधान **चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र** (वि0 स0 1150) से ज्ञात होता है। गाहडवाल ताम्रपत्रों में संलग्न मुहर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें मानवरूपी गरूड़ का अंकन है, जिसे वैष्णव धर्म के साथ सम्बद्ध किया जाता है। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित काशी में गाहडवाल शासकों द्वारा आदिकेशव मंदिर एवं इन्द्रमाधव मंदिर बनवाने का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150) से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी में गंगा एवं वरुणा के संगम पर आदिकेशव मंदिर के निर्माण हेतु चंद्रदेव के द्वारा अपने वजन के बराबर सोना, चाँदी और अमूल्य रत्न, एक हज़ार गाय एवं 500 ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से 32 ग्राम दिए गए। कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में

गोविन्दचन्द्र को विष्णु का अवतार सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त काशी में शाक्त, गणेश, सूर्य, गंगा आदि की उपासना की जाती थी, जिसके प्रत्यक्ष अभिलेखीय प्रमाण गाहडवालकालीन अभिलेख हैं।

इसी क्रम में काशी में जैन धर्म की भी उपस्थिति देखी जा सकती है। काशी में जैन धर्म का भी प्रभाव रहा। जैन धर्म के प्रमुख तीर्थंकरों यथा; सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस एवं पार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ था। संभवतः उनकी शिक्षाओं का प्रचार–प्रसार काशी से ही हुआ होगा। राजघाट से प्राप्त ऋषभदेव नाम के एक व्यक्ति की मुद्रा से यह ज्ञात होता है कि काशी में जैन धर्मानुयायी विद्यमान थे।

सारनाथ में बौद्ध धर्म की उन्नति विशेष रूप से हुई, जिसकी पुष्टि मौर्यकाल से लेकर गाहडवाल काल तक के अभिलेखों से होती है। मौर्यकाल में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित सारनाथ लघु स्तम्भ लेख एवं अहरौरा लघु शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं, जिसमें बौद्ध संघ का उल्लेख हुआ है। सारनाथ से प्राप्त कनिष्ककालीन बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3 में भिक्षु बल के द्वारा बोधिसत्त्व की प्रतिमा निर्मित कराने का उल्लेख मिलता है। सारनाथ एवं राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन अभिलेखों से बौद्ध धर्म विषयक सूचना प्राप्त होती है। कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ बुद्ध–प्रतिमा लेख (गु0सं0 157) में बुद्ध को शास्ता सम्बोधित किया गया है। अप्रतिम गुणों से युक्त भगवान बुद्ध की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख इसी अभिलेख में हुआ है। परवर्ती गुप्त शासक बुद्धगुप्त का गु0सं0 159 का अभिलेख राजघाट से प्राप्त हुआ है, जिस पर महाराजाधिराज बुद्धगुप्त नाम अंकित है। इस अभिलेख को भिक्षु अभयमित्र ने प्रतिष्ठापित करवाया। पालवंशीय शासक महीपाल के सारनाथ अभिलेख में धर्मराजिका स्तूप के मरम्मत का उल्लेख हुआ है। गाहडवालों के शासनकाल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल में वैदिक धर्म का प्रभाव विशेष रूप से था किन्तु गोविन्दचन्द्र का संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर बौद्ध धर्म के प्रति उदार था। उसके ग्रंथ कृत्यकल्पतरू में यह उल्लेख है कि विहार का निर्माण करवाना पुण्य का कर्म था। इसी क्रम में गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है। कुमारदेवी बौद्ध धर्म के वज्रयान शाखा की अनुयायी थी। लेख से यह ज्ञात होता है कि जम्बुकी पत्तला के लोगों के आग्रह पर कुमारदेवी ने धर्मचक्रजिन विहार की मरम्मत करवाई। उसने भारत का सर्वश्रेष्ठ विहार निर्मित करवाया। अभिलेख में बौद्ध धर्म के वज्रयानी शाखा की देवी वसुधरा की अलंकृत शैली में **(ओं नमो भगवत्यै आर्यवसुधारावै।। समवतु वसुधारा धर्मपीयूषधारा प्रशमितबहुविश्वोद्दामदुः खोरुधारा। धनकनकसमृद्धिं भूर्भुवः श्वः किरन्ती तदखिलजनदैन्याजयन्ती जगन्ति।।)** स्तुति की गई है।

अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि काशी में विविध धर्म–सम्प्रदायों की उन्नति हुई, जिसमें प्रमुख रूप से ब्राह्मण धर्म की प्रमुखता द्रष्टव्य होती है।

सप्तम् अध्याय : काशी की शैक्षणिक व्यवस्था

इस अध्याय में काशी से 46 की संख्या में प्राप्त अभिलेखों एवं तत्कालीन् साहित्यिक विवरणों का अध्ययन कर काशी के शैक्षणिक–व्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इन अभिलेखों में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से सम्बन्धित विषयों के उल्लेख के साथ–साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिक्षाओं का भी उल्लेख हुआ है। काशी उत्तर–वैदिक काल से ही वैदिक शिक्षा–पद्धति का केन्द्र रही है, जिसका प्रत्यक्ष साहित्यिक प्रमाण बृहद्ारण्यक उपनिषद् में वर्णित् काशी नरेश अजातशत्रु एवं गार्ग्य बालाकि का संवाद है। अभिलेखों में विशेष रूप से **कुषाणकालीन सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3, गुप्तकालीन राजघाट से प्राप्त मुहरें, कलचुरि शासक कर्ण का बनारस दानपत्र अभिलेख** (क0सं0 793), और **गाहडवालकालीन 35 ताम्रपत्र** विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनसे काशी में वैदिक अध्ययन–अध्यापन की पुष्टि होती है। कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3 में निहित कुछ शब्द जैसे– त्रिपिटकाचार्या (त्रिपिटक की आचार्या), उपाध्याय, आचार्य आदि शिक्षा–व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। गुप्तकालीन राजघाट से प्राप्त मुहरें जिनमें बह्वृच (ऋग्वेद), अध्वर्यु (यजुर्वेद), छान्दोग्य चरक (सामवेद), श्रीसारस्वतस्य एवं श्रीचातुर्वेदय अंकित मुहरें वैदिक शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित होती हैं। कर्ण के बनारस दानपत्र में यह उल्लेख है कि आमह के प्रपौत्र वामन के पौत्र नारायण के पुत्र औदालक दैवरात्र और विश्वामित्र प्रवर वाले कौत्सगोत्रिय वेसालवासी ब्राह्मण **विश्वरूप** को काशी में श्रुसी (वर्तमान सुरसी, कछवाँ बाजार) ग्राम दान में दिया गया। इसी क्रम में गाहडवाल शासकों के अभिलेख हैं, जो अधिकांशतः वैदिक ब्राह्मणों को दिए हुए ज्ञात होते हैं। इनके शासनकाल में ही काशी का अत्यधिक शैक्षिक–संवर्धन हुआ। इस संदर्भ में चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150) में 500 ब्राह्मणों को दान देने का विवरण है। अभिलेख में यह उल्लेख है कि वेदों के अध्येता इसका अध्ययन करके उल्लासपूर्वक वैदिक यज्ञ करते थे। **दयाराम साहनी** ने इस अभिलेख में 495 ब्राह्मणों का नाम, गोत्र एवं प्रवर के साथ सूचीबद्ध किया है। इसमें जाट नामक ब्राह्मण को 'श्री ऋग्वेद चरणे चतुर्वेदिन', वील्ह को 'श्री यजुर्वेदचरणे चतुर्वेदिन', छीहिल को 'अथर्ववेद चरणे चतुर्वेदिन' तथा देदिग नामक ब्राह्मण को 'छान्दोग्य चरणे त्रिपाठिन' कहा गया। अभिलेखों में ऋग्वेद के चतुर्वेदियों की संख्या 125, यजुर्वेद के चतुर्वेदियों

की संख्या 95, अथर्ववेद के द्विवेदियों की संख्या 198 एवं श्री छान्दोग्य चरण के त्रिपाठियों की संख्या 74 है। लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मणों का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे वेद, स्मृति एवं सदाचार का अध्ययन करें। इस प्रकार के उद्धरण लगभग सभी ताम्रपत्रों में दिखाई देते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि काशी प्रारम्भिक अवस्था से ही वैदिक शिक्षा का केन्द्र रही है। इसके साथ बौद्धधर्म की शिक्षाएँ भी काशी में प्रचलित थीं। इसके उदाहरण के रूप में हमारे सम्मुख सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन कनिष्क का सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्त्ति लेख, सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन पालि भाषा में प्राप्त अभिलेख, कलचुरि शासक **कर्ण का सारनाथ अभिलेख** (810 कलचुरि संवत्) एवं कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्ति लेख में कुछ शब्द जैसे–उपाध्याय, आचार्य, अंतेवासी त्रिपिटकाचार्या यह दर्शाते हैं कि वैदिक परिपाटी एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित आचार्य काशी में विद्यमान थे। कुषाणकालीन पालि भाषा में प्राप्त अभिलेख में चार आर्य सत्यों का उल्लेख हुआ है, जो महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से सम्बन्धित है। कलचुरि शासक कर्ण के सारनाथ अभिलेख में धनेश्वर की पत्नी मामका को महायान सम्प्रदाय की परम–उपासिका कहा गया है। उसने ***अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता*** की प्रतिलिपि कराई और भिक्षुओं को दान दिया। इसी क्रम में गाहडवालकालीन कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में कुमारदेवी के द्वारा बौद्ध विहार का निर्माण एवं धर्मचक्रजिन बुद्ध की प्रतिमा का पुनर्संस्कार करवाने का उल्लेख है। बौद्ध विहारों में भिक्षु–भिक्षुणी अध्ययन–अध्यापन का कार्य करते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि काशी में वैदिक अध्ययन–अध्यापन के समान ही बौद्ध–धर्म का भी प्रचार–प्रसार हुआ।

शोध–प्रबन्ध से सम्बन्धित उपसंहार नामक अंतिम शीर्षक में समस्त अध्यायों का समाहार प्रस्तुत किया गया है।

संक्षिप्तियाँ

अभि॰सं॰	:	अभिलेख संख्या
अनु॰	:	अनुवाद, अनुवादक
ई॰	:	ईस्वी
ई॰पू॰	:	ईसा पूर्व
इ॰ हि॰ क्वा॰	:	इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली
एपि॰इंडि॰	:	एपिग्राफिया इण्डिका
ऐत॰ब्रा॰	:	ऐतरेय ब्राह्मण
कॉ॰इं॰इं॰	:	कॉपर्स इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्
कौ॰अ॰	:	कौटिलीय अर्थशास्त्रम्
गु॰सं॰	:	गुप्त संवत्
ज॰ ए॰ सो॰ इ॰	:	जर्नल ऑफ दी एपिग्राफिकल सोसाइटी ऑफ इण्डिया
ज॰ बि॰ उ॰ रि॰ सो॰	:	जर्नल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
ज॰ रा॰ ए॰ सो॰	:	जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
प्रा॰भा॰अ॰सं॰	:	प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह
मा॰सं॰	:	मालव संवत्
संपा॰	:	संपादक

भूमिका

भूमिका

भारतीय सभ्यता में समन्वय की भावना स्थापित करने में काशी का बहुत बड़ा योगदान रहा है, संभवतः इसी कारण लोगों का काशी के प्रति इतना आकर्षण है। जहाँ देश के अन्य नगर समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी मूलधारा का परित्याग करते रहे, वहीं काशी ने परिवर्तनों एवं समन्वय के साथ अपनी सांस्कृतिक विरासत का अस्तित्व बनाये रखा। अमेरिकी साहित्यकार **मार्क ट्वेन** ने अपनी यात्रा-वृत्तान्त ***'फॉलोविंग द इक्वेटर'*** में काशी को इतिहास, परम्परा एवं दन्तकथाओं से भी दोगुना प्राचीन बताया है। इतना ही नहीं इस वृत्तान्त के चार अध्याय काशी (वाराणसी) को ही समर्पित हैं। हिन्दू-धर्म और संस्कृति की शिक्षा-पद्धति को देखकर उन्होंने काशी को **'ऑक्सफोर्ड ऑफ इण्डिया'** की संज्ञा दी है। साहित्यिक परम्परा के अनुसार काशी की प्राचीनता उत्तर-वैदिक काल (अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा) तक जाती है किन्तु आभिलेखिक स्रोत तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व (मौर्यकाल) से प्राप्त होते हैं।

जातक ग्रन्थों के अनुसार काशी तीन सौ योजन तक विस्तृत थी, जिसके उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स तथा दक्षिण में विन्ध्य-पर्वत था। यदि आभिलेखिक साक्ष्यों की बात की जाए तो इसका विस्तार **गाज़ीपुर** (स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ अभिलेख), **जौनपुर** (हरिश्चन्द्र का मछलीशहर ताम्रपत्र अभिलेख), **मिर्ज़ापुर** (अशोककालीन अहरौरा लघु शिलालेख, हरिश्चन्द्रकालीन बेलखरा अभिलेख), **चन्दौली** (प्रहलादपुर तिथिविहीन स्तम्भ अभिलेख) एवं बिहार के **भभुआ** (नायक अंगसिंह का सिलसिला अभिलेख) के अधिकांश भू-भाग तक था। इन सभी अभिलेखों का काशी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रहा है। वर्तमान समय में मध्य-गांगेय क्षेत्र में अवस्थित काशी का विस्तार लगभग 1535 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में है। **प्रो0 विदुला जायसवाल** के अनुसार वाराणसी नगर की परिधि के बाहर का सीमान्त-क्षेत्र जहाँ छोटे एवं बड़े गाँव स्थित थे तथा दूरस्थ ऐसे भाग जो निरन्तर वाराणसी से जुड़े हुए थे, उन्हें

'काशी-क्षेत्र' के अन्तर्गत सीमांकित किया गया है। इन क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों को अध्ययन का आधार बनाकर काशी के इतिहास पर कार्य किया गया है। संयोग से विगत् वर्षों में काशी क्षेत्र से कुछ नवीन अभिलेखों की प्राप्ति हुई है, जो इतिहास-लेखन के तथ्यों की पुष्टि में सहायक प्रतीत होते हैं। आभिलेखिक साक्ष्य साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक दोनों साक्ष्यों का समन्वित सेतु होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणिक कहे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में तृतीय शताब्दी ई0पू0 से लेकर बारहवीं शती ई0 तक जिन राजवंशों ने काशी पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन किया, उनके काल का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इन्हीं के आलोक में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध विश्लेषित है।

पूर्ववर्ती कार्य

काशी के विविध पक्षों पर अब तक अनेक कार्य हुए हैं। इनमें सर्वप्रथम उन पुस्तकों की चर्चा की जा रही है जो विशेष रूप से काशी (वाराणसी) पर केन्द्रित हैं, इनमें ई0बी0 हैवेल कृत *बनारसः द सैक्रेड सिटी (1905),* ए0 एस0 अल्तेकर कृत *हिस्ट्री ऑफ बनारस (1937),* आर0 एल0 सिंह कृत *बनारसः द स्टडी ऑफ अर्बन जियोग्राफी (1955),* ई0 वी0 जोशी कृत *वाराणसी, उत्तर-प्रदेश गजेटियर (1965),* भिक्षु धर्मरक्षित कृत *सारनाथ का इतिहास (1969),* पं0 कुबेरनाथ सुकुल कृत *वाराणसी वैभव (1977),* उमा पाण्डेय कृत *वाराणसी- भारत का सांस्कृतिक केन्द्र (1980),* वासुदेव शरण अग्रवाल कृत *वाराणसी सील्स एण्ड सीलिंग्स (1984),* वीरेन्द्र प्रताप सिंह कृत *लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसीः एन अकाउण्ट बेस्ड ऑन द ऑर्कियोलॉजिकल एविडेन्स (1985),* मोतीचन्द्र कृत *काशी का इतिहास (1985),* ईश्वरशरण विश्वकर्मा कृत *काशी का ऐतिहासिक भूगोल (1987),* करुणापति त्रिपाठी कृत *काशीखण्ड- भाग-2 (1992),* विदुला जायसवाल कृत *एन्शियेन्ट वाराणसी एन आर्कियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव (2009)* एवं *आदि काशी से वाराणसी तक (2011)* आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

अभिलेखों से सम्बन्धित काशी के इतिहास लेखन में सहायक पुस्तकों में प्रमुख रूप से रोमा नियोगी कृत *हिस्ट्री ऑफ गाहडवाल डायनेस्टी (1959),* हेमचन्द्र राय चौधरी कृत *प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास (1971),* विशुद्धानन्द पाठक कृत *उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास (1973),* गिरिजाशंकर मिश्र द्वारा हिन्दी में अनुवादित *प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड-3 (1974),* श्रीराम गोयल कृत *प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड-1 (1982),* प्रशान्त कश्यप कृत *गाहडवालों का इतिहास (2006),* परमेश्वरी लाल गुप्त कृत *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (दो खण्डों में विभाजित, 2008),* टी0पी0 वर्मा एण्ड ए0के0 सिंह कृत *इन्स्क्रिप्शंस ऑफ गाहडवालाज एण्ड देयर टाइम्स (दो खण्डों में विभाजित 2011),* ऐ0 के0 दुबे कृत कल्चर अण्डर द गाहडवालाज एन एपिग्राफिकल स्टडी (2011), प्रियंका सिंह कृत *प्राचीन भारत में भूमिदान (2011*) आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

काशी से सम्बन्धित विभिन्न-पत्रिकाएँ जैसे-उत्तर-प्रदेश का *काशी अंक (1984),* भारतीय इतिहास संकलन समिति पत्रिका में *युग-युगों में काशी अंक (1986),* सन्मार्ग का *काशी विशेषांक (1986),* ओम प्रकाश केजरीवाल द्वारा संपादित *काशी नगरी एक : रूप अनेक (2010)* आदि उल्लेखनीय हैं।

शोध विषय की दृष्टि से *एपीग्राफिया इण्डिका, इण्डियन एण्टीक्वेरी, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वाटर्ली* एवं *जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया* आदि पत्रिकायें भी महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें समय-समय पर काशी से सम्बन्धित अनेक अभिलेख प्रकाशित होते रहे हैं।

शोध का उद्देश्य एवं सीमा विस्तार

उपर्युक्त सभी ग्रन्थ स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु इन ग्रन्थों में किसी का भी उद्देश्य अभिलेखों के आधार पर काशी की ऐतिहासिकता एवं संस्कृति को प्रस्तुत करना

नहीं है। अभिलेखों को केन्द्रित करते हुए काशी पर स्वतन्त्र एवं विस्तृत कार्य का अभाव है, अतः मेरे शोध-विषय का उद्देश्य ऐतिहासिक कालक्रमानुसार अभिलेखों को आधार बनाकर काशी के भौगोलिक, राजनीतिक-प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं शिक्षा-विषयक परिदृश्य की यथार्थ वस्तु-स्थिति को प्रकट करने का यथा-सम्भव प्रयत्न है। चूँकि अध्ययन की सीमा सम्पूर्ण प्राचीन काल है, अतः भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक कालों में काशी के महत्त्व को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

शोध-प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन हेतु मुख्यतः ऐतिहासिक शोध-प्रविधि का अनुसरण किया गया है। अध्ययन के मुख्य स्रोत तो काशी से प्राप्त अभिलेख हैं परन्तु इनमें प्राप्त तथ्यों एवं संदर्भों की पुष्टि के लिए साहित्यिक, मौद्रिक व अन्य समकालीन साक्ष्यों से यथासंभव सहायता ली गई है। शोध-प्रबन्ध के उद्देश्य की प्रतिपूर्ति हेतु विभिन्न पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों का भ्रमण कर अध्ययन का कार्य किया गया है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को भूमिका एवं उपसंहार के अतिरिक्त कुल सात अध्यायों में विभक्त किया गया है-

उपर्युक्त विवरण भूमिका का ही संक्षिप्त रूप है।

प्रथम अध्याय : काशी के अभिलेखों की विवेचना

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत काशी से प्राप्त अभिलेखों का वर्गीकरण, प्राप्ति स्थल, लेखन हेतु प्रयुक्त उपादान, लिपि, भाषा, संवत् एवं विषयवस्तु आदि महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। काशी-क्षेत्र से प्राप्त 75 अभिलेखों का क्रमागत् अध्ययन करते हुए इन अभिलेखों को ताम्रपत्र (कुल संख्या 46), पाषाण (कुल संख्या 19), स्तम्भ (कुल संख्या 06) एवं मूर्त्ति लेख (कुल संख्या 04) में विभाजित किया गया है। अभिलेखों में प्राकृत, प्राकृत मिश्रित संस्कृत एवं संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ

है, जिसकी लिपि मौर्यकालीन ब्राह्मी से विकसित होते हुए नागरी तक है। तिथ्यांकन के लिए विशेष रूप से विक्रम संवत्, शक संवत्, गुप्त संवत् एवं कलचुरि संवत् प्रयुक्त हुआ है। अभिलेखों में प्राप्ति स्थल, (वर्तमान समय में संरक्षित), शासक, दान देने का अवसर, धर्म, दानग्रहीता ब्राह्मण (उसकी वंशावली के साथ), उत्त्कीर्णक एवं लेखक के नाम आदि सम्मिलित हैं।

काशी से प्राप्त अभिलेखों में प्रस्तर एवं ताम्रपत्रों का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। सम्राट अशोक ने अपने राजकीय आदेशों को चिरकाल तक स्थायी रखने के लिए प्रस्तर पर खुदवाया, जिसकी पुष्टि उसके दूसरे स्तम्भ लेख से होती है। अभिलेखन कार्य हेतु स्तम्भों, पट्टिकाओं, मूर्ति का आसन, मंदिर की दीवारों आदि में प्रस्तर का उपयोग हुआ है। कालान्तर में धातु की सुलभता के कारण दान में दी गयी भूमि, ग्राम व आवास के एक पंजीकरण पत्र के रूप में ताम्रपत्रों का भी प्रयोग लेखन हेतु अधिकता से हुआ है। इस प्रकार यह अध्याय काशी से प्राप्त अभिलेखों के परिचयात्मक अध्ययन पर आधारित है।

द्वितीय अध्याय : काशी का भौगोलिक स्वरूप एवं सीमा विस्तार

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत साहित्यिक परम्परा में काशी, नामकरण, भौगोलिक परिस्थिति एवं विस्तार का वर्णन किया गया है, जो मुख्य रूप से साहित्य, विदेशी विवरण एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों पर आधारित है। वैदिक साहित्य के तीनों स्तरों-संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रन्थों, एवं बौद्ध ग्रन्थों में काशी का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों में काशी के सुप्रसिद्ध नामों के साथ महत्त्व का भी उल्लेख हुआ है। जातक ग्रन्थों में काशी के विविध नामों की चर्चा की गई है जिनमें पुष्पवती, रम्यनगर, सुदर्शन, कासीपुर, बारानसी, ब्रह्मवर्धन, महाश्मशान एवं जित्त्वरी आदि महत्त्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में काशी का उल्लेख तो हुआ है किन्तु भौगोलिक स्थिति, सीमा-विस्तार सम्बन्धी तथ्य स्पष्ट नहीं है। काशी के प्राकृतिक भूगोल के अन्तर्गत नदी, जलवायु, मिट्टी, वनस्पति, जीव-जन्तु, पर्वत, आदि का अध्ययन किया गया है। गंगा नदी के तट

पर स्थित काशी में सन्निवेशित मानव सभ्यता का विकास हुआ, जिसकी निरन्तरता वर्तमान समय में भी बनी हुई है। इसके अतिरिक्त काशी-क्षेत्र में अन्य छोटी नदियों एवं जल स्रोतों का योगदान रहा है जिनमें वरुणा, असी, गोमती आदि उल्लेखनीय हैं। ह्वेनसांग ने यहाँ की जलवायु को समशीतोष्ण बताया है। मध्यगंगाघाटी में स्थित काशी में चिकनी, बलुई, दोमट एवं काली मिट्टी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, जिसके कारण यहाँ धान, गेहूँ, जौ, चना, गन्ना, कपास आदि उन्नत किस्म की फसलें होती थी। प्राचीन काशी के समीपवर्ती क्षेत्रों के अन्तर्गत विन्ध्य एवं कैमूर पर्वत को भी सम्मिलित किया गया है। ये क्षेत्र धातु, खनिज, लकड़ी एवं पाषाण के मूल स्रोत हैं, जो वाराणसी नगर के आय के साधन थे।

काशी से प्राप्त विविध राजवंशों के अभिलेखों एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर काशी पर उनके आधिपत्य की पुष्टि होती है, साथ ही उनसे भौगोलिक स्थिति का संज्ञान भी हो जाता है। इस दृष्टि से काशी से प्राप्त कलचुरियों एवं गाहडवालों के अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें तीर्थ के रूप में काशी, गंगा नदी, वरुणा नदी, आदिकेशव घाट, कपालमोचन घाट आदि का वर्णन मिलता है। प्राकृतिक वनस्पतियों में आम, महुआ एवं अन्य (समधूककाम्रवनवाटिका) वृक्षों का उल्लेख लगभग सभी गाहडवाल ताम्रपत्रों में हुआ है। काशी क्षेत्र में स्थित 75 ग्रामों एवं 11 पत्तलाओं आदि का विवरण चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150) में प्राप्त होता है।

तृतीय अध्याय : काशी का राजनीतिक इतिहास एवं प्रशासनिक-व्यवस्था

प्रस्तुत अध्याय दो खण्डों में विभाजित है। जिसमें प्रथम खण्ड काशी के राजनीतिक इतिहास पर केन्द्रित है। शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण के आधार पर काशी के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ आर्यों के पूर्वी भारत के आगमन से निर्धारित किया जा सकता है। इसी आधार को लेकर हैवेल ने 'कासिस' नामक जनजाति से 'काशी' की उत्पत्ति को बताया है। उनका कथन है कि यह जनजाति गंगा की पूर्वी घाटी की ओर स्थानान्तरित हुई और आधुनिक वाराणसी नगर के आस-पास के क्षेत्रों में आकर बस गई।

काशी की राजधानी के रूप में वाराणसी को लगभग छठीं शताब्दी ई0 पू0 में ख्याति प्राप्त हुई। बौद्ध-ग्रंथ अंगुत्तर निकाय एवं जैन-ग्रंथ भगवतीसूत्र में षोडश महाजनपदों जिनमें काशी राज्य एवं उसकी राजधानी वाराणसी भी सूचीबद्ध है, का उल्लेख मिलता है। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख अनेक जातक कथाओं से ज्ञात होता है। कुछ जातक कथाओं का प्रारम्भ ही 'अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्ज कारेन्ते' पंक्ति से होता है। मगध के अधीन रही काशी में हर्यंक वंश (बिम्बिसार, अजातशत्रु), का शासन था। इसके पश्चात् तृतीय शताब्दी ई0 पू0 में मौर्य सम्राट अशोक के शासनकाल में काशी की अवस्थिति का अनुमान सारनाथ लघु शिलालेख (राजाज्ञा), अहरौरा लघु शिलालेख एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होता है। इन अभिलेखों में अशोक को प्रियदर्शी और राजा की उपाधि से सम्बोधित किया गया है। प्रथम शती ई0 में काशी पर कुषाणों का आधिपत्य हुआ, जिसकी पुष्टि कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्त्ति अभिलेख वर्ष-3, से होती है। अभिलेख में कनिष्क को महाराज की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है, जो उसकी उच्च स्थिति का सूचक है। हाल ही में बभनियाव (वाराणसी शहर से 25 किमी दूर दक्षिण-पश्चिम में गंगा नदी के सहायक एवं विलुप्त हो चुके प्राचीन प्रवाह पथ पर स्थित) ग्राम से कुषाणकालीन अभिलेख की प्राप्ति हुई है, जिसकी तिथि 45 शक संवत् है। कुषाणों के पश्चात् गुप्त साम्राज्य में काशी की महत्ता बनी रही, जिसकी पुष्टि साहित्यिक विवरण के साथ-साथ आभिलेखिक साक्ष्य भी करते हैं। गुप्त शासकों के काशी-क्षेत्र से 8 अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें स्कन्दगुप्त का भीतरी शिलालेख, कुमारगुप्त तृतीय का भीतरी से प्राप्त मुद्रालेख, सारनाथ से प्राप्त कुमारगुप्त एवं बुद्धगुप्त का बोधिसत्त्व प्रतिमा लेख विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों में गुप्त शासकों को परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, की संज्ञा दी गई है। पूर्व मध्यकाल में काशी में मौखरियों, पालों, कलचुरियों एवं गाहडवालों का शासन हुआ। मौखरि शासक ईश्वरवर्मन का जौनपुर पाषाण अभिलेख, महीपाल का सारनाथ अभिलेख, कलचुरि शासक कर्ण का सारनाथ एवं बनारस दानपत्र अभिलेख महत्त्वपूर्ण है, जिनसे तत्कालीन काशी में इन शासकों की उपस्थिति देखी जा सकती है। गाहडवाल शासकों में चन्द्रदेव, मदनपाल,

गोविन्दचन्द्र और उसकी पत्नी कुमारदेवी, विजयचन्द्र, जयचन्द्र एवं हरिश्चन्द्र के अभिलेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें काशी के उल्लेख के साथ-साथ उनके राजनीतिक तथा व्यक्तिगत् उपलब्धियों का वर्णन हुआ है। काशी को प्रमुख रूप से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रसिद्धि गाहडवालों के काल में मिली, जिसे ताम्रपत्रों में देखा जा सकता है।

इस अध्याय का द्वितीय खण्ड काशी की प्रशासनिक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक काशी की प्रशासनिक-व्यवस्था का विवरण अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। काशी में प्रायः राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र के सप्तांग सिद्धान्त (राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दंड एवं मित्र) के अन्तर्गत काशी राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था संचालित होती रही होगी। इनमें राजा का अग्रिम स्थान था, राजा में ही सभी अधिकार एवं शक्तियाँ निहित होती थी। राजकीय आदेश एवं ताम्रपत्रों को जारी करने का समस्त अधिकार राजा के पास होता था। राजकार्य में राजा की सहायता हेतु मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति की जाती थी। ये अन्य कार्यों में भी राजा की सहायता करते थे, जिसकी पुष्टि सारनाथ लघुशिलालेख में महामात्र शब्द से होती है, जो मौर्यकाल में धर्म से सम्बन्धित प्रशासनिक अधिकारी था। संभवतः इसके द्वारा ही काशी की देख-रेख होती रही होगी। राष्ट्र (प्रशासनिक इकाई), दुर्ग, कोष (राजस्व-प्रशासन), दंड एवं मित्र शासन-व्यवस्था के अन्य सहायक अंग थे। कालान्तर में मौर्य एवं गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के आधार पर ही गाहडवाल शासकों ने भी शासन किया। गाहडवाल काल में सम्पूर्ण राज्य केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन-व्यवस्था द्वारा संचालित होता था, जिसके अन्तर्गत 17 प्रकार के उच्च राज्याधिकारियों का उल्लेख चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1148) में हुआ है, जो क्रमशः राजा, रानी, युवराज, मंत्री, पुरोहित, प्रतीहार, सेनापति, भाण्डागारिक, भिषक, नैमित्तक, अन्तःपुरिक, दूत, करि, तुरग, पत्तना, आकर-स्थान व गोकुल आदि हैं। इसके साथ ही गाहडवाल अभिलेखों में प्रशासनिक इकाईयों का उल्लेख मण्डल, विषय, पथक, पत्तला, ग्राम व पाटक के रूप में हुआ है। कोष की आपूर्ति का प्रमुख साधन कर-व्यवस्था थी।

गाहडवाल अभिलेखों में विविध करों का उल्लेख हुआ है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। गुप्त, कलचुरि एवं गाहडवाल अभिलेखों में राजा को कुछ विशेष उपाधियों जैसे-परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, त्रियाधिपति, विद्याविचार वाचस्पति, क्षितिपाल, नरपति, गजपति एवं त्रिशंकुपति से सम्बोधित किया गया है। इनकी आज्ञा सभी के लिए मान्य थी। मात्स्य-न्याय से बचने के लिए राजा दण्ड का विधान करता था। सप्तांग सिद्धान्तों में सबसे अन्तिम अंग मित्र है, जिसमें शासक अपने राज्य को स्थायी एवं शक्तिशाली बनाने हेतु चतुरुपाय एवं षाड्गुणों का विधान करता था। इस प्रसंग में कोशलराज प्रसेनजित ने अजातशत्रु के साथ युद्ध के परिणामस्वरूप कूटनीति का सहारा लेते हुए अपनी कन्या का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और दहेज स्वरूप काशी को भी भेंट कर अपनी स्थिति को यथावत् बनाए रखा। इसी प्रकार का उदाहरण कलचुरि शासक कर्ण के बनारस दानपत्र में हुआ है, जिसमें कर्ण के वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख हूण राजकुमारी आवल्लदेवी के साथ हुआ है। गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र का विवाह राजकुमारी कुमारदेवी के साथ हुआ, जिसका विवरण कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में है। इस प्रकार के उदाहरण काशी की स्थायी एवं सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं।

चतुर्थ अध्याय : काशी का सामाजिक जीवन

सामाजिक इतिहास देश में रहने वाले लोगों के सर्वांगीण-जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है तथा समस्त जन-समुदाय के विभिन्न क्रियाकलापों यथा; वर्णाश्रम-व्यवस्था, परिवार, संस्कार, विवाह, स्त्रियों की दशा, खान-पान, वस्त्र-आभूषण एवं मनोरंजन के साधन जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। ये सभी तत्त्व समाज के संचालन में सहायक प्रतीत होते हैं। इन्हीं अवयवों को दृष्टि में रखकर प्राचीन काशी के सामाजिक इतिहास का एक परिदृश्य अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक समाज के सभी अवयव वैदिक परम्परा के अनुरूप ही विद्यमान थे। कुछ परिवर्तनों के साथ इनका यथावत् रूप समाज में बना रहा। उत्तराध्ययन सूत्र में चारों वर्णों ब्राह्मण (बंभण), क्षत्रिय (खत्तिम), वैश्य (वइस्स) और शूद्र (सुद्द) का उल्लेख प्राप्त होता है। अशोक के पाँचवें शिलालेख में यह उल्लेख है कि महामात्रों की नियुक्ति भिक्षुओं, ब्राह्मणों, इभ्यों (शिष्टजनों), गृहस्थियों, अनाथों तथा धर्मगामियों की सुरक्षा एवं सुख के लिए की गई थी। काशी से प्राप्त कुषाणकालीन कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3, में उपाध्याय (ब्राह्मण), आचार्य एवं चतुर्परिषदों (चार वर्णों) का उल्लेख हुआ है। गुप्तकालीन स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त ने भीतरी में विष्णु की प्रतिमा स्थापित कराने के पश्चात् ग्राम दान दिया। लेख के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दान ग्रहण करने की परम्परा ब्राह्मण वर्ग में विद्यमान थी। प्रायः काशी से प्राप्त 46 ताम्रपत्रों में ब्राह्मण एवं 9 ताम्रपत्रों में क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख हुआ है, जो समाज में इनकी उच्च स्थिति को दर्शाता है। ब्राह्मणों के प्रमुख 6 कर्त्तव्य थे- यज्ञ-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान एवं प्रतिग्रह। इन ब्राह्मणों के नाम के साथ वेद, शाखा, गोत्र एवं प्रवर का वर्णन हुआ है, जो उनके वैदिक ग्रन्थों में दक्षता का सूचक है। राष्ट्र एवं समाज की रक्षा का दायित्त्व क्षत्रिय वर्ग के ऊपर ही था, जिसे समाज में दूसरा स्थान प्राप्त था। जयचन्द्रकालीन लाहडपुरा अभिलेख में श्रेणी (निगम) के सदस्यों में साहूकार का उल्लेख हुआ है, जो निश्चित रूप से वैश्य वर्ग से सम्बन्धित रहा होगा। वैश्यों का प्रमुख कार्य व्यापार एवं वाणिज्य था। समकालीन साहित्य कृत्यकल्पतरू में इनका उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण का उल्लेख क्रमशः अभिलेखों में लोहार, सुनार, सूत्रधार आदि के रूप में हुआ है। आश्रम व्यवस्था का परिपालन प्रारम्भ से ही काशी में होता रहा है जिसकी पुष्टि अकथा नामक पुरास्थल से अन्वेषित उत्तर-वैदिककालीन यज्ञ-हवन सम्बन्धी उपकरण करते हैं, इसकी निरन्तरता गाहडवाल काल तक बनी हुई थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के उल्लेख के साथ ही गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत विवाह, परिवार एवं अन्य संस्कारों का उल्लेख अभिलेखों में द्रष्टव्य है। विवाह संस्कार का उल्लेख कुमारदेवी के सारनाथ प्रस्तर

पट्ट अभिलेख में हुआ है। इसमें गोविन्दचन्द्र एवं उसकी पत्नी कुमारदेवी की तुलना विष्णु और लक्ष्मी के समान की गई है, जो दाम्पत्य जीवन के प्रमुख उदाहरण माने जा सकते हैं। अभिलेखों में परिवार का उल्लेख हुआ है, जिसमें प्रपितामह, पितामह, पिता, माता, पुत्र एवं पुत्री का विशिष्ट स्थान था। अन्य संस्कारों के अन्तर्गत जातकर्म संस्कार का उल्लेख जयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र (वि0सं0 1232), नामकरण संस्कार का उल्लेख सिहवर ताम्रपत्र (वि0सं0 1232) एवं अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख कर्ण के बनारस दानपत्र (क0 सं0 793) में हुआ है, जिसे कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग में स्नान करके, शिव की आराधना के पश्चात् जारी किया था। स्त्री माता, पत्नी, एवं पुत्री के रूप में सदैव से ही आदृत रहीं हैं। काशी में स्त्रियों की दशा सम्मानजनक थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अभिलेखों में मिलता है। इस क्रम में कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्ति लेख एवं गाहडवालकालीन ताम्रपत्र क्रमशः गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र लेख (वि0सं0 1162), गोविन्दचन्द्र एवं उसकी रानी नयनकेलिदेवी का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख (वि0सं0 1176) एवं कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर पट्ट लेख महत्वपूर्ण है, जिसमें त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा (कुषाणकालीन) राल्हणदेवी, पृथ्वीश्रीका, नयनकेलिदेवी, गोस्सलदेवी, कुमारदेवी (गाहडवालकालीन) आदि के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने पति एवं पुत्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से दान करते हुए दिखाई देती हैं। इन अभिलेखों से राजनीतिक, साम्पत्तिक एवं शिक्षा विषयक अधिकारों से स्त्रियों के विशेषाधिकारों को पुष्ट किया जा सकता है। खान-पान, वस्त्र-आभूषण एवं मनोरंजन के साधन आदि का विवरण राजघाट से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों, जातक ग्रन्थों, एवं उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण से भी मिलता है। दूध, घी, दही, खीर, मिठाई, सत्तू, पूड़ी आदि विशिष्ट खाद्य-पदार्थ थे। लोग मांसाहार का भी सेवन करते थे, जिसकी पुष्टि गाहडवाल ताम्रपत्रों में समत्स्याकरः शब्द से होती है। वस्त्राभूषण के अन्तर्गत धोती, कुर्ता, पगड़ी और बनारसी वस्त्र के साथ कर्णफूल, नुपूर, कंठहार, मणिबन्ध, भुजबन्ध आदि महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य-प्रसाधन के स्रोत थे।

पंचम् अध्याय : काशी का आर्थिक परिदृश्य

प्राचीन काशी की आर्थिक समृद्धि के प्रमुख अवयवों में कृषि, पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-धंधे एवं कराधान-प्रणाली का विकास निरन्तर रूप से हुआ। कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य को सम्मिलित रूप से अर्थशास्त्र में वार्त्ता कहा गया है। काशी क्षेत्र में कपास, गन्ना, धान, गेहूँ, जौ, चना, सरसों, आदि की विशेष रूप से खेती की जाती थी। मध्य गंगा घाटी में बसे होने के कारण यहाँ उन्नत किस्म की फसलें होती थी एवं प्रचुर मात्रा में खाद्यान प्राप्त होता था। प्राकृतिक वनस्पतियों में आम, महुआ (समधूककाम्रवनवाटिका) आदि वृक्षों का उल्लेख लगभग सभी गाहडवाल ताम्रपत्रों में मिलता है। पशुपालन अर्थव्यवस्था का दूसरा प्रमुख आधार था। पशुओं में गाय, भैंस, बैल, बकरी, कुत्ता, आदि पालतू पशु थे, जिसकी पुष्टि जातक ग्रन्थों से होती है। गाहडवालकालीन अभिलेखों में सहस्रों गायों को (गोसहस्रमहादान) दान में देने का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन समय से ही गाय का आर्थिक महत्त्व था। काशी में विशेष रूप से उद्योग-धन्धें एवं व्यापार-वाणिज्य की उन्नति हुई, जिसकी पुष्टि साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है। वस्त्र उद्योग, चन्दन उद्योग, शिल्प उद्योग एवं बढ़ईगिरी प्रमुख उद्योग थे। अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि काशी, बंग, पुण्ड्र, व कलिंग सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। गुप्तकाल में काशी में इन उद्योग-धन्धों की विशेष उन्नति हुई। काशी में इस प्रकार के उदाहरण सारनाथ, राजघाट, अकथा की खुदाई से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य करते हैं। संभवतः इन व्यवसायों एवं उद्योगों का संचालन श्रेणियाँ करती थीं। काशी प्रारम्भ से ही व्यापार-वाणिज्य का केन्द्र रही है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वाराणसी में श्रेष्ठि एवं सार्थवाहों के समूह विद्यमान थे, जो व्यापार करने के लिए प्रसिद्ध थे। बावेरू जातक में वाराणसी के कुछ वणिक वर्गों का दिशाकाक लेकर जहाज से बावेरू (बेबिलोन) राष्ट्र जाने का विवरण मिलता है। व्यापारी गण घोड़े, चन्दन, मिट्टी के बर्तन, बनारसी वस्त्र, आभूषण, खाद्य एवं पेय-पदार्थ (शराब) आदि का व्यापार वाराणसी से सुदूर देशों एवं स्थानीय क्षेत्रों में

किया करते थे। इसके अतिरिक्त जातकों से यह विदित होता है कि काशी (वाराणसी) के नाविक गंगा नदी में नाव चलाकर एवं मत्स्य पालन के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे, जिसकी निरन्तरता वर्तमान में भी बनी हुई है।

काशी से प्राप्त विविध राजवंशों के लेखों में उल्लिखित दान करने की प्रक्रिया शासकों की आर्थिक नीतियों को स्पष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त काशी में जिन राजवंशों ने अनेक स्मारकों एवं मंदिरों का निर्माण करवाया, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अर्थ-व्यवस्था में अपना सहयोग दिया। इसी क्रम में प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष) नामक मंदिर बनाने का वर्णन मिलता है। आठवीं शती का सारनाथ से प्राप्त पंथ के लेख से यह सूचना प्राप्त होती है कि पंथ ने अत्यन्त धन लगाकर अनेक धार्मिक कृत्यों के पश्चात् चंडी की एक मूर्त्ति स्थापित की। काशी में 'कर्णमेरु' नामक मंदिर की स्थापना कलचुरि शासक कर्णदेव ने करवाया, जिसका उल्लेख कर्ण के जबलपुर ताम्रपत्र में हुआ है। इसकी पुष्टि प्रबन्धचिन्तामणि एवं उक्तिव्यक्तिप्रकरण से भी होती है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण में यह उल्लेख है कि उपाध्याय (गुरु) जब अपने शिष्यों के साथ भ्रमण कर रहे थे तब उनके शिष्यों की दृष्टि कर्ण द्वारा बनवाये गए कर्णमेरु मंदिर पर पड़ी। उन्होंने प्रश्न किया- 'हो इहि कोउ जो कनमेरुतूलु प्रासादु कराविह? राजा जइ कोउ? (21/18-19)' क्या कोई ऐसा होगा जो कर्णमेरु के तुल्य प्रासाद बनवाए? कोई राजा है? इस कथन से यह स्पष्ट है कि काशी में कर्णमेरु मंदिर के समान अन्य कोई दूसरा मंदिर नहीं था और लोगों को यह विश्वास था कि उसके समान दूसरा मंदिर बनवाना कठिन था। गाहडवाल शासकों ने काशी में विविध प्रकार के मंदिरों का निर्माण करवाया, जिनमें आदिकेशव, इन्द्रमाधव मंदिर प्रमुख हैं। मंदिर कर व्यवस्था के स्रोत रहे होगें, ऐसा अनुमानित किया जा सकता है। ये सभी विवरण इन शासकों की आर्थिक समृद्धि के परिचायक हैं।

कर-व्यवस्था का काशी के आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसका उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में विशेष रूप से हुआ है। इनमें भाग, भोगकर, हिरण्य,

प्रवणिकर, तुरुष्कदण्ड, कुमारगादिआणक, कूटक, यमलिकाम्बलि, जलकर, गोकर, लवणकर, विषयदान, पर्णकर, दशबन्ध, अक्षपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विशतिअठप्रस्थ, वलदी, निधि-निक्षेप, आकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन करों के माध्यम से कोष की आपूर्त्ति होती थी।

षष्ठ अध्याय : काशी का धार्मिक परिदृश्य

विश्व स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक नगरों का उदय एवं उनका पतन हुआ किन्तु काशी सतत् विकासमान रही और इसका धार्मिक-आध्यात्मिक स्वरूप गतिमान रहा। काशी विविध मतावलम्बियों की साधना-स्थली रही है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह विदित होता है कि काशी में सनातन धर्म के विविध सम्प्रदायों यथा; शैव, वैष्णव और शाक्त धर्म के साथ जैन एवं बौद्ध धर्म का भी प्रभाव रहा। प्रस्तुत अध्याय में आभिलेखिक स्त्रोतों के माध्यम से काशी में धार्मिक परिदृश्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

इस क्रम में शैव-सम्प्रदाय से सम्बन्धित अभिलेख काशी में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं, जिसमें प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य कुषाणकालीन बभनियांव से प्राप्त अभिलेख है। अभिलेख पर उत्कीर्ण दो पंक्तियों में भगवान शिव के सम्मान में पुण्यवृद्धि हेतु दान का उल्लेख है। इस अभिलेख के प्राप्त होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शैव धर्म का काशी में अस्तित्व था। प्रारम्भिक अवस्था में काशी में विशेष रूप से नागों एवं यक्षों की भी पूजा की जाती थी। संभावना व्यक्त की जा सकती है कि यक्षों में शिव का भी स्थान रहा हो। बौद्ध साहित्य महामायूरी नामक ग्रन्थ में वाराणसी के प्रधान यक्ष को महाकाल सम्बोधित किया गया है, जो शिव का अन्य नाम है। काशी में गुप्त शासकों का काल पौराणिक धर्म एवं उससे सम्बन्धित देवी-देवताओं के पुनर्स्थापना का काल था। काशी का एक अन्य नाम 'अविमुक्त' भी है। अविमुक्तेश्वर नाम की मृण्मुहरें काशी के राजघाट से प्राप्त हुई हैं, जो भाषा एवं लिपि के आधार पर गुप्तकाल की मानी जाती हैं। ह्वेनसांग ने वाराणसी में शैव सम्प्रदाय की विशेष रूप से चर्चा की है। आठवीं सदी का

सारनाथ से प्राप्त पंथ के लेख से यह सूचना प्राप्त होती है कि वह प्रतिदिन शिव की पूजा करते थे। कलचुरि शासक कर्ण के बनारस दानपत्र का प्रारम्भ ही शिव की स्तुति (ओं नमः शिवाय।। निर्गुणं व्यापकं शिवं परमकारण) से होता है। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में उन्हें 'परममाहेश्वर' सम्बोधित किया गया है। कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में हर एवं हरि का उल्लेख हुआ है। काशी में शैव सम्प्रदाय के साथ-साथ वैष्णव सम्प्रदाय के भी अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं। इस क्रम में स्कन्दगुप्त का भीतरी शिलालेख महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भीतरी ग्राम में विष्णु मंदिर बनवानें का उल्लेख है। वैष्णव अवतारवाद सिद्धान्त का प्रभाव काशी में था, जिसे साहित्य एवं पुरातत्त्व के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। भारत कला भवन संग्रहालय में संरक्षित गुप्तकालीन गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सातवीं शताब्दी ई0 के प्रकटादित्य के सारनाथ लेख में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष) नामक मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में विशेष रूप से वैष्णव सम्प्रदाय की चर्चा की गई है। अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाहडवाल शासकों का झुकाव वैष्णव सम्प्रदाय की ओर विशेष रूप से था। विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा करने का विधान चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0 स0 1150) से ज्ञात होता है। गाहडवाल ताम्रपत्रों में संलग्न मुहर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें मानवरूपी गरूड़ का अंकन है, जिसे वैष्णव धर्म के साथ सम्बद्ध किया जाता है। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित काशी में गाहडवाल शासकों द्वारा आदिकेशव मंदिर एवं इन्द्रमाधव मंदिर बनवाने का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150) से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी में गंगा एवं वरुणा के संगम पर आदिकेशव मंदिर के निर्माण हेतु चंद्रदेव के द्वारा अपने वजन के बराबर सोना, चाँदी और अमूल्य रत्न, एक हज़ार गाय एवं 500 ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से 32 ग्राम दिए गए। कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में गोविन्दचन्द्र को विष्णु का अवतार सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त काशी में शाक्त, गणेश, सूर्य, गंगा आदि की उपासना की जाती थी, जिसके प्रत्यक्ष अभिलेखीय प्रमाण गाहडवालकालीन अभिलेख हैं।

इसी क्रम में काशी में जैन धर्म की भी उपस्थिति देखी जा सकती है। काशी में जैन धर्म का भी प्रभाव रहा। जैन धर्म के प्रमुख तीर्थंकरों यथा; सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस एवं पार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ था। संभवतः उनकी शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार काशी से ही हुआ होगा। राजघाट से प्राप्त ऋषभदेव नाम के एक व्यक्ति की मुद्रा से यह ज्ञात होता है कि काशी में जैन धर्मानुयायी विद्यमान थे।

सारनाथ में बौद्ध धर्म की उन्नति विशेष रूप से हुई, जिसकी पुष्टि मौर्यकाल से लेकर गाहडवाल काल तक के अभिलेखों से होती है। मौर्यकाल में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित सारनाथ लघु स्तम्भ लेख एवं अहरौरा लघु शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं, जिसमें बौद्ध संघ का उल्लेख हुआ है। सारनाथ से प्राप्त कनिष्ककालीन बोधिसत्त्व मूर्त्तिलेख वर्ष-3 में भिक्षु बल के द्वारा बोधिसत्त्व की प्रतिमा निर्मित कराने का उल्लेख मिलता है। सारनाथ एवं राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन अभिलेखों से बौद्ध धर्म विषयक सूचना प्राप्त होती है। कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा लेख (गु0सं0 157) में बुद्ध को शास्ता सम्बोधित किया गया है। अप्रतिम गुणों से युक्त भगवान बुद्ध की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख इसी अभिलेख में हुआ है। परवर्ती गुप्त शासक बुद्धगुप्त का गु0सं0 159 का अभिलेख राजघाट से प्राप्त हुआ है, जिस पर महाराजाधिराज बुद्धगुप्त नाम अंकित है। इस अभिलेख को भिक्षु अभयमित्र ने प्रतिष्ठापित करवाया। पालवंशीय शासक महीपाल के सारनाथ अभिलेख में धर्मराजिका स्तूप के मरम्मत का उल्लेख हुआ है। गाहडवालों के शासनकाल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल में वैदिक धर्म का प्रभाव विशेष रूप से था किन्तु गोविन्दचन्द्र का संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर बौद्ध धर्म के प्रति उदार था। उसके ग्रंथ कृत्यकल्पतरू में यह उल्लेख है कि विहार का निर्माण करवाना पुण्य का कर्म था। इसी क्रम में गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है। कुमारदेवी बौद्ध धर्म के वज्रायान शाखा की अनुयायी थी। लेख से यह ज्ञात होता है कि जम्बुकी पत्तला के लोगों के आग्रह पर कुमारदेवी ने धर्मचक्रजिन विहार की

मरम्मत करवाई। उसने भारत का सर्वश्रेष्ठ विहार निर्मित करवाया। अभिलेख में बौद्ध धर्म के वज्रायानी शाखा की देवी वसुधरा की अलंकृत शैली में (ओं नमो भगवत्यै आर्यवसुधारावै।। समवतु वसुधारा धर्मपीयूषधारा प्रशमितबहुविश्वोद्दामदुः खोरुधारा। धनकनकसमृद्धिं भूर्भुवः श्वः किरन्ती तदखिलजनदैन्याजयन्ती जगन्ति।।) स्तुति की गई है।

अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि काशी में विविध धर्म-सम्प्रदायों की उन्नति हुई, जिसमें प्रमुख रूप से ब्राह्मण धर्म की प्रमुखता द्रष्टव्य होती है।

सप्तम् अध्याय : काशी की शैक्षणिक व्यवस्था

इस अध्याय में काशी से प्राप्त अभिलेखों एवं तत्कालीन् साहित्यिक विवरणों का अध्ययन कर काशी के शैक्षणिक-व्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इन अभिलेखों में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से सम्बन्धित विषयों के उल्लेख के साथ-साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिक्षाओं का भी उल्लेख हुआ है। काशी उत्तर-वैदिक काल से ही वैदिक शिक्षा-पद्धति का केन्द्र रही है, जिसका प्रत्यक्ष साहित्यिक प्रमाण बृहद्रण्यक उपनिषद् में वर्णित् काशी नरेश अजातशत्रु एवं गार्ग्य बालाकि का संवाद है। अभिलेखों में विशेष रूप से कुषाणकालीन सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3, गुप्तकालीन राजघाट से प्राप्त मुहरें, कलचुरि शासक कर्ण का बनारस दानपत्र अभिलेख (क0सं0 793), और गाहडवालकालीन 35 ताम्रपत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनसे काशी में वैदिक अध्ययन-अध्यापन की पुष्टि होती है। कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3 में निहित कुछ शब्द जैसे- त्रिपिटकाचार्या (त्रिपिटक की आचार्या), उपाध्याय, आचार्य आदि शिक्षा-व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। गुप्तकालीन राजघाट से प्राप्त मुहरें जिनमें बहवृच (ऋग्वेद), अध्वर्यु (यजुर्वेद), छान्दोग्य चरक (सामवेद), श्रीसारस्वतस्य एवं श्रीचातुर्वेदय अंकित मुहरें वैदिक शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित होती हैं। कर्ण के बनारस दानपत्र में यह उल्लेख है कि आमह के प्रपौत्र वामन के पौत्र नारायण के पुत्र औदालक दैवरात्र और विश्वामित्र प्रवर वाले कौत्सगोत्रिय वेसालवासी ब्राह्मण विश्वरूप को काशी में सुरसी ग्राम दान में दिया गया। इसी क्रम में गाहडवाल शासकों के अभिलेख हैं, जो अधिकांशतः

वैदिक ब्राह्मणों को दिए हुए ज्ञात होते हैं। इनके शासनकाल में ही काशी का अत्यधिक शैक्षिक-संवर्धन हुआ। इस संदर्भ में चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150) में 500 ब्राह्मणों को दान देने का विवरण है। अभिलेख में यह उल्लेख है कि वेदों के अध्येता इसका अध्ययन करके उल्लासपूर्वक वैदिक यज्ञ करते थे। दयाराम साहनी ने इस अभिलेख में 495 ब्राह्मणों का नाम, गोत्र एवं प्रवर के साथ सूचीबद्ध किया है। इसमें जाट नामक ब्राह्मण को 'श्री ऋग्वेद चरणे चतुर्वेदिन', वील्ह को 'श्री यजुर्वेदचरणे चतुर्वेदिन', छीहिल को 'अथर्ववेद चरणे चतुर्वेदिन' तथा देदिग नामक ब्राह्मण को 'छान्दोग्य चरणे त्रिपाठिन' कहा गया। अभिलेखों में ऋग्वेद के चतुर्वेदियों की संख्या 125, यजुर्वेद के चतुर्वेदियों की संख्या 95, अथर्ववेद के द्विवेदियों की संख्या 198 एवं श्री छान्दोग्य चरण के त्रिपाठियों की संख्या 74 है। लक्ष्मीधर के अनुसार ब्राह्मणों का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे वेद, स्मृति एवं सदाचार का अध्ययन करें। इस प्रकार के उद्धरण लगभग सभी ताम्रपत्रों में दिखाई देते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि काशी प्रारम्भिक अवस्था से ही वैदिक शिक्षा का केन्द्र रही है। इसके साथ बौद्धधर्म की शिक्षाएँ भी काशी में प्रचलित थीं। इसके उदाहरण के रूप में हमारे सम्मुख सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन कनिष्क का सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्त्ति लेख, सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन पालि भाषा में प्राप्त अभिलेख, कलचुरि शासक कर्ण का सारनाथ अभिलेख (810 कलचुरि संवत्) एवं कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्ति लेख में कुछ शब्द जैसे-उपाध्याय, आचार्य, अंतेवासी त्रिपिटकाचार्या यह दर्शाते हैं कि वैदिक परिपाटी एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित आचार्य काशी में विद्यमान थे। कुषाणकालीन पालि भाषा में प्राप्त अभिलेख में चार आर्य सत्यों का उल्लेख हुआ है, जो महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से सम्बन्धित है। कलचुरि शासक कर्ण के सारनाथ अभिलेख में धनेश्वर की पत्नी मामका को महायान सम्प्रदाय की परम-उपासिका कहा गया है। उसने अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता की प्रतिलिपि कराई और भिक्षुओं को दान दिया। इसी क्रम में गाहडवालकालीन कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में कुमारदेवी के द्वारा बौद्ध विहार का निर्माण एवं धर्मचक्रजिन बुद्ध की प्रतिमा का

पुनर्संस्कार करवाने का उल्लेख है। बौद्ध विहारों में भिक्षु-भिक्षुणी अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि काशी में वैदिक अध्ययन-अध्यापन के समान ही बौद्ध-धर्म का भी प्रचार-प्रसार हुआ।

शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित उपसंहार नामक अंतिम शीर्षक में समस्त अध्यायों का समाहार प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय

काशी के अभिलेखों की विवेचना

प्रथम अध्याय

काशी के अभिलेखों की विवेचना

राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए अभिलेखकी के अन्तर्गत अभिलेखों का अध्ययन किया जाता है। अभिलेख के लिए अंग्रेजी शब्द Inscription (इंस्क्रिप्शन) प्रयुक्त होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- **'उत्कीर्ण लेख'**।

प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के माध्यम से इतिहास की उपयोगिता के प्रति जनमानस की अभिरुचि का अंकुरण सहजतापूर्वक किया जा सकता है। अभिलेखशास्त्र का महत्त्व साधन स्त्रोत एवं उनके अध्ययन के अनुशासन के रूप में इतिहास को एक नई दिशा प्रदान करने हेतु निर्धारित किया गया है। प्रमाणिकता के तौर पर इतिहास लेखन हेतु अभिलेख सुदृढ आधार भित्ति का नवनिर्माण करते हैं। इतिहास अतीत का दर्पण है और अभिलेख इस दर्पण में अतीत को प्रतिबिम्बित करने का सशक्त माध्यम। **प्रो0 सीताराम दुबे के अनुसार**- किसी नुकीलें उपकरण से उकेरे या खरोंचे गये पदार्थ अथवा छेनी-हथौड़ी की सहायता से उत्कीर्ण वस्तु को **'अभिलेख'** और उसमें उत्कीर्ण लिपि, गुम्फित विषयवस्तु तथा प्रयुक्त आधारोपकरण को समग्र अध्ययन से सम्बद्ध अनुशासन विद्या **'अभिलेखशास्त्र'** की संज्ञा से सम्बोधित की जाती है।[1] इसमें लिपि के समीकरण, उद्वाचन, उद्वाचनगत् विषयवस्तु की ऐतिहासिक व्याख्या आदि की अपनी दीर्घ-प्रक्रिया और निश्चित विद्या है।

साधारण शब्दों में अभिलेख से तात्पर्य **विशिष्ट लेख** से है। विस्तृत अर्थ में किसी भी हस्तलेख का निर्धारण इसमें समाविष्ट किया जा सकता है किन्तु प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी अथवा ज्ञानी के लिए प्रस्तर, किसी कठोर वस्तु शिला, शंख, काष्ठफलक, हाथी-दाँत, मृण्मुहर, अन्य कोई धात्विक पदार्थ, चमड़ा पर छेनी-हथौड़ी की सहायता से उत्कीर्ण, किसी तीक्ष्ण नोंक वाले पदार्थ से खरोंचे गये चिह्न चित्र अथवा साँचे द्वारा बने चिह्न, जिसमें

ऐतिहासिक महत्त्व की सूचनाएँ अभिव्यक्त हो अथवा भविष्य में संदर्भ मिल जाने पर व्यक्त होने की संभावना हो, **अभिलेख** की श्रेणी में परिगणित होते हैं।[2] विशेष चिह्न प्रतीकों को पुरालिपि एवं अंकित पदार्थ को अभिलेख अथवा 'पुराभिलेख' नाम से सम्बोधित किया जाता है। अभिलेख कभी दूसरे स्रोतों से ज्ञात इतिहास का समर्थन करते हैं और कभी स्वयं इतिहास निर्माण में सक्षम होते हैं।

काशी-क्षेत्र से **75** की संख्या में महत्त्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनका प्रस्तुत अध्याय में विवरणात्मक अध्ययन किया गया है। ये अभिलेख अधिकांशतः प्रस्तर, मूर्त्ति एवं ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण हैं। इन अभिलेखों को **ताम्रपत्र, पाषाण, स्तम्भ, मूर्त्ति** में विभाजित किया गया है। काशी क्षेत्र से प्राप्त मौर्यकाल से गाहडवाल काल तक के अभिलेखों में **प्राकृत, प्राकृत मिश्रित संस्कृत** एवं **संस्कृत** भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसकी लिपि **मौर्यकालीन ब्राह्मी** से विकसित होते हुए **नागरी** तक है। अभिलेखों में तिथ्यांकन के लिए विशेष रूप से **विक्रम संवत्, शक संवत्, गुप्त संवत्** एवं **कलचुरि संवत्** प्रयुक्त हुआ है।

लेखन सामग्री-

अभिलेखन सामग्री के अन्तर्गत प्रस्तर, ताम्रपत्र, छेनी, हथौड़ी, तूलिका आदि वस्तुओं का संकलन करते हुए इतिहास को एक नवीन दिशा 'अभिलेख' के माध्यम से प्रदान की जाती थी। इन अभिलेखों को अंकित करने के पूर्व की प्रक्रिया का विवरण, प्रस्तर चयन, धातु (ताम्रपत्र) का वर्णन करना अनिवार्य प्रतीत होता है, जिसका विवरण निम्नवत् हैः-

प्रस्तर-

प्रस्तर पर लेखन का कार्य टिकाऊपन का सूचक बन गया। वे सभी आदेश जो महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी थे, लेखन कला के विस्तृत (व्यापक) होते ही प्रस्तर पर अंकित कर दिये गये। सम्राट अशोक स्पष्ट रूप से निर्देशित करते हैं कि- **प्रस्तर पर अपने राजकीय**

आदेशों को मैनें इसलिए खुदवाया ताकि वे चिरकाल तक स्थायित्व रह सकें।[3]
अभिलेखन कार्य हेतु प्रस्तर का प्रयोग निम्नांकित रूपों में व्यवहृत हुआ है :-

1. चिकनी की गयी अथवा खुरदरी चट्टानें।
2. स्तम्भ।
3. पट्टिका।
4. मूर्त्ति का आसन या पृष्ठभाग।
5. मंदिर की दीवारें।

प्रस्तर लेखन सम्बन्धित राजाओं के आदेश या घोषणायें, राजप्रशस्ति, दान, भूमिदान, स्मृतियाँ एवं समर्पण लेख सम्मिलित हैं।

अभिलेखन कार्य हेतु एक विशेष शिला, प्रस्तर का पट्ट या खण्ड को चुनकर उसे छीलकर और घिसकर चिकना कर लिया जाता था। तत्पश्चात् वर्णों (अक्षरों) को खोदकर अंकित करने की विधि निर्धारित की जाती थी। लिखने हेतु खुरदुरे पत्थर के प्रयोग अपवाद स्वरुप भी प्राप्त होते हैं। पहले पत्थर पर सीधी रेखाएँ खींची जाती थी; तत्पश्चात् सुलेखक उन पर स्याही, रंग एवं दुधिया से अंकित करता था और अन्ततः उत्कीर्णक वर्णों को छेनी-हथौड़ी की सहायता से खोदकर अंकित कर देता था। यदि उत्कीर्णन के समय प्रस्तर का कोई टुकड़ा टूटकर निकल जाए तो इस प्रकार के रिक्त स्थान को किसी रुप्यवस्तु (प्लास्टिक) से भर दिया जाता था और तत्पश्चात् उस पर अक्षर उत्कीर्ण किये जाते थे। विषय का प्रारम्भ एवं अन्त में प्रायः कोई मांगलिक शब्द या सिद्धम् जैसे धार्मिक चिह्न से ही होता था। इस प्रकार के उदाहरण काशी से प्राप्त अनेक अभिलेख हैं, जो अधिकतर प्रस्तर, ताम्रपत्र पर अंकित है अथवा इन लेखों का प्रारम्भ ही मांगलिक चिह्नों से होता है।

धातु-

प्रस्तर एवं ईंट से अधिक स्थायी एवं सुविधाजनक धातु अभिलेखन कार्य हेतु उपयुक्त थी। प्राचीन समय में धातु का प्रयोग न्यूनतम् था और बाद के काल में इसका

प्रयोग अधिकता से हुआ। पूर्वमध्यकाल में लेखन कार्य हेतु धातु का प्रयोग जिनमें सर्वाधिक रूप से ताम्रपत्र का प्रयोग हुआ है, प्रचलित थी। काशी-क्षेत्र से अधिकतर ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं, जो इस धातु की सुलभता को दर्शाते हैं। ताम्रपत्रों का लेखन कार्य में कैसे उपयोग होता था एवं इतिहास-लेखन में इसकी क्या महत्ता है, इसका विवरण निम्नवत् है :-

ताम्रपत्र-

लेखन कार्य हेतु धातुओं में ताँबे का प्रयोग अति प्राचीन समय से चला आ रहा है। **ताम्रपत्र, ताम्रशासन, ताम्रपट्ट, दानपत्र, शासनपत्र** ये सभी नाम अभिलेख के विषय के अनुसार सम्बोधित किये जाते थे। जो स्थायी रूप से ताँबे पर उत्कीर्ण किये जाते थे, ऐसे भूमिदान पत्रों को प्रतिग्रहीता को दान स्वरूप दिया जाता था, पत्थर पर जो विषय लिखा जाता था, वहीं ताँबे पर भी उत्कीर्ण होता था। ईसा की छठीं शताब्दी तक लेखन हेतु अधिकतर प्रस्तर का ही प्रयोग होता था किन्तु बाद के कालों में अर्थात् 12वीं शती ई0 तक ताँबे का प्रयोग बहुत व्यापक बन गया।

ताम्र धातु की प्राचीनता की परम्परा एक निर्धारित समय से भारतवर्ष में मिलती है, किन्तु अभिलिखित पत्र के रूप में ये ई0पू0 की अंतिम अथवा ई0 सन् की प्रथम शती से प्रचलन में आ चुके थे। शासकों, सामन्तों या किसी पदाधिकारी, कर्मचारी, श्रेष्ठी एवं साहूकार द्वारा मंदिर, मठ, मूर्त्ति, स्तूप आदि की प्रतिष्ठा एवं किसी निर्माण कार्य हेतु भूमिदानादि के प्रसंग में अथवा दान की सूचना के रूप में ताम्रपत्र दानग्रहीता के लिए अधिकार पत्र का कार्य करते थे। ये ताम्रपत्र आयताकार, वर्गाकार, अर्द्धवृत्ताकार ताम्रखण्ड के रूप में प्रत्यक्ष दर्शित होते हैं। चतुर्थ शताब्दी ई0 के अन्त में चीनी यात्री **फाह्यान** अपने यात्रा विवरण में बुद्धकालीन ताम्रपत्र का उल्लेख करते हुए कहता है कि जिन शासकों ने बौद्ध-विहारों को दानपत्र दिया था, वे अधिकतर ताम्रपत्र पर ही अंकित थे।[4]

हमें राजशासन के विषय में प्रत्यक्ष रूप से याज्ञवल्क्य और विष्णु जैसे विधि सम्बन्धी लेखकों से सूचना ज्ञात होती है। **याज्ञवल्क्य के अनुसार**[5] राजा भूमिदान के पश्चात् भावी शासकों के सूचनार्थ हेतु लेख उत्कीर्ण करवाये, ताकि भविष्य में अन्य परवर्ती राजा भी उसका अनुकरण करते हुए लेख तैयार करवाये। इस ताम्रपत्र का बाह्य भाग उस राजा के निजी मुहर से अलंकृत होना चाहिए। इस मुहर में राजा का हस्ताक्षर, तिथि तथा उसका एवं उसके अन्य पूर्वजों के अलंकृत विवरण का उल्लेख होना चाहिए। **व्यास** का भी कथन है कि[6] ताम्रपट्ट पर राजा का आदेश लिखने हेतु स्वयं राजा ही अपने संधिविग्रहिक को सम्बोधित करता था। इस ताम्रपट्ट में स्थान, पूर्वजों सहित राजा के वंशावली, देश, ग्राम आदि का उल्लेख होना निश्चित रहता था। इसके साथ ही ब्राह्मणों एवं मान्याधिकृत व्यक्तियों जिनमें कुटुम्बिन, दूत, वैद्य, कायस्थ, महत्तक, म्लेच्छ एवं चाण्डाल आदि का नाम उल्लिखित हो तथा उन्हें यह बताने का प्रयत्न किया जाये कि वह किसका पुत्र है और उसने (पुत्र ने) अपने माता-पिता के यश एवं पुण्यवृद्धि हेतु अमुक ब्राह्मण को भूमिदान दिया। उस भूमि को न किसी प्रकार से क्षति पहुँचाया जा सकता था और न ही छीनने का यत्न किया जाता था एवं न ही उस भूमि पर किसी प्रकार का कर वसूला जा सकता था। स्वर्ग एवं नरक की कामना लेख में निहित रहती थी; जैसे- जब तक यह सूर्य एवं चन्द्र अस्तित्व में रहेंगे तब तक इस भूमि पर दानग्रहीता का अधिकार यथावत् रहेगा और भूमि को पुत्र एवं पौत्र भी वहन कर सकेंगें। दान देने वाला स्वर्ग का अनुगामी तथा अपहरण एवं भूमि का हनन करने वाला व्यक्ति नरकगामी होगा। इन सभी वाक्यों का वर्णन शुद्ध-अक्षरों में अभिलेख में अंकित किया जाता था। इसके साथ ही वर्ष, मास, दिवस तथा राजमुद्रा भी अंकित रहता था। इन सभी विधियों द्वारा निहित सम्पूर्ण अभिलेख में राज शासन लिखा जाता था। **व्यास** 'लेखनी' के विषय में अपना यह मत प्रकट करते हैं कि- ''किसी पटिया या भूमि पर सर्वप्रथम खड़िया (दुधिया) से अक्षरों को साफ-साफ लिखना

चाहिए, इसके अन्तर्गत मिलने वाली सभी अशुद्धियों अथवा त्रुटियों को सुधारने के पश्चात् इसे अन्त में धातु पट्ट पर अंकित किया जाना चाहिए।''[7]

प्रारम्भिक समय में ताम्रपत्रों का प्रचलन अंशतः कम था, किन्तु समय की गतिशीलता के साथ इनका प्रचलन गुप्तकाल तक पर्याप्त मात्रा में बढ़ गया था। भूमिदान के प्रचलन की व्यापकता यदि एक ओर बढ़ती हुई धार्मिकता और आर्थिक समृद्धि की परिचायक मानी जा सकती है तो दूसरी ओर शासकों एवं सामन्तों के आत्मसम्मान एवं यश के सूचक अथवा प्रदर्शन का भी एक अंग मानी जा सकती है। देश की तत्कालीन अर्थव्यवस्था का अंश भूमिदान को बताते हुए कौशाम्बी[8], आर.एस. शर्मा[9], तथा बी.एन.एस. यादव[10] ने इस प्रक्रिया को ऐतिहासिक बताने की चेष्टा की है। इस व्यवस्था के अनुसार भूमिदान के विस्तृत प्रचलन के फलस्वरूप प्राचीन व्यवस्था ने मध्यकालीन व्यवस्था का स्वरूप आत्मसात् कर लिया, जिसमें भूमि ही उत्पादन एवं शोषण का आधार बनीं। इस परिवर्तित व्यवस्था के प्रचलन के प्रधान लक्षण कृषि, स्थानीयता, ग्रामीण अर्थव्यवस्था की आत्मनिर्भरता एवं अवरुद्ध अर्थव्यवस्था आदि थे। आर्थिक जीवन का विघटन उद्योग-धंधे, व्यापार एवं मुद्रा-संचार पर आधारित था, जो इतना व्यापक हो चुका था कि कर्मचारियों का वेतन, विशिष्ट सेवाओं के पुरस्कार तथा सामन्तों की निष्ठा एवं विश्वास भी अब बदलें में दी जाने वाली भूमिदान पर निर्भर थी।[11] चूँकि भूमिदान ताम्रपत्र द्वारा ही निर्गत् किये जाते थे फलतः इनका महत्त्व, उपादेयता एवं प्रचलन भी पर्याप्त मात्रा में बढ़ गया।

ताम्रपत्रों का निर्माण एवं लेखन विधि-

ताम्रपत्र से आशय राजांक, ताम्रपट्ट अथवा राजचिह्न युक्त मुहर के समन्वित रूप से है। ताम्रपत्रों के निर्माण की प्रक्रिया प्रायः ताम्रधातु को गलाकर, साँचे में ढालकर अथवा ठोंक-पीटकर पत्र निर्मित करने के पश्चात् अनेक पत्रों में श्लाका के माध्यम से उत्कीर्ण एवं अभिलिखित किया जाता था। इन ताम्रपत्रों के प्रमाणिकता हेतु राजा का हस्ताक्षर अथवा

राजचिह्न भी अंकित किया जाता था। एक से अधिक ताम्रपत्रों में छेद करके राजकीय मुहर के साथ बांधकर समन्वित किया जाता था।

पूर्वमध्यकालीन काशी के राजवंशों विशेषकर कलचुरि एवं गाहडवाल वंश के ताम्रपत्रों की प्राप्ति एवं विश्लेषण के पश्चात् ऐसा विदित होता है कि धातु का निरीक्षण करने के पश्चात् प्रायः धातु को पिघलाया गया होगा और चादर बनाकर उन्हें कोई कठोर वस्तु यथा; हथौड़े से पीटकर इच्छित आकार में काट लिया जाता था, जिससे वह देखने में आकर्षक लगे। हथौड़ों के प्रहार एवं चिह्न भी अनेक ताम्रपत्रों में दर्शित होते हैं।[12] जो अक्षर ताम्रपत्रों में त्रुटिपूर्वक अंकित कर दिये गये थे अथवा अक्षर अमान्य थे उन्हें हथौड़ों के माध्यम से पीटकर मिटा देने के पश्चात् पुनः प्रयोग में लाया जाता था, ऐसे उदाहरण भी हमें प्राप्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति में कुछ अक्षर नहीं मिट पाये हैं, जिसका वर्णन हमें अभिलेखों के गहन अध्ययन से होता है।[13] इसका प्रधान कारण यह भी हो सकता है कि समय की गतिशीलता के परिणामस्वरूप राजवंश परिवर्तन, नवीनीकरण एवं स्वामित्व के परिवर्तन निरन्तर होते रहें। इस प्रसंग में कलचुरि नरेश यशःकर्ण एवं गोविन्दचन्द्र के मध्य संघर्ष को माना जा सकता है। इसमें गोविन्दचन्द्र की विजय और उनके द्वारा शैव राजगुरु रुद्रशिव को हटाकर उक्त ग्राम ठक्कुर वशिष्ट को दान में देने के प्रसंग को उल्लिखित किया जा सकता है।[14]

ताम्रपत्रों की संख्या एक, दो, तीन और कभी-कभी पाँच-पाँच की संख्या में मिलने के कारणवश छल्ले द्वारा गूंथे हुए प्राप्त होते हैं। ताम्रपत्रों के आकार-प्रकार के कारण उन पर बने छिद्र एवं छल्लों की संख्या निर्भर करती हैं। सामान्य आकार के ताम्रपत्रों में छल्ले को बीच में अथवा ताम्रपत्र के बाई ओर छेदकर जोड़ा जाता था, किन्तु एक से अधिक ताम्रपत्रों को जोड़ने हेतु अधिक छेद और छल्लों का प्रयोग किया जाता था किन्तु मुहर केवल एक ही छल्ले पर अंकित की जाती थी। ताम्रपत्रों का बाहरी भाग सादा तथा आन्तरिक

भाग लेखयुक्त इसलिए रखा जाता था ताकि एक से अधिक पत्रों के लेखों को सुरक्षित एवं संरक्षित किया जा सके। इस प्रयत्न हेतु कदाचित् अक्षरों को सुरक्षित रखने के लिए ताम्रपत्रों पर चारों तरफ से ऊँची पट्टीनुमा बारी बना दी जाती थी। इस प्रकार के सुन्दर उदाहरणों में से एक भारत कला भवन संग्रहालय से प्राप्त चंदेल शासक परमर्दिदेव का ताम्रपत्र वि0सं0 1239 है, जिसके चारों ओर 1/2 इंच की पट्टी को कील की सहायता से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है।[15]

ताम्रपत्रों में संलग्न मुहर का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि इन राज मुद्रांकों अथवा मुहरों का प्रयोग ताम्रपत्र अनुदानों की प्रामाणिकता को विश्वसनीय एवं आधिकारिक बनाने हेतु किया जाता था। इन ताम्रपत्रों में राजकीय मुहर प्रायः शासक की नामांकित एवं कुलदेवता एवं अन्य प्रतीकांकन के साथ संलग्न किया जाता था। ये संलग्न मुहरें सत्यता का प्रमाण थी क्योंकि ये मूल ताम्रपत्र के साथ किसी प्रकार की जालसाजी एवं परिवर्तन के विरुद्ध सुरक्षा-कवच का कार्य करती थीं। ऐसा प्रायः इसलिए था कि कोई बिना मुहर को तोड़े ताम्रपत्र को अलग नहीं कर सकें। इस प्रकार के उदाहरण प्रायः पूर्वमध्यकालीन राजवंश विशेषकर गाहडवालों के मुहरों पर अंकित प्रतीक एवं लेखों से ज्ञात होते हैं। **गोविन्दचन्द्र** एवं उसके पुत्र **राज्यपाल के कमौली ताम्रपत्र (वि.सं. 1203)**[16] मुहर में निहित मुख्य पृष्ठ पर दो पंक्तियों में उद्धृत लेख **'महाराजपुत्र श्री राज्य पालदेवः'** अंकित है। लेख के ऊपर शंख का प्रतीक बना है तथा लेख के नीचे एक सीध में एक तीर का अंकन है साथ ही एक शंख जैसा प्रतीक है। वस्तुतः यह राज्यपालदेव (राजकुमार) का दानपत्र था। अतः इस ताम्र मुहर पर व्यक्तिगत् चिह्न का भी अंकन है। राजकुमारों के ताम्रपत्रों अथवा ताम्र मुहरों पर व्यक्तिगत् चिह्न का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उन्हें भी दान देने के अधिकार प्राप्त थे जिससे वे ताम्रपत्रों को जारी अथवा निर्गत् करते थे।

लेखन-प्रक्रिया में ताम्रपत्रों की भूमिका एवं महत्त्व-

प्रत्येक शक्तिशाली शासक अपनी यशोवृद्धि एवं अपने पूर्वजों के पुण्य-अभिवृद्धि हेतु दानग्रहीता को जो भूमि, खेत अथवा गाँव दान में देता था, उसका सविस्तार उल्लेख ताम्रपत्रों पर अंकित किया जाता था। दान की स्थायी रजिस्ट्री ताम्रपत्र के माध्यम से तैयार की जाती थीं, जिससे प्रतिग्रहीता भूमिदान से सम्बन्धित विधानों के माध्यम से अपने अधिकारों का निश्चित रूप से सुविधापूर्वक उपभोग कर सके। स्मृतियों से यह विवेचित होता है कि[17] भूमिदान करने के पश्चात् राजा अपने भावी शासकों के मार्गदर्शन हेतु एक प्रलेख तैयार करवाता था और उसे पुनः किसी वस्त्र के टुकड़े या ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कराया जाता था। इस प्रकार से एक स्थायी अधिकार पत्र नवनिर्मित होता था। इस अधिकार पत्र अथवा ताम्रपत्र में राजा के साथ-साथ उसके तीन शीघ्रगत् उत्तराधिकारी एवं पूर्वाधिकारियों का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार से प्रतिग्रहीता (दानप्राप्तकर्त्ता) के भी पूर्वाधिकारियों की लगभग तीन की संख्या में चर्चा मिलती है। इसके साथ ही दानात्मक भूमि की नाप-जोख के साथ चारों ओर के सीमांकन का वर्णन ताम्रपत्र में अंकित रहता था। अन्ततः ताम्रपत्रों में राजा का मुहर, हस्ताक्षर और तिथि का भी उल्लेख रहता था।

दानात्मक भूमि सम्बन्धी विवरण को ताम्रपत्रों पर सुव्यवस्थित ढंग से लिपिबद्ध करने हेतु एक कार्यालय (अक्षपटल, राजस्व विभाग) होता था, जिसके प्रमुख को **'अक्षपटलिक'** नाम से सम्बोधित किया जाता था। जो भूमि की पैमाईश अथवा राजस्व विभाग का अधिकारी होता था, जिसके माध्यम से इस कार्यालय का संचालन होता था। इसी कार्यालय की पत्रिका अथवा रजिस्टर में दान सम्बन्धित राजाज्ञा को अंकित किया जाता था; किन्तु इस प्रक्रिया के पूर्व भूमि का परीक्षण अथवा निरीक्षण करने के लिए भूमि का पहले दान में दिया हुआ एवं भूमि पर अन्य किसी का स्वामित्व न हो, इस प्रकार के प्रश्नों के शक-समाधान हेतु भूमि का लेखा-जोखा करके ही यह प्रक्रिया पूर्ण होती थी। इसके पश्चात् राजा उस गाँव के निवासियों तथा अपने राज्य कर्मचारियों को यह कहते हुए सम्बोधित करता था कि- अमुक

नामक व्यक्ति को यह ग्राम अथवा उल्लिखित क्षेत्र दान में दिया गया है, इस पर अब प्रतिग्रहीता का अधिकार निर्दिष्ट मानना चाहिए, यह सभी को विदित हो। इस प्रेरणात्मक निर्देश का पालन अथवा दान के प्रति सम्मान भावी राजाओं, रानी व युवराज एवं अन्य राज्य के उच्च-अधिकारियों के लिए भी था।

भूमि के दान के आदेश सुनाने के साथ ही राजा यह भी निर्देशित करता था कि दान को नष्ट अथवा भंग करने का यत्न न किया जाये अन्यथा ऐसा कृत करने पर वह राजा द्वारा दण्डित किया जायेगा।

इन सभी प्रक्रियाओं के पूर्ण होने के पश्चात् 'अक्षपटलिक' अपने हस्ताक्षर कर लेख को पूर्ण मान्यता प्रदान करता था। पेशेवर लेखक ही ताम्रपत्र पर लेखन का कार्य इस प्रक्रिया के पश्चात् करता था, इसके लिए मूल लेख की एक अन्य प्रति पहले से तैयार की जाती थी जिसको देखकर उसकी प्रति (छाया, नकल) ताम्रपत्र पर अंकित की जाती थी। साधारण तौर पर कहें तो ताम्रपत्र पर लेखन कार्य अंकित करने से पूर्व उस लेख को अन्य पूरक वस्तुओं यथा; कागज़, वस्त्र आदि पर अंकित किया जाता था ताकि ताम्रपत्र पर लेखन शैली में कोई त्रुटि न हो। लेखन एवं उत्कीर्णन ये दोनों क्रियायें एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं।

लेखन-शैली के अन्तर्गत ताम्रपत्र पर अक्षरों को अंकित करते समय कुछ दूरी तक अक्षर पास-पास लिखे गये हैं और पुनः उसी पत्र के आधे भाग पर उनके बीच रिक्त स्थान मिलता है। ऐसा संभवतः लेखक की कार्य कुशलता के अभाव के कारणवश हुआ होगा। **कर्ण के बनारस पत्र (क0सं0 793)**[18] को इस प्रकार के उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है, जिससे यह प्रतिबिम्बित होता है कि लेखक के द्वारा दूसरे पत्र के प्रारम्भ से मध्य भाग तक अक्षरों को पास-पास अंकित किया गया है किन्तु जब लेखक को यह अनुभव हुआ कि शेष लेख के लिए ताम्रपत्र में अत्यधिक रिक्त स्थान शेष है तो उसने

अक्षरों को दूर-दूर लिखना प्रारम्भ कर दिया जो पत्र के पंक्ति 38-40 में विशेष रूप से दृष्टव्य है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कलचुरि अभिलेखों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, किन्तु इनकी अपेक्षा गाहडवालों के ताम्रपत्रों में इनकी संख्या न्यून है।

जिन अधिकारियों ने ताम्रपत्रों के लेखन-कार्य में योगदान दिया, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् हैः-

लेखक-

लेखक प्रायः उस व्यक्ति के लिए सम्बोधित किया जाता था जो लेखन हेतु अपनी आजीविका अर्जित करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। **साँची अभिलेख** में ही लेखक शब्द का अभिलेखीय प्रमाण मिलता है।[19] बहुसंख्यक परवर्ती अभिलेखों में लेखक का तात्पर्य उस व्यक्ति से था जो ताम्रपत्र या प्रस्तर पर उत्कीर्ण होने वाले लेख को तैयार करने को प्रस्तुत रहता था। लेखक शब्द दाता के लेखन- व्यवसाय को प्रतिपुष्ट करता है। **ब्यूलर**[20] ने इसका तात्पर्य लिपिकार, हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रतिलिपिक ,लिपिक से लिया है फिर भी वे अनुवाद को संदेहास्पद मानते हैं। पूर्व मध्यकालीन काशी के राजवंशों यथा; कलचुरि एवं गाहडवाल ताम्रपत्रों से ज्ञात लेखकों का सूक्ष्म परिचय निम्नवत् हैः-

1. **अक्षपटलिक या महाक्षपटलिक-** राजस्व विभाग या भूमि की पैमाइश करने वाला अधिकारी **'अक्षपटलिक'** कहलाता था। इसी अधिकारी के संरक्षण में ताम्रपत्रों के लेखक कार्य का विवरण निर्धारित होता था। गुप्त काल के समय से ही हमें 'अक्षपटलिक' का उल्लेख मिलने लगता है।[21] अपने कार्य की कुशलता एवं निरंतरता के साथ ही अक्षपटलिक का कार्यालय क्रमशः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सुव्यवस्थित होता गया। पूर्व मध्यकालीन ताम्रपत्रों विशेषकर काशी के गाहडवालों के ताम्रपत्रों में

अक्षपटलिक[22] एवं महाक्षपटलिक[23] शब्दों का विवरण मिलता है, जो उसके ताम्रलेख के कार्य की निपुणता का द्योतक है।

2. **कायस्थ-** राजा के सरकारी कार्यालय के मुख्य पदाधिकारी, राजस्व या लेखाधिकारी कायस्थ वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। कायस्थ वर्ग ही ताम्रपत्रों के लेखन-कार्य का संचालन करता था। इनकी सहभागिता स्पष्ट रूप से कलचुरियों एवं गाहडवाल काल के ताम्रपत्रों के लेखन-कार्य के रूप में दृष्टिगत होती है। गाहडवाल शासकों के वि0सं0 1236 के पहले के सभी ताम्रपत्र कायस्थ एवं उसके बाद के सभी ताम्रपत्र महाक्षपटलिक द्वारा लिखित एवं संचालित किये जाते थे। ऐसा विदित होता है कि गाहडवाल शासकों में प्रथमतः चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र एवं विजयचन्द्र के ताम्रपत्र कायस्थ वर्ग के द्वारा लिपिबद्ध होते थे; किन्तु महाक्षपटलिक का कार्य एवं महत्त्व जयचन्द्र के शासनकाल से प्रारम्भ होता है, उसके समय से ही (जयचन्द्र के) ताम्रपत्र लेखन का कार्य महाक्षपटलिक के द्वारा सम्पादित होता था। यह प्रतीत होता है कि जाति से ही 'महाक्षपटलिक' कायस्थ वर्ग के अन्तर्गत आते रहें हो; क्योंकि कायस्थ लेखक एवं गणक के साथ ही अन्य ऊँचे पदों पर भी नियुक्त होते थे। एक जाति के रूप में **कायस्थ** वर्ग का उल्लेख **वेदव्यास** तथा **ओंशनस स्मृति** में भी मिलता है।[24] कायस्थों की उपजातियाँ विभिन्न स्थानों के आधार पर भी 10वीं, 12वीं शताब्दी में बन चुकी थी, जैसे- **गौड़, कायस्थ, वल्लभीय, माथुर, श्रीवास्तव, निगम** आदि। ताम्रपत्रों के लेखन-कार्य से सम्बन्धित् कायस्थ वर्ग को कलचुरि एवं गाहडवाल[25]काल में **'वास्तव्य'** नाम से सम्बोधित किया जाता था।

महासंधिविग्रहिक-

युद्ध तथा शांति विभाग का प्रमुख मंत्री होने के कारण लेखन कार्य किये जाने का विवरण महासंधिविग्रहिक के पर्याय में नहीं मिलता। परन्तु गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र के दरबारी कवि **लक्ष्मीधर भट्ट** स्वयं संधिविग्रहिक होने के साथ-साथ ताम्रपत्रों के लेखन

कार्य का निरीक्षण करते थे, ऐसा कृत्यकल्पतरु में उद्धृत है।[26] वह स्वयं भी इस पद पर कार्यरत थे।

धर्मलेखी-

'धर्मलेखी' शब्द से तात्पर्य यह है कि धार्मिक लेख प्रायः इन्हीं के द्वारा लिखित होते थे। संभवतः ये कायस्थ वर्ग से ही सम्बन्धित रहे हों। कलचुरि शासक यशःकर्ण के जबलपुर ताम्रपत्र (क0सं0 529) का लेखक धर्मलेखी वाक्यकल था; परन्तु गाहडवाल ताम्रपत्रों में धर्मलेखी शब्द का परिचय अथवा उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

करण अथवा करणिक-

करण संभवतः कायस्थ का पर्याय प्रतीत होता है।[27] करण नाम से सम्बोधित लेखक संभवतः किसी अधिकरण (कार्यालय) से सम्बन्धित रहा हो। कलचुरि शासक प्रतापमल्ल के पेन्ड्राबन्ध ताम्रपत्र[28] से यह विदित होता है कि 'करण' या 'करणिक' नामक लेखक गौड़ देश से इसलिए बुलाए गये थे कि वे संस्कृत का सुबोध एवं स्पष्ट ज्ञान रखने के साथ-साथ सुन्दर अक्षर लिखने में चतुरता से परिपूर्ण थे। अतः वे शुद्ध एवं सुन्दर लिखने में निपुण थे। करणिक ठक्कुर सहदेव का उल्लेख गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र[29] (वि.सं0 1175) में भी मिलता है। करणिक द्वारा गोविन्दचन्द्र के अनेक ताम्रपत्रों को लिखित किया गया है।

उत्कीर्णक-

पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों विशेषकर काशी के गाहडवाल शासकों के ताम्रपत्रों पर लेख को खोदने अथवा उकेरने वाले व्यक्ति को **'उत्कीर्णक'** एवं खोदा गया वाक्य-विन्यास हेतु प्रायः उत्कीर्ण[30], उतकेरित[31] तथा उत्कदृितं[32], शब्दों का प्रयोजन मिलता है। कई उदाहरणों में उत्कीर्णक का वर्णन 'शिल्पी' या 'विज्ञानिन' के पर्याय के रूप में हुआ है।

वस्तुतः ताम्रपत्रों पर अक्षरों को खोदने का कार्य सुनार, ठठेर आदि करते थे, जिनके व्यवसाय आदि धन्धों के द्वारा उन्हें भिन्न-भिन्न उपाधियों से विभूषित किया गया; यथा- सूत्रधार, लौहकार, स्वर्णकार, पीतलहार एवं रुपकार आदि। इनके कौशल को निम्न उपाधियों के माध्यम से जाना जा सकता है, यथा- 'वर्णघटनावैदग्धीविश्वकर्मन्'। गाहडवालों के ताम्रपत्रों में उत्कीर्णन का कार्य लौहकार करते हुए सहभागिता को स्पष्ट करते हैं।

ताम्रलेखन का प्रारूप-

प्राचीन भारत में दान-दक्षिणा की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। पाषाण-फलक, स्तम्भों एवं धातुपत्रों पर अंकित करते हुए दान को आधिकारिक बनाने का प्रयत्न किया गया। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप दान में अधिकतर विस्तार होता गया, जिसके कारण ताम्रपत्र पर अंकित अभिलेख द्रष्टव्य होते हैं। इन दानात्मक ताम्रपत्रों में मंगलस्तुति के साथ-साथ, दान के लक्ष्य तिथि पर्व के साथ, दान देने वाले शासक की वंशावली, शासक के प्रशस्ति का वर्णन, दान ग्रहीता के नाम के वर्णन के साथ कुल, गोत्र आदि का परिचयात्मक वर्णन प्राप्त होता है। दान में दी हुई भूमि के साथ दान के समय उपस्थित होने वाले अधिकारियों एवं कर्मचारियों का विवरण, प्रतिग्रहीता को दान में दिये गये छूट एवं प्राप्त होने वाले अधिकारों का भी ताम्रपत्र में वर्णन मिलता है। काशी के गाहडवालकालीन अधिकतर ताम्रपत्रों में इस प्रकार के अन्य उदाहरण परिलक्षित होते हैं, जैसे- चन्द्रदेव का चन्द्रावती एवं गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र आदि।

ताम्रपत्र में 'सिद्धि' या 'स्वस्ति' शब्द से लेखन का आरम्भ होता है अर्थात् मंगल, स्वस्ति वचन अथवा मांगलिक प्रार्थना से दान की प्रक्रिया देने का विधान बना, जिससे तात्पर्य सफलता की प्राप्ति, कल्याण, एवं मंगल हो। अन्य प्रकरणों में सिद्धम् एवं स्वस्ति के साहचर्य में 'ओम' शब्द का उच्चारण भी द्रष्टव्य है; जैसे- ओम् सिद्धि[33], ओम स्वस्ति[34], ॐ नमः शिवाय[35], ॐ नमों भगवते वासुदेवाय[36], ओम् परमात्मने नमः[37], आदि।

प्रारम्भिक समय में ताम्रपत्रों में मंगलाचरण केवल प्रतीकों एवं शब्दों में व्यक्त करने का विधान था; किन्तु बाद के कालों में यह मंगल प्रार्थना धीरे-धीरे और भी विस्तृत होती गयी। प्रारम्भिक कलचुरियों के ताम्रपत्र अभिलेख छोटे शब्द 'सिद्धम्' से प्रारम्भ हुए प्रतीत होते है, वहीं आगे चलकर उनमें विस्तृत अवतरण दिखाई देते हैं। इनमें दान प्राप्तकर्त्ता के अथवा लेखकों के आराध्य देव-देवियों की स्तुति गद्य तथा पद्य में परिलक्षित होती है। जैसे-काशी से प्राप्त कलचुरि नरेश **कर्ण का बनारस ताम्रपत्र लेख**[38] निम्न गद्य अवतरण से आरम्भ होता हुआ प्रतीत होता है- ''सिद्धिः ओं नमः सि (शि) वाय। निर्गुणं व्यापकं नित्यं सि (शि) वं परमकारणं (णम्) भावग्राह्यं पर (2) ज्यौतिस्तस्मै सद्ब्रह्मणे नमः।'' इसके साथ ही काशी से प्राप्त गाहडवाल ताम्रपत्र लेखों का प्रारम्भ 'ओम् स्वस्ति' तथा लक्ष्मी की स्तुति के साथ होता है।

दानात्मक स्थल-

ताम्रपत्रों में उन स्थानों का उल्लेख मिलता है, जहाँ दान देने वाले राजाओं ने ताम्रपत्र जारी किया था। प्रायः वे स्थल नदी, तीर्थ आदि थे जहाँ राजा विधिपूर्वक स्नान करके दानात्मक आदि प्रक्रियाओं को करते हुए ताम्रपत्र जारी करते थे। गाहडवाल ताम्रपत्रों में ऐसे अनेक उल्लेख पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, जहाँ शासक दान-कार्य गंगा एवं अन्य नदियों के तट पर स्नान करके किया करते थे, उदाहरणार्थ-

1. ...सकलकल्मषक्षयकारिण्यां गंगायां स्नात्वा।[39]
2. ...गंगाया स्नात्वा।[40]
3. अद्येह (सौ) (शौ) रि नारायण समीपे स्नात्वा।[41]
4. ...वेण्यां स्नात्वा।[42]

वाराणसी के गंगा तट पर अधिकतर दानपत्र गाहडवाल राजाओं द्वारा जारी किया गया।

कलचुरि नरेश कर्ण द्वारा तीर्थयात्रा के प्रसंग में दान देने का विवरण प्रसंगवश आता है, जिसमें यह उल्लेख है कि कर्ण अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर तीर्थयात्रा में प्रयाग का परिभ्रमण किया था, इसी में उसने बनारस पीतलदानपत्र (क0सं0 793) को जारी करते हुए वशिष्ठ नामक ब्राह्मण को सुरसी नामक ग्राम दान में दिया।[43] इसी प्रकार चंदेल नरेश परमर्दिदेव तीर्थयात्रा हेतु वाराणसी आये एवं मणिकर्णिका घाट से वि.सं. 1247 ई0 का ताम्रपत्र (वाराणसी, भारत कला भवन) जारी किया।[44] कुछ ताम्रपत्र विजय स्कन्धावार से जारी किये हुए प्राप्त होते हैं; जैसे- गोविन्दचन्द्र[45] का बनारस ताम्रपत्र (वि.सं. 1162) ।

दानग्रहीता का परिचय-

दानग्रहीता के नाम का उल्लेख करना ताम्रपत्र-लेखन के प्रारूप में एक अनिवार्य पक्ष था। यह दान ग्रहीता समूह में या स्वयं अकेला भी हो सकता था। गाहडवाल शासक चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र[46]में 500 ब्राह्मण दान-ग्रहीताओं की सूची प्राप्त होती है। ताम्रपत्रों में ब्राह्मणों के परपितामह, पितामह एवं पिता आदि के उल्लेख के साथ-साथ उनसे सम्बन्धित गोत्र, प्रवर एवं वैदिक शाखा का वर्णन भी प्राप्त होता है।

गोत्रों एवं प्रवरों में सम्बन्ध स्थापित दिखाई प्रतीत होता है, अर्थात् ताम्रपत्रों में दानग्रहीता के गोत्र के साथ-साथ एक, तीन एवं पाँच प्रवरों का उल्लेख हुआ है- जैसे वशिष्ठ प्रवर वशिष्ठ गोत्र के लिए[47], गौतम, अंगिरस और अवितथ प्रवर गौतम गोत्र के लिए[48], गर्ग, अंगिरस, विश्वामित्र, जमदग्नि, बृहस्पति प्रवर-गर्ग गोत्र के लिए[49] आदि।

जिन ब्राह्मण महानुभावों को दान दिया जाता था वे प्रतिग्रहीता (ब्राह्मण) वेदों की विभिन्न शाखाओं के पण्डित अथवा ज्ञाता होते थे। विशेषकर गाहडवालों के ताम्रपत्रों में यजुर्वेद तथा उसकी वाजसनेयी[50] (माध्यन्दिन, कण्व) शाखा के ब्राह्मणों का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है, इसके पश्चात् क्रमशः ऋग्वेद एवं उसकी बहवृच शाखा[51] तथा सामवेद

की छान्दोग्य शाखा[52] आदि का वर्णन ताम्रपत्रों में निहित है। अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मणों का एकमात्र उल्लेख हुआ है।[53]

दानात्मक तिथि का वर्णन-

तिथियों का उल्लेख ताम्रपत्रों के अंत में ही परिदृश्य होता है। दानोपहार के विशेष वितरण के बाद तिथियों का सविस्तार वर्णन गाहडवालों के ताम्रपत्रों में परिलक्षित होता है। तिथि के प्रसंग में संवत्सर या संवत् आदि का उल्लेख मिलता है जिससे तात्पर्य वर्ष (विक्रम, शक, गुप्त, कलचुरि) से है अथवा राजा के शासन से सम्बन्धित (राज्याभिषेक की तिथि) समय से है। ताम्रपत्र-लेखन के अन्तर्गत महीनों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है,साथ ही अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण आदि का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। ताम्रपत्रों में अनेकशः विभिन्न महीनों के शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष की भिन्न-भिन्न तिथियों का वर्णन हुआ है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि फाल्गुन, भाद्रपद तथा कार्तिक महीनों के दिन का समय अधिक महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इन महीनों का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत मार्ग-शीर्ष, चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ़ माह का न्यून उल्लेख प्राप्त होता है।

पूर्णिमा एवं अमावस्या के शुक्ल एवं कृष्ण-पक्ष की 15वीं तिथि का भी उल्लेख ताम्रपत्रों में अंकित दिखाई देता है। वैशाख पूर्णिमा[54], कार्त्तिक पूर्णिमा[55], आषाढ़ पूर्णिमा[56] आश्विन पूर्णिमा[57], माघ पूर्णिमा[58], मार्गशीर्ष की आग्रहायणी पूर्णिमा[59], श्रावण-पूर्णिमा[60] पौष मास की अमावस्या[61], फाल्गुन मास की अमावस्या[62], आषाढ़ मास की पूर्णिमा[63] के अतिरिक्त अक्षय तृतीया[64] तथा सप्तमी (महासप्तमी) या रथसप्तमी[65] आदि त्यौहारों के समय हमें भूमिदान के प्रसंग ताम्रपत्रों में अंकित हुए प्रतीत होते हैं। विभिन्न संक्रान्तियों जैसे-उत्तरायण[66], फाल्गुन, मकर, के शुभ-अवसर पर भी दान देने का प्रसंग मिलता है।

इन पर्वों एवं उत्सवों के अतिरिक्त अन्य संस्कारों के समय दान का विवरण मिलता है। इसी प्रकार का उदाहरण गाहडवाल काल में राजा जयचन्द्र ने अपने पुत्र के (हरिश्चन्द्र

के) नामकरण संस्कार[67] के शुभ अवसर पर महापंडित ऋषिकेश को एक ग्रामदान में दिया था। इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण कलचुरि शासक कर्ण के बनारस ताम्रपत्र में मिलता है, जिसमें यह उल्लेख है कि कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर दान (भूमि) दिया था।[68] ताम्रपत्रों में अंकित तिथियों के साथ-साथ व्रत एवं उत्सव आदि का वर्णन धर्म-शास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है, जो इनकी धार्मिकता की प्रतिपुष्टि करते हैं।

ताम्रपत्रों के चयन एवं सुरक्षात्मक विवरण-

दानग्रहीता के लिए ताम्रपत्र की सुरक्षा करना नितान्त आवश्यक होने के साथ-साथ उसे संरक्षित करना भी अनिवार्य था। यह त्रि आयामी प्रकार की सुरक्षा थी। प्रथम तो उन पर अंकित लेख की सुरक्षा, द्वितीय ताम्रपत्रों को अपने पास संरक्षित करना ताकि उन्हें ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त हो। ताम्रपत्र प्रतिग्रहीता एवं उसके उत्तराधिकारियों के लिए भूमि (दानात्मक) के कागज पत्र के समान थे, जो उन्हें शासन की ओर मिलता था। इसी कारण से ताम्रपत्रों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया था, क्योंकि इसके अभाव में या नष्ट होने पर जो भूमि कर मुक्त होती थी, उस पर सामान्य कर देने का नियम था और व्यक्ति का स्वामित्त्व समाप्त माना जाता था।

ताम्रपत्रों में अक्षरों की सुरक्षा हेतु अथवा घिसाव से बचाये रखने के लिए चारों तरफ बारनुमा पट्टी बनाई जाती थी एवं लेखन को एक से अधिक पत्र होने पर अंदर की ओर उत्कीर्ण किया जाता था।

ताम्रपत्रों का प्रचलन उस समय अत्यधिक बढ़ा जब ये पुरातात्त्विक खुदाई, घरों के निर्माण के समय, खेते-जोतते समय, कुएँ खोदते समय, नहरों, कृत्रिम जलमार्ग बनाते समय प्रकाश में आये हैं। जिन्हें पढ़कर हम आज उनके ऐतिहासिक महत्त्व का अनुमान लगा सकते हैं। इन ताम्रपत्रों का इन स्थानों से मिलने पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि दानग्रहीता सुरक्षात्मक दृष्टि से ताम्रपत्रों को जमीन के अन्दर गड्ढा खोदकर अपने पास

रखने का प्रयास करते थे, ताकि वे सुरक्षित एवं अपने पास रहें। वाराणसी के पुरातात्त्विक खुदाई अथवा जलकल लगाते समय गाहडवालों के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे यह सूचना प्राप्त की जा सकती है कि दानग्रहीता का निवास स्थान संभवतः यहीं-कहीं रहा होगा। सन् 1899 ई0 में जलकल का निर्माण कराते समय खुदाई में वाराणसी के भदैनी मुहल्ले से पाँच दानपत्र मिले हैं, जिनमें से तीन **पण्डित दामोदर शर्मा** के ज्ञात हुए हैं। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' के लेखक दामोदर शर्मा संभवतः वाराणसी के भदैनी मुहल्ले में निवास करते थे। पुरोहित जागूशर्मन जो गाहडवाल शासकों के पुरोहित थे, उनके 24 दानपत्र वरुणा-गंगा के संगम के पास कमौली (राजघाट) से प्राप्त हुए हैं, इस साक्ष्य के आधार पर यह कहना उचित प्रतीत होता है कि काशी के परिवेश में ही इन पुरोहितों का निवास स्थान रहा होगा। ये 24 दानपत्र जो कमौली से मिले हैं, वे किसान को खेत में हल जोतते समय प्राप्त हुआ था।

कुछ ताम्रपत्रों को जमीन में दबाया गया एवं कुछ ताम्रपत्रों को भूमि के मालिकों द्वारा कुएँ एवं टैंक में फेंक दिया गया। इसका प्रधान कारण चोरों के भय से एवं झगड़े एवं युद्ध में हो रही परेशानियों से भूमि के मुख्य कागज (ताम्रपत्र) को छिपाना था ताकि भविष्य में उस दानात्मक भूमि पर किसी का अधिकार न हो। इसके विपरीत कुछ ताम्रपत्र ऐसे भी मिले हैं, जो सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से पत्थर के संदूक एवं मिट्टी के बर्तन के अन्दर मिले हैं। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ताम्रपत्रों की सुरक्षा दानग्रहीता की प्राथमिक जिम्मेदारी (कर्त्तव्य) थी। गाहडवाल शासक **गोविन्दचन्द्र का सहेत-महेत दानपत्र** दयाराम साहनी को मिट्टी की संदूक में प्राप्त हुआ था। इन संदर्भों में **गोविन्दचन्द्र का राजघाट ताम्रपत्र (वि.सं.1197)** एवं **चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि.सं. 1150 एवं 1156)** पत्थर की संदूक में ही प्राप्त हुए हैं।

वर्तमान समय में ताम्रपत्र एक ऐतिहासिक आभिलेखिक सामग्री है, जो इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। इन ताम्रपत्रों के सुरक्षा एवं संरक्षण हेतु विभिन्न संग्रहालयों में इन्हें संग्रहीत करने की आवश्यकता है।

काशी क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का परिचय

❖ मौर्यकालीन काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेख :

1. अहरौरा लघु शिलालेख :[69]

काशी-क्षेत्र के मिर्जापुर जिले में स्थित एक गाँव अहरौरा है, जो सड़क अहरौरा तक जाती है, उससे करीब सौ गज दूर स्थित पहाड़ी की एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है, इसके समीप ही भंडारी देवी का एक मंदिर है। इस लेख की खोज **प्रो0 गोवर्धन राय शर्मा** के नेतृत्व में प्रयाग विश्वविद्यालय के एक अन्वेषक दल ने 1961 में की थी। उन्होंने ही सर्वप्रथम इसकी छाप तैयार करवाई जिसे **'मिराशी'** ने 'भारती' में सम्पादित कर प्रकाशित किया। यह लेख उत्तर-प्रदेश से प्राप्त होने वाला प्रथम लघु शिलालेख है, जो 3'10" × 2.9" क्षेत्रफल में लिखा है। इसमें 11 पंक्तियाँ हैं, जिनमें प्रथम 6 के ज्यादातर अक्षर पत्थर के टूट जाने से अपठनीय हो गये हैं। अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म में अनुरक्त होने के कारण एवं धर्म पराक्रम की अभिवृद्धि के लिए इस अभिलेख को उत्कीर्ण करवाया गया।

अहरौरा अभिलेख अशोक द्वारा बुद्धावशेषों पर स्तूप बनवाने का उल्लेख करने वाला प्रथम अभिलेख है। इस लेख में गौतम बुद्ध का नाम आया है। यह एक मात्र अभिलेख है जिसमें यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि अशोक भगवान बुद्ध के अवशेषों को प्रतिष्ठित करने के तत्काल बाद दौरे पर निकल गया था। इससे अशोक के अभिलेखों का तिथिक्रम तय करने में सहायता मिलती है।

धार्मिक दृष्टि से इस अभिलेख का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध-धर्म के पराक्रम के लिए इस अभिलेख को उत्कीर्ण करवाया गया। बौद्ध-धर्म के पराक्रम के लिए बुद्ध के अवशेषों को मंच पर स्थापित करने का उल्लेख इस अभिलेख में निहित है। इस अभिलेख में अशोक ने यह बताने की चेष्टा की है कि विगत् ढाई वर्षों से वह उपासक है, किन्तु बौद्ध-धर्म के लिए उसने कुछ अधिक नहीं किया है। अशोक इस अभिलेख में आगे कहता है कि एक वर्ष से अधिक मैं संघ की शरण में आया हूँ तब से मैंने कुछ अधिक पराक्रम किया है, जिसका विद्वानों ने आशय लिया है कि ढ़ाई वर्ष के पश्चात् आने वाले एक वर्ष में उसने विशेष पराक्रम किया, जिसमें धर्म की वृद्धि दिखाई पड़ी। यह अशोक की बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित पहली यात्रा थी। दूसरी यात्रा उसने अपने राज्य के 20वें वर्ष लुम्बिनी में की। अहरौरा लघु शिलालेख में अशोक के लिए 'देवानप्रिय' एवं 'बुद्ध' का नाम आया है, जिसकी पुष्टि अन्य अभिलेखीय साक्ष्यों से की जा सकती है।

इस लघु शिलालेख में अशोक ने अमिश्र देवताओं को मिश्रित करने का उल्लेख किया है। हरप्रसाद शास्त्री ने मिसा शब्द मृषा अथवा मिथ्या मानकर देव शब्द का ब्राह्मण अर्थ लेकर यह सुझाव दिया कि अशोक ने ब्राह्मणों के देवत्त्व को मिथ्या सिद्ध कर दिया। भण्डारकर के अनुसार अशोक ने यह दावा किया है कि उसने नैतिक दृष्टि से मनुष्यों को इतना श्रेष्ठ बना दिया कि वह स्वर्ग में देवताओं का सामीप्य प्राप्त कर सके। वासुदेव शरण अग्रवाल ने यह धारणा व्यक्त की थी कि जो देवता इसके पहले बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित नहीं थे उन्हें भी सम्मिलित कर लिया गया। अर्थात् बौद्ध-धर्म के प्रचार के कारण बहुत से मनुष्य और लोक-देवता बौद्ध-धर्म से जोड़ दिये गए और यही उसके पराक्रम का फल है।

यह अभिलेख नैतिकता की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अशोक ने यहाँ एक और बात कही है कि परिश्रम करने से केवल बड़े लोगों को ही स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, जो छोटे एवं सामान्य जन हैं वे भी परिश्रम के द्वारा सफलता एवं स्वर्ग की प्राप्ति कर

सकते हैं। इसलिए अशोक ने धर्म-श्रावणों अर्थात् धर्मोंपदेशों का आयोजन किया था। वह इस बात से छोटे एवं बड़े सभी लोगों को आश्वस्त कर देना चाहता था कि पराक्रम करने पर सफलता मिलेगी और इससे धर्म चिरस्थायी होगा। उसकी वृद्धि होगी और कम से कम डेढ़ गुना वृद्धि तो होगी ही। अशोक की यह इच्छा थी कि विगत् 256 दिनों में उसने जिन-जिन स्थानों का प्रवास किया और धर्मोंपदेश किए इसके अतिरिक्त सीमावर्त्ती लोग भी इससे अवगत हो।

2. सारनाथ लघु स्तम्भ लेख[70] :

सारनाथ और बौद्ध-धर्म की पहचान प्रायः एक दूसरे के साथ संपृक्त हो गयी है। बौद्ध-धर्म का नाम लेते ही सारनाथ का एवं सारनाथ का स्मरण आते ही तथागत की प्रथम देशना एवं उनके पाँच शिष्यों की ओर ध्यान जाता है। महात्मा बुद्ध का वाराणसी या सारनाथ (इसिपत्तन) से घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहीं पर बुद्ध ने ईस्वी पूर्व 528 में आषाढ़-पूर्णिमा के दिन पंचवर्गीय भिक्षुओं को अपना प्रथम उपदेश दिया था, जिसे **'धर्मचक्रप्रवर्तन'** कहा जाता है। उरुवेला में बुद्धत्व प्राप्त करके गौतम बुद्ध इसिपत्तन चले आये, क्योंकि उनके साथी पंचवर्गीय भिक्षु **(कौण्डिन्य, वप्प, महानाम, भद्द एवं अश्वजीत)** बुद्ध को कठिन तप से विरक्त देखकर इसिपत्तन चले आये थे।

सारनाथ लघु स्तम्भ लेख को **'संघ भेद-लेख'** के नाम से भी जाना जाता है। इसे मिस्टर **एफ0ओ0 ओरटेल** महोदय ने खोजा था। **संघ में विघटन को दूर करने के लिए राजा का आदेश इस अभिलेख का मूल उद्देश्य है।** इसकी प्रकृति राजकीय है। अभिलेख में अशोक के लिए 'प्रियदर्शी राजा' का उल्लेख हुआ है। इसमें सम्राट का बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों के प्रति आदेश है। तृतीय पंक्ति में पाट शब्द से आशय कुछ इतिहासकारों ने अनुमान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि संभवतः इस शासन को पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित करके लिखवाया गया था। संभवतः वाराणसी का

प्रशासन पाटलिपुत्र के महामात्रों के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता था। इसका ऐतिहासिक कारण यद्यपि यह हो सकता है कि पहले वाराणसी श्रावस्ती (कोसल) के राजाओं के अधीन थी किन्तु अजातशत्रु एवं बिम्बिसार के समय में काशी (वाराणसी) को मगध-साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया गया। संभव है तभी से काशी का क्षेत्र प्रशासनिक रूप से मगध के प्रशासन के इकाई के साथ जुड़ा था। मौर्यकालीन काशी (वाराणसी) का एक अन्य नाम 'पोटलि' भी था।

'सारनाथ लघु स्तम्भ लेख' सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-धर्म का पालन करने वाले मुख्यतः दो तरह के मनुष्य होते थे, भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक एवं उपासिका। प्रायः भिक्षु-भिक्षुणियों को गेरुआ वस्त्र धारण करने के लिए दिया जाता था, किन्तु बौद्ध-संघ में जो भी (संघ) में भेद डालने का प्रयत्न करे, उसे श्वेत-वस्त्र धारण कराकर अज्ञात स्थल पर भेजा (निर्वासित) जाता था। सारनाथ के शिलांकन (प्रायः अशोक के शासन-काल के अंतिम समय) से ज्ञात होता है कि अशोक संघभेद को समाप्त करने के लिए अत्यंत चिन्तित थे, क्योंकि इस कारण बौद्ध-मठों के सदस्यों में अत्यन्त बिखराव आ गया। शिलांकन में धर्म के विरुद्ध आचरणों के लिए सजा का प्रावधान किया गया है। इस आदेश का उद्देश्य बौद्ध-संघ में उभड़ती हुई फूट की संभावनाओं का निराकरण करना था। इस अभिलेख में अशोक द्वारा महामात्रों को सम्बोधित किया गया था। लेकिन इसमें महामात्रों को अनुपोसथ अर्थात् पाक्षिक उपवास के दिन उपस्थित होकर इस आदेश में विश्वास उत्पन्न करने एवं लोगों को बताने की बात कही गई है। प्रत्येक भिक्षु जो बौद्ध-धर्मों से सम्बन्धित नैतिक नियमों का पालन सही ढंग से नहीं कर पाता, उसे अनुपोसथ (प्रायश्चित) करना पड़ता था। प्रायश्चित करने के उपरान्त वह पुनः बौद्ध-संघ में प्रवेश पा सकता था।

1. सारनाथ से प्राप्त शुंगकालीन लेख[71] :

सारनाथ से शुंगकालीन अनेक महत्वपूर्ण कला-कृतियाँ एवं अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो यह दर्शाते हैं कि शुंगकाल में भी बौद्ध-धर्म की प्रगति हुई। सारनाथ की खुदाई में

शुंगकालीन वेष्टिनी, खम्भे, जंगले और उनके आड़े-बेड़े डंडे **53** की संख्या में मिले हैं, जिनमें कुछ पर शुंगकालीन लेख भी अंकित है। इन लेखों में दाताओं द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है।

1. एक खण्डित वेष्टिनी स्तम्भ पर विकृत पाली (प्राकृत) और ब्राह्मी लिपि में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का दो पंक्तियों में यह लेख अंकित है-

    1. .... निया सोन देवि (ये)

    2. .... थमो दान (.)

अर्थ- ''यह स्तम्भ स्वर्णदेवी का दान है।''

इस वेष्टिनी के लेख से यह स्पष्ट हुआ है कि किसी भी जंगले के निर्माण में चंदा लगाकर धन एकत्र किया जाता था और एक-एक को अलग-अलग उपासक-उपासिका निर्मित कराती थी।

2. एक अन्य खण्डित वेष्टिनी पर एक पंक्ति में ब्राह्मी लिपि में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का ही यह लेख अंकित है-

    1. सीहये साहि जन्तेयिकाये थभो।

अर्थ- ''यह स्तम्भ सिंह के साथ जन्तेयिका का दान है।''

3. उपर्युक्त पहली वेष्टिनी के ही एक भाग पर ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा का एक पंक्ति में यह लेख उत्कीर्ण है-

    1. काये भिखुनि वसुतरगुताये दानं थ (भो)

अर्थ- ''यह स्तम्भ भिक्षुणी वसुधर गुप्ता का दान है।''

4. एक दूसरे लेख से ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ गुप्तकाल में दीपदान के काम आता था। इसमें दो छोटे-छोटे ताख बने हुए है और एक के नीचे 4 पंक्ति का लेख है, जो इस प्रकार है-

   1. देयधर्म्मोयं परमोपा
   2. सिका सुलक्ष्मणाय मूल
   3. (गन्धकुटयां भ) गवतो बुद्धस्य
   4. प्रदीप :

अर्थ- 'यह प्रदीप भगवान बुद्ध की मूलगन्धकुटी के लिए अत्यन्त श्रद्धालु उपासिका सुलक्ष्मणा का धर्म दान है।'

5. दूसरे ताख के नीचे भी लेख था, किन्तु वह अत्यन्त घिस गया है। यह लेख तीन पंक्तियों में था। केवल एक ही शब्द पढ़ा जा सकता है-

   'प्रदीव (पः)'

6. एक स्तम्भ पर प्राकृत भाषा में एक पंक्ति में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के अक्षरों में यह लेख अंकित है-

   (भ) रिनिये सहं जतेयिका (ये थभो दानं)

   अर्थ- 'यह स्तम्भ भरणी के साथ जतेयिका का दान है।'

7. एक स्तम्भ के खण्डित भाग पर ब्राह्मी लिपि में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का दो पंक्तियों में एक लेख उत्कीर्ण है, किन्त वह बहु घिस गया है। दूसरी पंक्ति का केवल यहीं शब्द पढ़ा गया है-

   दानं (.)

8. एक वेष्टिनी के पत्थर पर ब्राह्मी लिपि में दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का एक पंक्ति में यह लेख उत्कीर्ण है-

'भिखुनिकाये संवहिकाये दानं आलंवन'

अर्थ- 'यह आधार स्तम्भ भिक्षुणी संवाहिका का दान है।' विद्वानों का कथन है कि यह वेष्टिनी का पत्थर अशोक वेष्टिनी का ही अंश है।

2. सारनाथ से प्राप्त अश्वघोष (क्षत्रपकालीन) का लेख[72] :

सारनाथ की खुदाई में क्षत्रपकालीन दो लेख प्राप्त हुए हैं-

1. अशोक स्तम्भ पर राजा **अश्वघोष** के समय का एक 4 फुट 8 इंच लम्बा एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है, यथा-

   1. प्रारिप्हे रञा अश्वघोषस्य चतरिशे सवछरे हेमन्त पखे प्रथमें दिवसे दसमें...

अर्थ- राजा अश्वघोष के 40 वें वर्ष में, हेमन्त के प्रथम पक्ष में, दसवें दिन...

2. राजा अश्वघोष के ही समय का दूसरा लेख इस प्रकार है-

   1. राज्ञो अश्वघोष (स्य)

   2. (उपल) हे (मन्तपखे)

❖ कुषाणकालीन अभिलेखः

1. सारनाथ से प्राप्त कुषाणयुगीन बोधिसत्त्व मूर्ति लेख, वर्ष-3[73]

कनिष्क के कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलेख भारतवर्ष में पाये गये, जिसमें उसके शासन के बारे में, महात्मा बुद्ध के आदर्शों एवं बोधिसत्त्व के बारे में बताया गया है। ऐसा एक मूर्त्ति लेख उत्तर-प्रदेश की सांस्कृतिक नगरी काशी (वाराणसी) के सारनाथ नामक बौद्ध-स्थल से प्राप्त हैं, जिसमें बोधिसत्त्व एवं भिक्षुणी त्रिपिटकाचार्य का वर्णन है। सारनाथ के तृतीय राज्य वर्ष की बोधिसत्त्व प्रतिमा के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि लगभग 81 ई0 में प्रयाग तथा काशी क्षेत्र कनिष्क के अधिकार में आ गया था। सारनाथ लेख से

ज्ञात होता है कि कनिष्क के तृतीय राज्य वर्ष में त्रिपिटक भिक्षु बल ने लाल बलुए पत्थर की छत्रयुक्त विशाल प्रतिमा सारनाथ में उस स्थान पर स्थापित की थी, जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था। सम्राट कनिष्क के शासन काल के तीसरे वर्ष में काशी के क्षत्रप वनस्पर थे और कनिष्क ने काशी का शासन उन्हीं के अधीन कर रखा था।

कनिष्क बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का अनुयायी था। महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्त्व की परिकल्पना हो चुकी थी। महायान सम्प्रदाय के अनुयायी महात्मा बुद्ध को देवता की तरह पूजते थे और इस समय तक महात्मा बुद्ध की मूर्त्ति भी बनने लगी। बोधिसत्त्व से तात्पर्य स्वयं मोक्ष पाने से पहले दूसरे व्यक्ति को मोक्ष दिलवाने का प्रयत्न करते रहना जब तक कि उस व्यक्ति को मोक्ष न प्राप्त हो जाये। **बोधिसत्त्व अर्थात् जिसे अभी बुद्धत्त्व नहीं प्राप्त हुआ है और जो बुद्ध होने के मार्ग पर है।** इस प्रकार सम्बोधि प्राप्ति के पूर्व की बुद्ध-प्रतिमाओं को 'बोधिसत्त्व' कहा गया है, जिसमें उन्हें राजकीय वस्त्रों से युक्त दिखाया गया है। बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की मूर्ति में मतभेद न हो इसीलिए संभवतः त्रिपिटकाचार्य बुद्धमित्रा ने वाराणसी के सारनाथ में इस मूर्ति पर लेख लिखवाया।

अभिलेख में उल्लिखित है कि महाराज कनिष्क के तीसरे शासन वर्ष के, हेमन्त ऋतु के तीसरे माह के 22 वें दिन, इस उपर्लिखित तिथि में भिक्षु पुष्यवृद्धि के सहयोगी (एक ही विहार में रहने वाले भिक्षु) त्रिपिटकाचार्य बल के द्वारा अपने माता-पिता के साथ, अपने अध्यापक और गुरुओं के साथ अपने अन्तेवासियों और शिष्यों के साथ, और त्रिपिटक में निष्णान्त (पारंगत) भिक्षुणी बुद्धमित्रा के साथ और क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लाण तथा चारों वर्णों के साथ, क्षत्र एवं दण्ड से युक्त इस बोधिसत्त्व की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना वाराणसी में जहाँ भगवान बुद्ध चंक्रमण (भ्रमण) करते थे, सभी प्राणियों के कल्याण और सुख के लिए की गई।

2. सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन पालि भाषा का लेख[74] :

एक छत्र के खण्डित भाग पर चार पंक्तियों का एक लेख सारनाथ की खुदाई में पाया गया। यह लेख कुषाणकालीन लिपि में है। यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि लेख में तथागत (बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट **चार आर्यसत्यों** का उल्लेख है। **डॉ0 स्टेन कोनोव** ने लिखा है कि उत्तरी भारत में पालि भाषा का यह पहला लेख प्राप्त हुआ है। इससे सूचित होता है कि कुषाण-काल में वाराणसी (काशी) में पालि ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार था। लेख तिथिहीन है। लेख इस प्रकार है-

1. चत्तारिमानि भिक्खवे अ (ि) र य सच्चानि
2. कतमानि (च) त्तारि दुक्खं ति भिक्खवे अरियसच्चं
3. दुक्खसमुदय (ो) अरियसच्चं दुक्खनिरोधो अरियसच्चं
4. दुक्खनिरोधगामिनी (च) पटिपदा अरि (य) सच्चं।

अर्थ- भिक्षुओं! ये चार आर्यसत्य हैं। कौन चार? भिक्षुओं! दुःख आर्यसत्य, दुःख समुदय-आर्यसत्य, दुःखनिरोध आर्य सत्य और दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य।

उक्त लेखांकित छत्र का खण्डित भाग सन् 1906-07 की खुदाई में प्रधान मंदिर के पश्चिमोत्तर भाग में स्तूप संख्या 13 और 14 के मध्य 4½ इंच नीचे भूमि में छिपा मिला था। पहले कुछ अंग्रेज विद्वान् यह मानते थे कि पालि भाषा लंका के बौद्धों की एक कृत्रिम भाषा है और यह कभी भारत में नहीं बोली जाती थी। उनका कथन इस लेख से सर्वथा तथ्यहीन हो गया। इस लेख में दिया गया तथागत का उपदेश बुद्ध की 'सामुसंकिसा देसना' (स्वयं अर्जित ज्ञान द्वारा प्राप्त देशना) कही जाती है। 'चार आर्यसत्य' बौद्ध-धर्म का मूलाधार है।

3. बभनियांव से प्राप्त अभिलेख[75]

यह पुरास्थल वाराणसी शहर से 25 किमी. दूर दक्षिण-पश्चिम में गंगा नदी के सहायक एवं विलुप्त हो चुके प्राचीन प्रवाह पथ पर स्थित है। यहाँ से कुषाणकालीन अभिलेख की प्राप्ति हुई है, जिसकी तिथि 45 शक संवत् है। अभिलेख की भाषा प्राकृत एवं लिपि कुषाणकालीन ब्राह्मी है। अभिलेख में उत्कीर्ण दो पंक्तियों में भगवान **शिव** के सम्मान हेतु दान का उल्लेख है। इस अभिलेख के प्राप्त होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शैव धर्म का कुषाणकालीन काशी क्षेत्र में अस्तित्व था।

❖ गुप्तकालीन लेख :

1. स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ लेख[76]-

उत्तर प्रदेश के काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत गाजीपुर जिले की सैदपुर तहसील में इसी नाम के कस्बे से करीब 5 मील उत्तर पूर्व की तरफ स्थित भीतरी नामक ग्राम से यह अभिलेख मिला है। यह अभिलेख इस गाँव के ठीक बाहर स्थित भूरे बलुएँ पत्थर के एक स्तम्भ की चौकोर आधार पीठ पर उत्कीर्ण है। 1834 ई0 में **ट्रेगियर** ने इसे सर्वप्रथम देखा था। उस समय अभिलेख वाला अंश मिट्टी के नीचे दबा था। कनिंघम द्वारा जब उसके चारो ओर की मिट्टी हटाई गई तो यह लेख प्रकाश में आया। 1836 ई0 में उन्होंने इसके प्राप्त होने की सूचना प्रकाशित की। 1867 ई0 में रेवरेण्ड. डब्ल्यू. एच. मिल ने इसे अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया। 1871 ई0 में कनिंघम ने, 1875 ई0 में भाऊ दाजी ने और 1885 ई0 में भगवान लाल इन्द्र जी ने अपने-अपने पाठ और अनुवाद प्रकाशित किये। अन्त में फ्लीट ने उसे सम्पादित कर प्रकाशित किया और भण्डारकर ने उसका पुनर्परीक्षण किया है।

प्रस्तुत लेख, स्कन्दगुप्त द्वारा अपने पिता (कुमारगुप्त प्रथम) की कीर्त्ति और पुण्य के निमित्त मंदिर निर्माण कराकर **शार्ङ्गिण (विष्णु संभवतः राम)** की प्रतिमा को स्थापित

करने और उसके निमित्त ग्राम दान देने की विज्ञप्ति है। लेख की अंतिम 3-4 पंक्तियाँ क्षतिग्रस्त और अस्पष्ट है जिसके कारण इस मंदिर तथा उसे दिये गये ग्राम-दान सम्बन्धी जानकारी अधिक उपलब्ध नहीं हो पाती है। अनुमान किया जा सकता है कि भीतरी ग्राम ही, जहाँ स्तम्भ से सटे मंदिर अवशेष मिले हैं, दान में दिया होगा।

इस लेख की आरम्भिक 15 पंक्तियों में स्कन्दगुप्त का प्रशस्ति गान है। इन्हीं पंक्तियों के कारण ही इस अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व माना जाता है।

2. कुमारगुप्त (द्वितीय) का सारनाथ बुद्ध-मूर्ति लेख, वर्ष-154 (473 ई0)[77]

यह लेख जिस बुद्ध-प्रतिमा पर उत्कीर्ण है, वह वाराणसी के समीप सारनाथ नामक बौद्ध-स्थल से **एच. हारग्रीब्ज** को मिली थी। लेख प्रतिमा की चरण चौकी पर तीन पंक्तियों में तीन श्लोकों के रूप में लिखा है। इसकी भाषा संस्कृत एवं लिपि 5वीं शती के उत्तरार्द्ध की उत्तर भारतीय ब्राह्मी है। अक्षरों का औसत आकार 1½" है। इसके श्लोक दिनेश चन्द्र सरकार के अनुसार क्रमशः उद्‌गीति, आर्या और गीति (?) छन्दों में है तथा भण्डारकर के अनुसार तीनों की आर्या छन्द में। तीसरे छन्द का अंतिम पाठ अपठ्य हो गया है।

प्रस्तुत लेख उस बुद्ध-मूर्ति की स्थापना की सामान्य विज्ञप्ति है जिस पर यह अंकित है। उसे **भिक्षु अभयमित्र** ने प्रतिष्ठित किया था। इसमें उल्लिखित गुप्तवंशीय शासक कुमारगुप्त के नाम और उसके शासन-वर्ष के उल्लेख के कारण ही इसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

इस अभिलेख का सर्वाधिक महत्त्व का यह तथ्य है कि इससे निर्णायक रूप से सिद्ध हो जाता है कि कुमारगुप्त नामक एक गुप्त सम्राट, जो प्रथम कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य से भिन्न था (क्योंकि उस कुमारगुप्त की मृत्यु 455 ई0 में या उसके पूर्व हो गयी थी), गुप्त संवत् 154 (473 ई0) में शासन कर रहा था। 473 ई0 में शासन करने वाला

यह कुमारगुप्त स्पष्टतः वह कुमारगुप्त होगा जो रेशम बुनने वालों की श्रेणी द्वारा लिखवाये गये मन्दसौर-लेख के अनुसार मालव-संवत् 529 (472 ई0) में शासन कर रहा था।

3. बुद्धगुप्त का सारनाथ बुद्ध-मूर्त्ति लेख, गुप्त संवत् 157 (476 ई0)[78]

1914-15 में पुरातात्त्विक उत्खनन के समय सारनाथ (वाराणसी) के कुमारगुप्त (द्वितीय) के लेख वाली मूर्त्ति के साथ बुद्ध की दो अन्य मूर्त्तियाँ मिली थी, जो अब सारनाथ संग्रहालय में हैं। इन दोनों ही मूर्त्तियों पर समान रूप से एक ही लेख है। यह लेख दोनों मूर्त्तियों पर खण्डित है। पर दोनों लेखों को साथ देखने पर पूरा लेख संरक्षित किया जा सकता है। इन लेखों को **एच. हारग्रीब्ज** ने प्रकाशित किया है। इसकी भाषा-संस्कृत एवं लिपि ब्राह्मी (उत्तरी रूप) है।

यह छत्र दण्ड युक्त पद्मासन बुद्धमूर्त्ति के जिस पर यह लेख अंकित है, निर्माण एवं प्रतिष्ठापन का सामान्य घोषणा पत्र है। इस मूर्त्ति की भी स्थापना अभिलेख 40 वाले बुद्धमूर्त्ति की तरह ही भिक्षु **अभयमित्र** ने की थी किन्तु यह उससे लगभग तीन वर्ष बाद की है। इस लेख का ऐतिहासिक महत्त्व बुद्धगुप्त के नाम और उसके शासन काल के उल्लेख में निहित है। यह बुद्धगुप्त के शासनकाल की अभिव्यक्ति करने वाला अद्यतम लेख है।

4. सारनाथ से प्राप्त तिथिविहीन लेख[79] :

कनिंघम द्वारा प्राप्त इस लेख का ज्ञान जन सामान्य को उन्हीं के द्वारा, 1871 ई0 में आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, जिल्द 1, पृ0 123 तथा प्रति चित्र 34, सं0 4 के माध्यम से हुआ। यह लेख बालुकाश्म निर्मित उकेरी में प्रदर्शित बुद्ध के जीवन के तीन दृश्यों के नीचे अंकित है, उकेरी इस स्थान पर उत्खनन-कार्य के समय पाई गई थी। मूल प्रस्तर खण्ड अब कलकत्ता स्थित इम्पीरियल म्यूजियम में है।

सम्पूर्ण लेखन, जो लगभग 1⅜ इंच तथा 2¼" ऊँचा स्थान घेरता है, पर्याप्त सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का औसत आकार लगभग 7/16" है। अक्षर उत्तरी-प्रकार की वर्णमाला के विशिष्ट रूपेण चौकोर स्वरूप के हैं। भाषा संस्कृत है तथा लेख गद्य में है। वर्ण विन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं मिलती। लेख स्वयं को किसी शासक विशेष के शासनकाल में नहीं रखता, तथा तिथिविहीन है। किन्तु लिपिशास्त्रीय आधारों पर उसे स्थूलतः पाँचवी शताब्दी ई0 में रखा जा सकता है। यह बौद्ध-लेख है; तथा इसका प्रयोजन यह है कि यह मूर्त्ति, जिसके नीचे लेख का उत्कीर्णन हुआ है, **हरिगुप्त** नामक भिक्षु के आदेश से बनाई गई थी।

5. राजघाट (वाराणसी) स्तम्भ लेख, गु0सं0 159 (478 ई0)[80]

यह स्तम्भ, जिस पर यह लेख लिखा है, उत्तर-प्रदेश के वाराणसी नगर में राजघाट स्थल से मिला था। आज कल यह भारत कला भवन, वाराणसी में रखा है। चुनार के बलुआ पत्थर से निर्मित यह स्तम्भ 4' 4½" ऊँचा है। इसके आयताकार आधार में, जो 2' 4½" ऊँचा है, चार आलो में विष्णु के चार अवतारों की मूर्त्तियाँ बनी हैं। लेख का आकार 1.4' है और अक्षरों का औसत-आकार ½" × ½" है। लेख की भाषा संस्कृत है और लिपि 5वीं शती के उत्तरार्द्ध की ब्राह्मी। लेख के व्याकरण व वर्तनी में कुछ अशुद्धियाँ है। लेख का उद्देश्य **दामस्वामिनी** नामक महिला द्वारा इस स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख करना है।

6. बुद्धगुप्त का भीतरी शिलापट्ट लेख गु0सं0 170 (489 ई0)[81]

स्कन्दगुप्त द्वारा स्थापित स्तम्भ के आस-पास **प्रो0 के0के0 सिन्हा** द्वारा 1974-75 में उत्खनन के परिणामस्वरूप तीन खण्डों में टूटा यह शिलापट्ट अभिलेख प्रकाश में आया। इस शिलापट्ट पर 18×22.5 सेमी की परिधि में लेख अंकित है और नीचे की ओर खण्डित हैं। पट्ट के दाहिनी ओर की मोटाई 4.5 सेमी. है जिस पर अधूरे शब्दों के

अक्षरों की 5 पंक्तियाँ उत्कीर्ण है। जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह शिलाखण्ड काफी मोटा रहा होगा। इस अभिलेख को प्रो0 पृथ्वी कुमार अग्रवाल ने प्रकाशित किया। इसकी भाषा संस्कृत एवं लिपि उत्तरवर्ती ब्राह्मी है।

अभिलेख के खण्डित होने से उसका प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उत्तर-वाटिका स्थान में कोई उद्यान (पुष्प गृह) और उससे संलग्न कोई पुष्करणी (तालाब) थी। वहाँ कदाचित कोई सवितृ (सूर्य) का मंदिर भी था। उससे उत्तर की ओर सटे वट्ट नामक उद्यान (पुष्प गृह) में स्थित देव-मंदिर में कोई कार्य सम्पन्न किया गया था, उसी के स्मारक स्वरूप यह स्तम्भ खड़ा किया गया होगा।

7. कुमारगुप्त तृतीय का भीतरी से प्राप्त मुद्राभिलेख[82] :

1885 ई0 के आस-पास अभिलिखित ताम्र-रजत में निर्मित यह मुद्रा लाट (स्तम्भ) क्षेत्र से मकान के लिए नींव खोदते समय प्राप्त हुई थी। जिसे स्थानीय मुसलमान निवासी ने कानपुर के जज सी0जे0 निकोलस को भेंट की थी। यह मुद्राभिलेख वर्तमान समय में राजकीय संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित है। फ्यूहरर महोदय ने इसकी पहचान चाँदी की मुद्रा के रूप में किया था। परन्तु जाँच के बाद यह पता चला कि यह ताम्र, रजत एवं स्वर्ण में निर्मित है। सम्पूर्ण मुहर का वजन 60 तोला के आस-पास है।

इस मुद्रा के निर्माण में 62.97 प्रतिशत ताँबा, 36.225 प्रतिशत चाँदी तथा सोने की हल्की झलक दी गयी है। अण्डाकार आकृति का यह मुद्राभिलेख (मुहर) ऊपर से नीचे की तरफ नुकीली पौने छः इंच लम्बी और साढ़े 4 इंच चौड़ी है। दो भागों में विभक्त इस मुहर के ऊपरी भाग में पंख फैलाये गरुड़ का सम्मुख उभरा हुआ अंकन है। इनका मानव रूपी मुख चौड़ा है। होंठ मोटे हैं तथा गले में सर्प लिपटा हुआ है। सर्प फन बाँये कंधे पर उठा है। गरुड़ के एक ओर चक्र और दूसरी ओर शंख है। जिसके आधे भाग में लेख अंकित है। भीतरी से प्राप्त इस मुहर का उल्लेख सर्वप्रथम **वी0ए0 स्मिथ** ने किया था। तत्पश्चात् ए.एफ.आर. हार्नले ने भी उसे प्रकाशित किया। अन्त में जॉन. फेथफुल फ्लीट ने

इसके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर प्रकाशित किया। भाषा संस्कृत एवं लिपि गुप्तकालीन ब्राह्मी है।

भीतरी के धातु-मुहर का महत्त्व इसीलिए है कि उसके प्रकाश में आने पर गुप्तवंश के इतिहास के सम्बन्ध में बनी धारणाओं ने एक नया मोड़ लिया। उस समय तक स्कन्दगुप्त को गुप्तवंश का अंतिम शासक समझा जाता रहा। मुद्रा-लेख ने कुमारगुप्त (प्रथम) के बाद दो पीढ़ियों के अस्तित्व का परिचय दिया और यह बात सामने आयी कि गुप्तवंश में एक नहीं, दो कुमारगुप्त हुए थे। उस समय प्रस्तुत मुद्रा-लेख के कुमारगुप्त को द्वितीय कुमारगुप्त कहा गया, किन्तु सिक्कों के साक्ष्य से एक अन्य कुमारगुप्त, (कुमारगुप्त तृतीय) की जानकारी हुई और यह मुद्रा उसी कुमारगुप्त तृतीय की है।

8. भीतरी शिलालेख, गु.सं. 221 (540)[83]

भीतरी के उत्खखन क्षेत्र छः से प्रो0 के0के0 सिन्हा को यह शिलापट्ट उत्खखन के दौरान प्राप्त हुआ। जिसे प्रो0 पी0के0 अग्रवाल ने सम्पादित किया। यह अभिलेख उत्तरी ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण है। गद्य शैली में तीन पंक्तियों के इस अभिलेख में महादण्डनायक और महाराजा श्री **म** प्रधान अंकित है। यह नाम संभवतः शासकीय हाथियों के मुख्य अधिकारियों से सम्बन्धित है। अभिलेख की तिथि गु.सं. 221 (540 ई0) है।

❖ मौखरि शासक ईश्वरवर्मा का खण्डित जौनपुर पाषाण फलक अभिलेख[84]

जौनपुर के जामी मस्जिद के छठी शताब्दी ई0 का यह विवादास्पद लेख प्राप्त हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत एवं लिपि गुप्तोत्तरकालीन ब्राह्मी है। अभिलेख में कोई तिथि वर्णित नहीं है। तिथि-निर्धारण शिलोलख-शास्त्र एवं घटनाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर किया गया है। इस अभिलेख में **ईश्वरवर्मन** नाम का उल्लेख हुआ है, जिसे मौखरि

वंश से सम्बन्धित किया जाता है। यह अभिलेख शिलापट्ट पर उत्कीर्ण है। इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि संभवतः मौखरि वंश के राजा ईश्वरवर्मन ने इस क्षेत्र में एक मंदिर का निर्माण एवं अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाया था। इस अभिलेख का सर्वप्रथम अध्ययन **ए0 कनिंघम** द्वारा किया गया था एवं बाद में इसका **जे.एफ. फ्लीट** द्वारा अनुवाद प्रकाशित किया गया।

लेख का क्षेत्रफल 1' 3½ × 1' 1½ है। यह एक बड़े लेख का अंश मात्र है। इसका निचला अंश और उपलब्ध पंक्तियों का प्रारम्भिक भाग नष्ट हो चुका है। फ्लीट के अनुसार प्रत्येक पंक्ति के 38 से 72 तक अक्षर नष्ट हुए हैं। अक्षरों का औसत आकार 7/16" है। इसकी लिपि उत्तरी प्रकार की ब्राह्मी है और सर्ववर्मा की असीरगढ़- मुहर की लिपि जैसी पर उससे कुछ अधिक अलंकरणपूर्ण है। इसकी भाषा संस्कृत है और इसका उपलब्ध अंश पूर्णत छन्दोबद्ध है। उपलब्ध पंक्तियों में न तिथि दी गई है और न इससे इसके लिखवाये जाने का उद्देश्य ज्ञात हो पाया है। फिर भी यह लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें मौखरि राजा ईश्वरवर्मा का न केवल उल्लेख है वरन् उसके शासनकाल की कुछ घटनाओं की चर्चा भी है, उनका रूप यद्यपि लेख की खण्डितावस्था के कारण पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता परन्तु इनसे ईश्वरवर्मा तथा उनके पुत्र ईशानवर्मा का इतिहास जानने में काफी सहायता मिल जाती है।

इस अभिलेख में केवल एक मौखरि राजा ईश्वरवर्मा, का नाम अवशिष्ट बचा है। चौथी पंक्ति में उपलब्ध भाग के पूर्व उसके पिता का वर्णन था, जिसका नाम सर्ववर्मा की असीरगढ़ मुद्रा के अनुसार, आदित्यवर्मा था।

अभिलेख में मात्र ईश्वरवर्मा नाम मिलने के कारण फ्लीट ने इस लेख को ईश्वरवर्मा का जौनपुर लेख नाम दिया था, यद्यपि उन्होंने यह भी लिखा है कि लेख इतना क्षत अवस्था में है कि यह कहना कठिन है कि इसमें प्रदत्त ऐतिहासिक सूचनाएँ ईश्वरवर्मा के बारे में है

या उसके किसी वंशज के बारे में। डी.सी. सरकार के अनुसार इस लेख की 7वीं- 8वीं पंक्तियों में आन्ध्रों पर विजय का वर्णन है। हरहा लेख के13वें श्लोक के अनुसार ईश्वरवर्मा ने आन्ध्रों को हराने का श्रेय पाया था, इसलिए जौनपुर लेख या तो ईशानवर्मा का है या उसके किसी वंशज का। इसमें उपलब्ध वर्णन ईश्वरवर्माकालीन सफलताओं का है।

❖ प्रकटादित्य का सारनाथ तिथिविहीन अभिलेख[85] :

यह लेख, जनरल **कनिंघम** को वाराणसी के निकट स्थित सारनाथ से प्राप्त हुआ था। यह लेख प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्ण है, जो अब 2' ½ × 2'6 आकार का है। यह किसी विशालतर लेख का अंशमात्र है। यह अत्यन्त क्षत अवस्था में मिला है। इसका निचला दॉया भाग तो मिट सा गया है। इसकी भाषा संस्कृत है और लिपि उत्तर भारतीय ब्राह्मी। फ्लीट ने इसकी लिपि को सातवीं शती ई0 का बताया है, परन्तु वस्तुतःयह इतना बाद का नहीं है। लेख की अंतिम पंक्ति गद्यात्मक जान पड़ती है, परन्तु शेष लेख पद्य में है। यद्यपि इसके खण्डित होने के कारण छन्दों की पहचान असंभव है। वर्तनी में अनुवर्ती 'र' के साथ संयुक्त होने पर 'त' का द्वित्व तथा ब के स्थान पर कहीं-हीं 'व' का प्रयोग (यथा, पंक्ति 3 में 'बालादित्य' में) उल्लेख हैं।

यह लेख प्रकटादित्य नामक राजा का है। इसका उद्देश्य **मुरद्विष** नामक अर्थात् विष्णु के मंदिर के लिए किसी प्रकार की सहायता दिये जाने का उल्लेख करना है। अभिलेख 16 पंक्तियों में निहित है।

यह लेख इतना खण्डित है कि इसका सुसम्बद्ध अनुवाद नहीं किया जा सकता। परन्तु इससे कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ अवश्य ज्ञात होती हैः (1) इस लेख में श्रीमान् 'प्रकटादित्य' का उल्लेख है (पंक्ति-6) जिसके गुण और शक्ति कार्त्तिकेय के समान थे (पंक्ति-9)। (2) वह **काशी** नगर से किसी प्रकार सम्बद्ध रहा होगा, जिसका उल्लेख पंक्ति

(1) में हुआ हैं (3) वह बालादित्य का पुत्र था जिसकी पत्नी का नाम 'धवला' था। धवला की तुलना चन्द्रमा की पत्नी रोहिणी, शूलपाणि (शिव) की पत्नी गौरी तथा वासुदेव की पत्नी लक्ष्मी से की गयी है (पंक्ति-4)। (4) इस बालादित्य के पूर्व इस वंश में एक और बालादित्य हो चुका था (पंक्ति-3)। (5) लेख की पंक्ति 11 में मुरद्विष देवता के मंदिर के निर्माण का उल्लेख है, पंक्ति 14 में जीर्णोद्धार के लिए दी गयी किसी सुविधा का तथा पंक्ति 16 में संभवतः उत्कीर्णक के रूप में रामचन्द्र के पुत्र देवक का।

इस लेख का सर्वाधिक महत्त्व इसमें बालादित्य नामक दो राजाओं की चर्चा होना है- एक बालादित्य वह जो प्रकटादित्य का पिता था और दूसरा वह जो उसके पूर्व उसके वंश में कभी हुआ था। हमारे साक्ष्य भी वस्तुतः दो बालादित्य की चर्चा करते हैं- (1) साहित्यिक साक्ष्य दो बालादित्य से परिचित है। 'आर्यमंजूश्रीमूलकल्प' के अनुसार महेन्द्र (कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य) के उत्तराधिकारी सकार (स्कन्दगुप्त) का उत्तराधिकारी बाल (बालादित्य) था। परमार्थ द्वारा लिखित 'वसुबन्धु की जीवनी' के अनुसार भी विक्रमादित्य (स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य) का उत्तराधिकारी बालादित्य (प्रथम नरसिंह गुप्त बालादित्य) था। इस बालादित्य का समय लगभग 467-70 ई0 होगा। दूसरी तरफ युवानच्वांग बालादित्य राज को मिहिरकुल (छठी-शती का दूसरा-तीसरा दशक) का समकालीन बताता है और नालन्दा में संघाराम बनवाने वाले राजाओं में उसे बुद्धगुप्तराज (बुधगुप्त) तथा तथागत-राज (बुद्धगुप्त का बुद्ध = तथागत नाम से पुर्नल्लेख) के बाद रखता है। (2) मौद्रिक साक्ष्य से भी दो नरसिंहगुप्त बालादित्यों का अस्तित्व प्रमाणित है।

प्रस्तुत लेख गुप्त वंश में उत्पन्न दो शासकों नरसिंहगुप्त एवं बालादित्य को आभिलेखिक आधार प्रदान करता है क्योंकि इसमें दो बालादित्य का स्पष्ट उल्लेख है। गुप्त-वंश में दो बालादित्य हुए, साहित्यिक तथा मौद्रिक साक्ष्यों से सिद्ध है। यह इस अभिलेख से समर्थित होता है।

❖ प्रहलादपुर प्रस्तर स्तम्भ लेख[८६]-

यह लेख **कैप्टन टी.एस. बर्ट** द्वारा पाया गया था, तथा जनसामान्य को इसका ज्ञान सर्वप्रथम, 1838 में, जर्नल ऑफ द बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, जि.-7,पृ0 1055 के माध्यम से हुआ, जिसमें श्री जेम्स प्रिंसेप ने लेख के मूल-पाठ का- जैसा कि यह कैप्टन बर्ट की प्रति लिपि से पण्डित कमलाकान्त द्वारा पढ़ा गया था- तथा इसके साथ अपने अनुवाद का प्रकाशन किया।

प्रहलादपुर, नार्थ वेस्ट प्राविंसेज में गाजीपुर जिले में जमानिया तहसील में महाईच परगना के प्रमुख नगर धानापुर से छः मील पूर्व-दक्षिण में गंगा-नदी के दाहिने तट पर बसा हुआ एक गाँव है। यह लेख बलुए पत्थर के एकाश्मक स्तम्भ पर अंकित हैं; स्तम्भ की परिधि 3 फीट है, स्तम्भ की कुल लम्बाई 36 फीट है। लेख स्थापना पर आधे से अधिक भूमि में गड़ा हुआ पाया गया था और कालान्तर में लगभग 1853 में इसे वाराणसी लाया गया और संस्कृत कालेज के प्रांगण में, उत्तर की ओर गाड़ा गया जहाँ यह स्तम्भ था।

लेखन का अधिक भाग अत्यन्त सुरक्षित अवस्था में है; किन्तु श्लोक के तीसरे पाद में कुछ अक्षर, जिनमें राजा का नाम अंकित था, दुर्भाग्यवश पूर्णतया उचट गए हैं एवं सर्वथा अपठनीय है। लेख की भाषा संस्कृत है; लेख केवल एक श्लोक का है जिसके प्रारम्भ में इह= 'यहाँ' शब्द आता है। वर्ण विन्यास में कोई उल्लेखनीय विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती। अभिलेख तिथिहीन है एवं किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं। यह किसी राजा की प्रसिद्धि में लिखा गया है जिसका नाम, यदि लिखा गया था तो, धारण करने वाला भाग उचट गया है और अब अप्राप्य है। श्लोक के अंतिम पाद में की गई तुलना के आधार पर श्री प्रिंसेप ने यह सुझाया कि राजा का नाम लोकपाल था। किन्तु श्लोक के तृतीय पाद से हमें निश्चितरूपेण सुविज्ञात **शिशुपाल** नाम मिलता है; चाहे वह स्वयं राजा के नाम के रूप में ही यहाँ अंकित हो, अथवा यह पुराणों में चर्चित चेदिराज

शिशुपाल, जिसके साथ इसकी तुलना की गई है। जान पड़ता है कि जिस राजा का लेख इस स्तम्भ पर अंकित है उसका नाम शिशुपाल था।

लेख का महत्त्व इसकी प्राचीन तिथि में- जैसाकि इसके अक्षरों से जान पड़ता है तथा संभावना में निहित है कि यह लेख पल्लवों का है जो कि उत्तरी भारत से प्राप्त होता है। राजा के लिए पार्थिवानी कपाल : पद का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद 'राजाओं की सेनाओं का रक्षक' मात्र हो सकता है।

❖ पंथ का सारनाथ अभिलेख[87]

दयाराम साहनी के द्वारा प्रकाशित यह अभिलेख पाषाण (पट्टिका) पर अंकित है। जिसकी ल0 26 इंच तथा चौ0 15 इंच (66 सेमी0×38 सेमी0) है। अभिलेख में 8 पंक्तियाँ है किन्तु कुछ अक्षर खंडित अवस्था में है। लिपि 8वीं शताब्दी की ब्राह्मी एवं भाषा संस्कृत है। अभिलेख तिथिविहीन है। अभिलेख में **पंथ** ने वाराणसी की प्रशंसा करते हुए उसके धार्मिक जीवन के बारे में बताया है। लेख की प्रथम पंक्ति में यह उल्लेख है कि वाराणसी ने त्रिभुवन को अपने में समेट रखा था। दूर-दूर से आए विरक्त जन्म-मरण से मोक्ष पाने के लिए यहाँ तप करते थे। **अभिलेख इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें पंथ के द्वारा अत्यन्त धन लगाकर अनेक धार्मिक कृत्यों के पश्चात् चंडी की मूर्त्ति स्थापित की गई ।** इसके साथ ही उनके द्वारा भवानी की मूर्त्ति का भी निर्माण करवाया गया। चंडी की यह मूर्त्ति अत्यन्त भीषण थी और उसके गले में नरमुंड की माला, सर्प लटकते हुए एवं परशु में सूखा मांस लगा हुआ था। वह लीला भाव से नृत्य कर रही थी और उसके नेत्र घूम रहे थे। पंथ बचपन से ही विनय व्याप्त भद्रमूर्त्ति, त्यागी, धीर, कृतज्ञ तथा कम ही आय में संतोष करने वाले थे एवं नित्य-प्रतिदिन शिव की पूजा अर्चना करते थे।

❖ सारनाथ से प्राप्त पालकालीन अभिलेख :

सारनाथ से प्राप्त पालवंशीय राजाओं के समय के लेख उल्लेखनीय है। पालवंश के समय सारनाथ का पुनः जीर्णोद्धार हुआ था। इनका वर्णन निम्नवत् है-

1. सारनाथ की खुदाई में मिले एक द्वार के किनारे वाले भाग पर एक पंक्ति में 9वीं शताब्दी का एक लेख प्राप्त हुआ, जिसे डॉ0 स्टेन कोनोव ने इस प्रकार पढ़ा-
   विश्वपालः दश चैत्यांस्तु यत् पुण्यं कारयित्वार्ज्जितं मया (।) सर्व्वलोको थवे (तेन) सर्व्वज्ञः करुणामयः। श्री जयपाल............एतानुद्दिस्य कारितमामृतपाले (न)

अर्थ- विश्वपाल! दस चैत्य बनवाकर जो मैनें पुण्य अर्जित किया है, उससे सारा संसार सर्वज्ञ तथा कारुणिक हो। श्री जयपाल......। इसी उद्देश्य से (वे चैत्य) अमृतपाल द्वारा बनवाए गए।

2. पालकालीन एक पूजा-स्तूप पर बुद्धमूर्त्ति के नीचे चार पंक्तियों में नागरी लिपि में एक लेख अंकित है, जिसका कुछ अंश ही पढ़ा जा सकता है। वह इस प्रकार है- यदत्र पुण्यं तद् भवतु।

अर्थ- इसमें जो पुण्य हुआ है, वह हो।

3. एक छत्र के खण्डित भाग पर पालयुगीन चार पंक्तियों का एक लेख मिला है-
   1. राजपुत्र श्री मा
   2. जुनदेवस शुभ
   3. राजपुत्र हथरि
   4. देवस।
4. एक प्रस्तर खण्ड पर यह प्रसिद्ध बौद्ध-श्लोक अंकित है- 'ये धर्म्मा- दे....।'
5. एक पूजा स्तूप पर यह लेख अंकित है, जो दो पंक्तियों में हैं-

1. देव (य) धर्मोयं
2. वार्णिकस्य

अर्थ- यह वणिक का धर्मदान है।

6. एक गुप्तकालीन बुद्धमूर्त्ति के आसन पर पालकालीन यह लेख अंकित है-
   'वाकुकस्य'

अर्थ- वाकुक का....।

7. एक चौकोर प्रस्तर-स्तम्भ पर भूमिस्पर्श मुद्रा में बुद्धमूर्त्ति बनी है। उस पर पीछे की ओर दो पंक्तियों में पाल-कालीन यह लेख अंकित है-
   1. .... तेषां तथा ....
   2. .... भय यो ....

इससे स्पष्ट है कि इस पर 'ये धर्म्मा हेतु प्रभवा' श्लोक रहा होगा।

8. महीपाल का सारनाथ अभिलेख (1026 ई0)[88]-

एक बुद्ध-मूर्ति के आसन पर तीन पंक्तियों का लेख मिला है। यह लेख महत्वपूर्ण है, इससे सारनाथ के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। लेख 11 वीं सदी की है। और यह इस प्रकार है-

1. ओं नमां बुद्धाय।। वाराणसी सरस्यां गुरव श्री वामराशि पादाब्जं।
   आराध्य नमित भूपति शिरोरुतैः शैवालाधीशं।।
   ईशानचित्र घण्टादि कीर्त्ति रत्न शतनि यौ।
   गौडाधिपो महीपालः काश्यां श्रीमान कार (यत्)।।
2. सफलीकृतपाण्डित्यौ बोधावविनिवर्त्तिनौ।
   तौ धमर्मराजिकां सांग धर्म्मचक्रं पुनर्नवं।।

कृतवन्तौ च नवीना मष्ट महास्थान शैलगन्धकुटीं।

एतां श्री स्थिरपालो वसन्तपालोनुजः श्रीमान्।

3. संवत् 1083 पौष दिने 11 ।।

अर्थ- ओं। भगवान् बुद्ध को नमस्कार है। वाराणसी रूपी जलाशय में चरणों पर झुककर प्रणाम करने वाले राजाओं के सिर के केश-कलाप के स्पर्श से जो इस प्रकार शोभित होते हैं, मानों शैवाल (संवार) से घिरे कमल हों, श्रीवामराशि नामक गुरुदेव के उन्हीं चरण रूपी कमलों की आराधना करके गौड़ देश के राजा ने, जिनके द्वारा काशी के ईशान (शिव), चित्रघंटा (दुर्गा) आदि सैकड़ों कीर्त्तिरत्न बनवाये गए थे, उन पर स्थिरपाल एवं बसन्तपाल की चतुरता आज सफल हुई। वे सम्बोधि पथ से नहीं लौटे। उन्हीं श्रीमान् स्थिरपाल एवं उनके छोटे भाई श्रीमान् बसन्तपाल ने धर्मराजिका और सम्पूर्ण धर्मचक्र का पुनः संस्कार कराया तथा आठों महास्थानों की गन्धकुटी में पुनः पत्थर से निर्मित कराया। संवत् 1083, पौषमास की एकादशी।

9. एक तारा की सुन्दर मूर्त्ति पर तीन पंक्तियों का संस्कृत में लेख मिला, जो 11वीं शताब्दी ईस्वी का है-

   देयधर्म्मोयं प्रवर महायानानुयायी (प) रमोपासक मागधीय श्री शामङ्कस्य।

अर्थ- यह मगध के परमभक्त श्रद्धालु उपासक श्री शामङ्क का धर्मदान है।

10. बोधिसत्त्व मैत्रेय की मूर्त्ति के नीचे एक अंकित खण्डित लेख मिला है, जो 11वीं शताब्दी का है- ओं ये धर्म्मा.........
11. बोधिसत्त्व की मूर्त्ति के निचले भाग में एक 11वीं शताब्दी का लेख उत्कीर्ण है- 'दानपति ईणीशोस्य पोकसः'
12. कुबेर की एक मूर्त्ति, जिसमें वसुधारा की भी मूर्ति बनी है, में नीचे की ओर 5 पंक्तियों में एक संस्कृत लेख अंकित है, जो इस प्रकार है-

1. ....

2. ....

3. दे (यधर्मोय्यं) महाया (ना) नुययिनः परमोपासक मा....

4. (यदत्रपु) व्यं तद भवतु आचार्योपाध्यायमाता

5. (पित्रोः)......सर्वसत्वानाञ्चानुत्तर ज्ञानवाप्तये।

अर्थ- यह महायान के अनुसार गमन करने वाले परम उपासक का धर्मदान है। इसे जो पुण्य हुआ है, वह आचार्य- उपाध्याय, माता-पिता, और सभी प्राणियों के अनुत्तर ज्ञान की प्राप्ति के लिए सहायक हो।

13. एक खण्डित कलाकृति पर एक 11वीं शताब्दी ईस्वी का लेख अंकित मिला है, जो इस प्रकार है-

    (देयधर्म्मोयं पर) मो पासक आषपटलिक श्री...सुत....स्य।

अर्थ- यह परमउपासक लिपिक श्री....के पुत्र का धर्मदान है।

14. एक पूजा स्तूप में भूमि स्पर्श मुद्रा में बुद्धमूर्त्ति बनी हुई है। उसमें नीचे आधार पर एक 11वीं शताब्दी का यह लेख अंकित है-

    य दे (देय) धर्म्मोयं.....

अर्थ- यह धर्मदान.......।

15. एक पूजा स्तूप के आसन पर, जिसमें बुद्धमूर्त्ति बनी हुई है, 5 पंक्तियों का लेख था, किन्तु वह नष्ट हो चुका है, केवल 'देयाधर्म्मोय' मात्र पढ़ा जा सका है।

16. एक पूजा स्तूप के घेरे के निचले भाग में 11वीं शताब्दी का यह लेख अंकित है-

    देयधर्म्मोयं शाक्यभिक्षोः स्थविर (श्रीकाश्यपस्य)

    यह शाक्यभिक्षु श्री काश्यप स्थविर का धर्मदान है।

17. एक स्तूप के खण्डित भाग पर यह लेख अंकित है-

(देय) धर्म्मोयं सूत्र धा (र)

अर्थ- यह धर्मदान.....सूत्रधार शिल्पी का है।

18. एक गोल खम्भें पर 8 पंक्तियों में 11वीं शताब्दी का यह लेख उत्कीर्ण है-

1. ...... पौत्रः श्री ब्र.........।
2. ......पत्यं माता भुवना श्री।
3. (ब) भूव तस्य।। सौम्यः श्री.......
4. (म) ण्डितोऽमितसुतोऽस्य।
5. ....श्रर्वदाससुतो.........
6. ....सर्वसत्वस्य हे तोः स्वास्मि.........
7. (ध) र्म्मचक्रकेचकार।। श्री सद्दाद.......
8. तः लोहेश्वरदासः।। ओं।।

इस लेख का अर्थ (अनुवाद) कठिन प्रतीत होता है। इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि धर्म-चक्र विहार का निर्माण कराया गया था और धर्मचक्र विहार उस समय सारनाथ के ही विहारों का नाम था।

19. एक प्रस्तर खण्ड पर 11वीं शताब्दी ईस्वी का एक पंक्ति का लेख मिला है, जो सन् 1904-05 में पाया गया था-

.... रोध एवं वादी महाश्रमणः।

❖ कलचुरिकालीन अभिलेख

1. कर्ण का बनारस दानपत्र (कलचुरि संवत् 793)[89] :

कर्ण का बनारस दानपत्र (पीतलपत्र) लेख सर्वप्रथम कैप्टन विल्फोर्ड ने देखा और उसे एशियाटिक रिसर्चेज खण्ड-9, पृ0सं0 108 में वर्णित किया। डॉ0 कीलहॉर्न ने

इसकी नकल बिना अनुवाद के ही प्रकाशित किया। यह दो पीतल-पत्र पर उत्कीर्ण है, जो एक रिंग के माध्यम से जुड़ा है। जिस पर एक राजकीय मुहर है। राजकीय मुहर 3 इंच चौड़ा है, जिस पर माँ पार्वती चार भुजाओं के साथ पालथी मारकर (पैर मोड़कर) बैठी हुई है, दो हाथी उन्हें दोनों ओर से सुड़ उठाकर प्रस्तुतीकरण दे रहे हैं। नीचे नंदी पैर मोड़कर (झुककर) बैठा है, उसके सामने टोकरी है। माँ पार्वती एवं नंदी के बीच **'श्रीकर्णदेव'** उत्कीर्ण है। यह दान (क्रिश्चियन-192 वर्ष) नये वर्ष के दूसरे साल दिया गया था। दानपत्र में कर्णदेव के पूर्वजों के बारे में उल्लेख है यथा- कर्ण के पिता गांगेयदेव थे, जिनकी उपाधि 'विजयकर्ण' थी, गांगेयदेव कोक्कलदेव के पुत्र थे, कोक्कलदेव के पिता लक्ष्मणराज देव थे।

यह दानपत्र कैप्टन विल्फोर्ड द्वारा वर्णित किया गया है, जो लम्बे समय से खो गया था, किन्तु उन्होंने इस दानपत्र को मि. ग्रिफीथ के सहयोग से 1862 में पुनः खोज लिया। कनिंघम ने बनारस कॉलेज के एक विद्यार्थी की सहायता से इस दानपत्र के छाप की प्रतिलिपि भी तैयार कर ली। मूलरूप (असली-दस्तावेज) पुनः खो गया, जो अब तक नहीं मिला।

दानपत्र दो की संख्या में हैं जो 1' 4" चौड़ा एवं 11½ " ऊँचा है। दोनों दानपत्रों में एक ही तरफ उत्कीर्ण किया गया है। .6" व्यास का एक छेद है जिसमें रिंग की सहायता से दोनों पत्रों (दानपत्रों) को जोड़ा गया है। अक्षर गहरी तरह से खोदे गये हैं। अभिलेख 48 पंक्ति में है जिसमें 28 पंक्ति एक तरफ खोदे गए है एवं 20 पंक्ति दूसरे तरफ। लेखक ने अक्षरों को इस तरह से लिखा है कि मध्य में (दूसरी प्लेट) बहुत स्थान बच गया है। इसलिए दूसरे प्लेट में उसने बड़े-बड़े अक्षरों को उत्कीर्ण किया है, मुख्य रूप से 38-40 पंक्ति के बीच के अक्षर। लेखन-शैली (अक्षर) सही अवस्था में है।

अक्षर नागरी लिपि में है, कुछ अक्षर वर्तमान नागरी से मिलते-जुलते हैं। भाषा संस्कृत में है, 12वीं पंक्ति प्राकृत में है। 32 वीं पंक्ति तक आशीर्वचन बातें है, जो ओम्

नमः शिवाय के साथ प्रारम्भ होते हैं। अभिलेख काव्य-शैली में लिखा हुआ है। जो श्लेष अलंकार के साथ चातुर्यपूर्ण उल्लिखित है। यह ध्यान देने योग्य है कि (v. 18) पंक्ति राजशेखर के 'बालभारत' (प्रचण्ड पाण्डव) से लिया गया है। अंतिम पंक्ति में तिथि अंकों में उल्लिखित है। यह दानपत्र बाद के कलचुरि वंश के शासक कर्ण के द्वारा उसके प्रयाग विजय स्कन्धावार से जारी किया गया था। इस दानपत्र में कलचुरि वंश के सभी शासकों का उनकी उपाधियों सहित एवं कार्यों का उल्लेख है।

प्रस्तुत दानपत्र में कर्ण के लिए राजकीय उपाधियाँ, जैसे- परमभट्टारक, महाराजाधिराज एवं परमेश्वर प्रयुक्त हुई है। उसे 'त्रिकलिंगाधिपति' एवं महेश्वर का उपासक कहा गया है।

कर्ण ने यह दानपत्र प्रयाग के वेणी में स्नान करके, शिव की आराधना करते हुए अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के समय जारी किया। दान के लिए सुरसी ग्राम (काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत) को चुना गया। दानग्रहीता ब्राह्मण **विश्वपुत्र** था, जो नारायण का पुत्र, वामन का पौत्र एवं अमहा का प्रपौत्र था, जो कौशिक गोत्र से थे। इस दानपत्र की तिथि 40 वीं पंक्ति में निहित है। इसमें फाल्गुन मास की शुक्ल-पक्ष की 15वीं तिथि, शनिवार, कलचुरि संवत् 793 अंकित है। अर्थात् इसकी तिथि ईस्वी सन् 1040 है। 247+793= 1040।

2. कर्ण का सारनाथ प्रस्तर लेख, कलचुरि संवत् 810[90] :

कर्ण का सारनाथ प्रस्तर लेख बनारस से 4 मील दूर सारनाथ से प्राप्त हुआ है। यह एक खण्डित प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्ण है। इस समय यह **लखनऊ संग्रहालय** में सुरक्षित है। इसे डॉ0 मिराशी द्वारा **'इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ कलचुरि चेदि एरा'** में प्रकाशित करवाया गया। यह 1.9" चौड़े और 1 " ऊँचे भाग पर लेख उत्कीर्ण है। प्रत्येक पंक्ति में

दाहिनी तरफ के कुछ अक्षर तथा बीच में से कुछ अक्षर खो चुके हैं। सम्पूर्ण अभिलेख 14 पंक्तियों में है। इस प्रस्तर अभिलेख के छः खण्ड है। सम्पूर्ण रूप से यह प्रस्तर लेख नहीं मिल पाया जिस पर कुछ अन्य पंक्तियाँ भी उल्लिखित थी। अक्षरों का औसत आकार 7" है। लिपि नागरी अक्षर में है। कलचुरि शासक कर्ण के अन्य अभिलेखों के समान ही इस लेख की लिपि नागरी में है। भाषा अशुद्ध संस्कृत है। इस अभिलेख में कर्ण के लिए गोहरवा ताम्रपत्र की भाँति ही सम्मान सूचक उपाधियाँ मिलती है। इसमें इसे वामदेव का 'पादानुध्यात्' भी कहा गया है।

अभिलेख का प्रारम्भ बुद्ध को नमस्कार करके होता है। अभिलेख गद्य शैली में हैं। यह अभिलेख कर्ण के क्षेत्र को दर्शाता है। अभिलेख की विषयवस्तु, **मामका** जो महायान सम्प्रदाय की अनुयायी एवं धनेश्वर (महायान का अनुयायी) की पत्नी थी, उसने **'अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता'** की प्रति भिक्षुओं को लिखने एवं भिक्षुओं को जो 'श्री सद्धर्मचक्रप्रवर्तन महाबोधि महाविहार में रहते थे, सस्वर पाठ करने के लिए दान दिया। इस अभिलेख में दो भिक्षु जो मुख्य थे उनका नाम उल्लिखित है। जिनमें प्रथम **मनोरथगुप्ता** एवं दूसरे भिक्षु का प्रथम नाम का अक्षर मिट गया है किन्तु अंत में **पत्रिका** था। इसमें अश्विन मास की शुक्ल पक्ष की 15 वीं तिथि, रविवार, कलचुरि संवत् 810 अंकित है। अर्थात् 4 अक्टूबर 1058 ई0 को यह अभिलेख जारी किया गया था। यह सद्धर्मचक्रप्रवर्तन महाबोधि-महाविहार वहीं स्थान था, जहाँ महात्मा बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया था।

❖ गाहडवाल राजवंश के अभिलेख :

1.चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र वि0सं0 1148[91]

चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र स्टेन कोनोव के द्वारा प्रकाशित किया गया था। यह केवल एक की संख्या में है। स्टेन कोनोव ताम्रपत्र के विषय में उल्लेख करते हुए लिखते है कि- यह ताम्रपत्र वाराणसी जिले के चन्द्रावती किला जो गंगा के बायें किनारे पर स्थित

है, वहाँ से प्राप्त हुआ था। वाराणसी के जिला अभियन्ता छोटे लाल ने स्टेन कोनोव को सूचित किया कि पानी के कटाव के कारण किले का एक हिस्सा समय-समय पर क्षीण (कमजोर) होता गया। यह प्लेट नदी में ही मिला, इस ताम्रपत्र के साथ ही किले का दीवार भी नदी में गिर गया था। इस ताम्रपत्र पर नाविक की दृष्टि पड़ी, जिसने इसे उठाकर वाराणसी के जिला अभियन्ता को सौंप दिया। मार्च 1908, में इसे पूर्णरूपेण डायरेक्टर जनरल ऑफ आर्कियोलॉजी (ASI) को सौंप दिया गया। स्टेन कोनोव आगे लिखते हैं कि- ताम्रपत्र केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है एवं उसका माप 15⅜ इंच × 11¾ इंच है। ताम्रपत्र का किनारा मोटा तथा उभरा हुआ है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर एक छेद है, जिसमें ½" मोटा एवं 3" व्यास (घेरे में) तक छल्लें हैं, जो ताम्रपत्र को उससे जोड़े रहता है। छल्लों के ऊपर घंटी के आकार (2⅜") का मुहर संलग्न है। मुहर 2½" व्यास में वृत्तीय आकार में है। मुहर में गरुड़ पक्षी को आदमी का शरीर एवं पक्षी के सिर के साथ दर्शाया गया है। मुहर के केन्द्र में **'श्रीमद्चन्द्रदेवः'** लेख उत्कीर्ण है तथा नीचे शंख की आकृति बनी हुई है।

ताम्रपत्र 23 पंक्ति में उत्कीर्ण है, इसकी लिपि प्राक्-नागरी एवं भाषा संस्कृत है। इस ताम्रपत्र को यशोविग्रह के पौत्र चन्द्रदेव ने जारी किया था। अभिलेख गद्यात्मक शैली में है। बावन पत्तला में सभी लोगों को नमन करते हुए एवं उनकी आज्ञा पाकर चंद्रदेव ने ब्राह्मण वरुणेश्वर शर्मन् की आज्ञा से यहाँ स्नान किया एवं कार्तिक पूर्णिमा 1148 वि.सं. को इस ग्राम को दान देते हुए ताम्रपत्र को जारी करवाया।

ताम्रपत्र का उद्देश्य चन्द्रदेव द्वारा संवत् 1148, कार्तिक माह की शुक्ल पक्ष की 15वीं तिथि को, चन्द्रग्रहण के अवसर पर बावन पत्तला में **बड़ागाँव** को **वरुणेश्वरशर्मन्** को दान दिये जाने का उल्लेख करना है। 'ओऽम्स्वस्ति' तथा 'लक्ष्मी' की स्तुति से प्रारम्भ इस ताम्रपत्र में यशोविग्रह, महीचन्द्र तथा चन्द्रदेव का चार पंक्तियों में उल्लेख है।

स्टेन कोनोव यह बताते हैं कि- चन्द्रदेव के द्वारा जारी किया गया यह ताम्रपत्र प्रारम्भिक है; क्योंकि उसके अन्य ताम्रपत्र 1154 (वि.सं.) को जारी किये गए थे। इस ताम्रपत्र में ध्यान देने योग्य है कि इसमें तिथि का उल्लेख है किन्तु साप्ताहिक दिन अस्पष्ट हैं इसमें यह उल्लेखनीय है कि दाता (चन्द्रदेव) ने जहाँ स्नान किया था, ताम्रपत्र में उस स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है। लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 11 श्लोक एवं इस दानपत्र के लेखक **ठक्कुर श्री महानंद** का उल्लेख है।

गाहड़वाल राजवंश का यह ताम्रपत्र केवल एक है जो **प्रबोधिनी एकादशी** के दिन जारी किया गया था।

2. चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं.[92]-

चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 बनारस जिले के चंद्रावती नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जो छः की संख्या में हैं। इसे दयाराम साहनी ने प्रकाशित किया है। **चंद्रावती, गंगा नदी के बायें तट पर कटेहिर (कटेहली) परगना में स्थित एक छोटा सा ग्राम है, जो वाराणसी से गाजीपुर जाने वाली पक्की सड़क के पूर्व कैथी से तीन मील दक्षिण व वाराणसी हेडक्वाटर से 14 मील की दूरी पर स्थित है।** यहाँ से प्राप्त वि0सं0 1150 के चंद्रावती ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में चन्द्रावती ग्राम कटेहली पत्तला का मुख्य ग्राम हुआ करता था, जो वर्तमान समय में भी पूर्ववत् बना हुआ है। अभिलेख में इस स्थान की सीमा-विस्तार को उल्लिखित करते हुए बताया गया है कि क्रमशः कोल्लक नंदिवार पत्तला गोमती नदी, भागीरथी नदी एवं वरुणा नदी तक का क्षेत्र इसकी सीमा विस्तृत करते हैं। इसकी वर्तमान सीमा दक्षिण में अथगवान, शिवपुर तथा जाल्हूपुर से, पूर्व में गंगा नदी तक तथा बरह परगना से; पश्चिम में कोल असल्ह तथा उत्तर में सुल्तानपुर के छोटे से परगना व गोमती नदी से लगा हुआ है। वर्तमान समय में चंद्रावती नामक ग्राम जैन तीर्थ (श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित) के रूप में प्रसिद्ध

है। पुरातात्त्विक साक्ष्य यह बताते हैं कि यहाँ पर गंगा नदी के तट पर चंद्रावती किला था, जो समय के प्रभाव में गंगा नदी में विलीन हो गया।

ताम्रपत्र मजबूत पत्थर के बॉक्स में संरक्षित है, इसका माप 3' 1½ × 2½ × 1' 6½ है। इसे 1912 में लखनऊ म्यूजियम में प्रदान कर दिया गया। जो अब संग्रहालय में संरक्षित है। ताम्रपत्र सुरक्षित अवस्था में है और इसका माप 2' 3" लम्बा एवं 1' 3¾" चौड़ा है। सभी ताम्रपत्र 1¼" के छेद में बंधे हुए हैं। ताम्रपत्र के ऊपर मुहर भी लगा हुआ है जिस पर नागरी लिपि में **श्रीमद्चन्द्रदेव** अंकित है। इसके साथ ही गरुड़-पक्षी एवं शंख की आकृति उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र केवल एक ही तरफ उत्कीर्ण है। अक्षर नागरी है, जिसकी ऊँचाई (अक्षरों की ऊँचाई) 9/20" है। भाषा संस्कृत है। ऐतिहासिक तथ्यों को गद्यात्मक रूप में लिखा गया है। 90 पंक्तियों में उत्कीर्ण यह ताम्रपत्र अभिलेख देवी लक्ष्मी एवं भगवान विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ होता है जो संभवतः गाहडवाल शासकों के प्रिय देवता थे। इसके साथ ही गाहडवाल शासक चंद्रदेव के वंशावली का भी इस अभिलेख में उल्लेख मिलता है। राजकीय उपाधि के साथ परमभट्टारक महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर श्रीमद्चन्द्रादित्य देव ने सरयू और घाघरा (अयोध्या) के स्वर्गद्वार तीर्थ पर स्नान करते हुए 500 ब्राह्मणों को कटेहली परगना के अन्तर्गत् कुछ ग्राम एवं मंदिर दान में दिया।

ताम्रपत्र 1150, अश्विन माह में सूर्य-ग्रहण के अवसर पर रविवार के दिन 15 तारीख को चन्द्रदेव के द्वारा **कटेहली पत्तला** में स्थित ग्राम **500 ब्राह्मणों** को दिया गया। इसे ईस्वी सन् में लिखा जाए तो 23 अक्टूबर सन् 1093 को यह दान दिया गया। लक्ष्मी की स्तुति से प्रारम्भ इस ताम्रपत्र के अंत में सात (7) शापात्मक श्लोक है साथ ही ताम्रपत्र के लेखक **हृदयधर** का उल्लेख हुआ है।

पाँच ताम्रपत्रों में संलग्न यह अभिलेख 90 पंक्तियों में उत्कीर्ण है। अभिलेख में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि दान देने हेतु जो ब्राह्मण उपस्थित किए गए थे

उनका विशेषीकरण वैदिक अध्ययन से सम्बन्धित था। 1 से 125 की संख्या में **ऋग्वेद** के अध्ययन से सम्बन्धित विद्वान् थे। 126 से 221 तक श्री **यजुर्वेद** चरण के विद्वान् थे। 222 से 420 तक **अथर्ववेद** चरण से सम्बन्धित विद्वान् थे। 421 से 495 तक छान्दोग्य चरण से सम्बन्धित विद्वान् थे। इनकी कुल संख्या 495 तक थी।

3. चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1156[93]-

यह ताम्रपत्र दयाराम साहनी के द्वारा प्रकाशित किया गया। ताम्रपत्र केवल 1 की संख्या में है, जिसे 24 पंक्तियों में उत्कीर्ण किया गया है। आदिकेशव घाट पर चन्द्रदेव द्वारा स्नान के पश्चात् तुलापुरुष दान हेतु बहुमूल्य पदार्थ एवं स्वर्ण तथा हजारों गायों को उपस्थित किया गया, जिससे राजा का तुलापुरुष दान हो सके। अभिलेख का आरम्भ ओम् एवं आदि केशव के नमन के साथ होता है। तत्पश्चात् गाहडवाल वंश की वंशावली के साथ ही परमभट्टारक, महाराजाधिराज परमेश्वर, परममाहेश्वर 'चंद्रदेव' का नाम उत्कीर्ण है। लेख में यह उत्कीर्ण है कि चन्द्रदेव ने गंगा एवं वरुणा नदी के तट पर आदि केशव घाट पर स्नान करने के पश्चात् संवत् 1156, वैशाख माह की शुक्ल पक्ष की तृतीया को **वृहड्टहेदेवरठ पत्तला** में तीस ग्राम तथा **कटेहली पत्तला** में दो ग्राम पूर्व पत्र के ग्रहीताओं अर्थात् 500 ब्राह्मणों को दान में दिया था।

चन्द्रदेव के द्वारा चन्द्रावती ग्राम पूर्णरूप से बसाया गया था या हम यह कह सकते हैं कि गाहडवाल शासकों का निवास-स्थान प्रारम्भिक समय में यहीं था। इसका मुख्य कारण यह है कि चन्द्रदेव द्वारा यहाँ अभिलेख जारी किए गए और अपने नाम के अनुरूप इस ग्राम का नामकरण 'चन्द्रावती' किया गया।

500 ब्राह्मणों को दान देने के पश्चात् इस अवसर पर वंकाणै पत्तला में **मजुअड** ग्राम एक मंदिर को दान दिया गया था। लेख के अन्त में उत्कीर्णक **माधव** का उल्लेख है।

4. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र (वि0सं0 1162)[94]

गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र अभिलेख (वि0सं0 1162) आर्थर बेनिस के द्वारा प्रकाशित हुआ है। वाराणसी जिले के कमौली नामक स्थान से प्राप्त, 24 पंक्तियों में उत्कीर्ण यह ताम्रपत्र 1 फुट 6 इंच लम्बा, 11 इंच चौड़ा तथा वजन में 8 पाउण्ड एवं 12 औंस है। मुहर की प्राप्ति नहीं हुई है। ताम्रपत्र के बाएँ किनारे पर शंख एवं तीर बसही ताम्रपत्र की भाँति की ही उत्कीर्ण है। 'वासुदेव' की स्तुति से आरम्भ इस ताम्रपत्र में मदनपाल के शासनकाल में गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् 1162, कार्त्तिक माह के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को **उसिथा** (?) ग्राम, साविथ देश से आगत दीक्षित **वील्हकाय** को दान दिये जाने का वर्णन है। बसही ताम्रपत्र के समान ही गाहडवाल राजाओं की वंशावली भी इस ताम्रपत्र में निहीत है। अभिलेख की भाषा संस्कृत एवं लिपि नागरी है। लेख के अन्त में शापात्मक एवं आशीर्वादपरक 7 श्लोक तथा लेखक **'विजयदास'** का उल्लेख है। लेख के अन्त में यह उल्लेख है कि लेखक 'विजयदास' ने विविध लोगों की सम्मति (सहमति) जिनमें प्रतिहार गौतम, पुरोहित जागूक, महत्तक वाल्हण एवं गोविन्दचन्द्र की माता रानी राल्हणदेवी सम्मिलित थे, से अनुमति प्राप्त कर ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण किया।

5. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1171[95]

गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के वरुणा तथा गंगा के संगम पर स्थित कमौली नामक स्थान से प्राप्त 27 पंक्तियों में उत्कीर्ण यह ताम्रपत्र 1 फुट 5 इंच चौड़ा तथा 1 फुट 1½ इंच ऊँचा हैं। ताम्रपत्र पर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण किया गया है। ताम्रपत्र के ऊपर ¾" के व्यास में छेद है। ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख सुरक्षित अवस्था में हैं। अक्षरों का आकार 8/8" है। लेख की भाषा संस्कृत एवं लिपि नागरी है। 'ओऽम् स्वस्ति' तथा 'लक्ष्मी' की स्तुति से प्रारम्भ इस ताम्रपत्र में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर गोविन्दचन्द्र द्वारा गंगा घाट पर स्नान करने के पश्चात् वि0सं0 1171, कार्त्तिक माह की पूर्णिमा को पण्डित

जागूशर्मन को कटि पत्तला में **वृहद्विरैचमौअ** ग्राम दान दिये जाने का उल्लेख है। लेखक का नाम इस ताम्रपत्र में उत्कीर्ण नहीं हैं। ताम्रपत्र लेख में यशोविग्रह से लेकर गोविन्दचन्द्र तक गाहडवाल राजाओं की वंशावली निहित है। लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 6 श्लोक वर्णित है।

6. गोविन्दचन्द्र का भदैनी ताम्रपत्र वि0सं0 1171[96]

गोविन्दचन्द्र का भदैनी ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसकी माप 1 फुट 3½ इंच चौड़ा तथा 1 फुट ½ इंच ऊँचा है। इस पर केवल एक तरफ ही अक्षर उत्कीर्ण हैं ताम्रपत्र के ऊपर ⅝" के व्यास में छेद है। जिस पर गोलाकार (23/8") मुहर संलग्न है। मुहर पर गरूड पक्षी के साथ नागरी लिपि में लगभग 9/16 इंच लम्बा **'श्रीमद्गोविन्दचन्द्रदेव'** अक्षर उत्कीर्ण है। साथ ही शंख की आकृति भी बनी हुई है। ताम्रपत्र 21 पंक्तियों में उत्कीर्ण है, जिस पर अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। 'ओऽम्स्वस्ति' तथा 'लक्ष्मी' की स्तुति से प्रारम्भ इस ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् 1171, माघ सास की शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को महत्तक **दायींशर्मन** को आवास दिये जाने का उल्लेख है। लेख के अंत में लेखक करणिक **जाल्हण** का उल्लेख हुआ है। ताम्रपत्र लेख में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक का अभाव दीखता है।

7. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1172[97]

गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख एफ. कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया था। ताम्रपत्र केवल एक की संख्या में है। इसका माप 1 फुट 3 इंच चौड़ा एवं 11¾ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र में अक्षर एक ही तरफ उत्कीर्ण हुआ है। ताम्रपत्र के ऊपरी ओर बायें किनारे का छोटा सा भाग टूट गया है, जिससे एक या दो अक्षर मिट गए है किन्तु उत्कीर्ण

अक्षर अभी भी सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र में कोई छिद्र नहीं है। 27 पंक्तियों में उत्कीर्ण ताम्रपत्र लेख में शंख की आकृति बनी हुई है। अक्षरों का आकार ¼ से लेकर 5/16 इंच तक है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ इस ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् 1172 वैशाख माह की शुक्ल पक्ष की अक्षय तृतीया के अवसर पर महापुरोहित जागूशर्मा को **बृहगृहेवरथ** (?) पत्तला में **धूसा** ग्राम दिये जाने का वर्णन है। इस ताम्रपत्र लेख को कायस्थ ठक्कुर **श्री जाल्हण** ने उत्कीर्ण किया था। लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 6 श्लोक निहीत है।

8. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1174[98]

गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख एफ. कीलहॉर्न ने प्रकाशित करवाया था। ताम्रपत्र एक की संख्या में है और एक तरफ ही अक्षर उत्कीर्ण हुए हैं। ताम्रपत्र एक फुट 6¼ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 1½ इंच ऊँचा हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी शिरे पर मध्य में एक छिद्र बना है जिसका व्यास ¾ इंच है। 26 पंक्तियों में उत्कीर्ण यह ताम्रपत्र सुरक्षित अवस्था में है। प्रारम्भ से लेकर गोविन्दचन्द्र तक गाहडवाल शासकों के नाम (वंशावली) ताम्रपत्र में उल्लिखित है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा अपने पिता के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर संवत् 1174, अश्विन माह की कृष्ण पक्ष की 15 वीं तिथि को **सुणही** (?) ग्राम पुरोहित **जागूशर्मा** को दान दिये जाने का विवरण है। लेख के अन्त में 11 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है। इस ताम्रपत्र का लेखक करणिक **वासुदेव** है।

9. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1175[99]

गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसकी माप 1 फुट 5½ इंच चौड़ा एंव 1 फुट 1 इंच ऊँचा है, जिस पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपर एक छेद है,

जिसका व्यास ¾ है। ताम्रपत्र 24 पंक्तियों में निहित है, जिसके अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार ⅜ इंच है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। ताम्रपत्र के लेख प्रारम्भ से लेकर गाहडवाल राजाओं के वंशवृक्ष तक का भाग गोविन्दचन्द्र के अन्य लेख के ही समान है। ताम्रपत्र में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्र के द्वारा संवत् 1175, माघ माह की पूर्णिमा के अवसर पर पुरोहित **जागूशर्मा** को **अच्छवली** ग्राम दान दिये जाने का विवरण है। यह ताम्रपत्र करणिक ठक्कुर **सहदेव** के द्वारा लिखा गया है। लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 6 श्लोक का उल्लेख है।

10.गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1176[100]

गोविन्दचन्द्र का कमौली अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 5½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 1 इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपर छेद है जिसका व्यास 11/16 इंच है। ताम्रपत्र में अक्षर 5/16 एवं 3/8 इंच तक है। ताम्रपत्र में अक्षर 25 पंक्तियों में निहित है, जो सुरक्षित अवस्था में है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। अभिलेख में जिस ग्राम को दान दिया गया था, उसका उल्लेख नहीं है। ताम्रपत्र में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् 1176, कार्त्तिक माह की शुक्ल पक्ष की 9वीं तिथि को महापुरोहित **जागूशर्मा** को एक ग्राम दिये जाने का उल्लेख मिलता है। लेख के अंत में लेखक **जागूक** का उल्लेख हुआ है।

11. गोविन्दचन्द्र तथा उसकी रानी नयनकेलि देवी का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1176[101]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक ही संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 3 इंच चौड़ा और 11¾ इंच ऊँचा हैं। ताम्रपत्र

पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण हुए है। ताम्रपत्र पर ऊपर की ओर छिद्र है जिसका व्यास ⅝ है। 27 पंक्तियों में लिखित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों के आकार ¼ लम्बा और 5/16 चौड़ा है। भाषा संस्कृत एवं लिपि नागरी है। लेखक ने इस ताम्रपत्र को उत्कीर्ण करने अथवा लिखने में अपना सम्पूर्ण योगदान दिया है। यह ताम्रपत्र भी परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्र का ही है, जिसमें उसे ही दान देने का उल्लेख है। किन्तु वास्तविकता यह है कि गोविन्दचन्द्र के द्वारा यह सूचना दी गई कि पट्टमहादेवी महाराज्ञी नयनकेलिदेवी ने राजा की अनुमति प्राप्त कर सूर्यग्रहण के अवसर पर **दरवली** ग्राम को जागूशर्मन् को दान दिया था। यह ताम्रपत्र लेख ठक्कुर **जागूक** के द्वारा लिखा गया है। लेख के अंतिम भाग में शाप एवं आशीर्वादपरक 10 श्लोक का वर्णन है।

12. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1178[102]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया था। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 4½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट ¼ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच है। ताम्रपत्र पर अक्षर 22 पंक्तियों में उत्कीर्ण है, जो सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार 5/18 और ⅜ इंच है। ताम्रपत्र नागरी लिपि एवं संस्कृत भाषा में है। यह ताम्रपत्र परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्र का है, जिसमें उनके द्वारा वि0सं0 1178, श्रावण मास की पूर्णिमा को ब्राह्मण व्यास को वाराणसी के कपालमोचन घाट पर गंगा में स्नान करने के पश्चात् **सुलतेणी** नामक ग्राम का दान दिया गया। यह ताम्रपत्र अभिलेख करणिक ठक्कुर **जागूक** के द्वारा लिखा गया। गोविन्दचन्द्र के अन्य ताम्रपत्रों के समान इसमें भी देवी लक्ष्मी के स्तुति के साथ ताम्रपत्र का आरम्भ करते हुए गोविन्दचन्द्र के वंशावली का उल्लेख हुआ है।

13. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1181[103]

यह ताम्रपत्र अभिलेख फ्यूहरर द्वारा प्रकाशित है। मूल प्राप्ति अज्ञात है। यह वर्तमान में लखनऊ म्यूजियम में संरक्षित है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिस पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र का माप 1 फुट 2¼ इंच लम्बा एवं 11½ इंच चौड़ा है, जो बहुत समतल है। ताम्रपत्र में उत्कीर्ण अक्षर नागरी लिपि एवं संस्कृत भाषा में है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर एक छिद्र है किन्तु छल्ला एवं मुहर गायब है। ताम्रपत्र वजन में 8 पाउण्ड है। ओडमस्वस्ति तथा लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ इस ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र के द्वारा वि0सं0 1181, भाद्रपद माह की शुक्ल पक्ष की चौथी तिथि को ब्राह्मण पण्डित **भूपतिशर्मा** को **त्रिभाण्डी** ग्राम दान दिये जाने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक ठक्कुर **चन्द्र** हैं। ताम्रपत्र लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 8 श्लोक वर्णित है।

14. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1182[104]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र केवल एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 4 इंच चौड़ा एवं 1 फुट ⅞ इंच ऊँचा है, जिसे केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण किया गया है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर ⅝" का छेद है। 28 पंक्तियों में निहीत ताम्रपत्र के अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार 5/16 से लेकर ⅜" तक है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र की वंशावली दी गई हैं। इस ताम्रपत्र में परमभट्टारक महाराजाधिराज गोविन्द्रचन्द्र द्वारा वि0सं0 1182, माघ माह के शुक्ल पक्ष की 15वीं तिथि को चन्द्रग्रहण के अवसर पर महापुरोहित **जागूशर्मा** को हलदोय पत्तला में **महासोणमौअ** ग्राम दान देने का विवरण है। ताम्रपत्र का लेखक **कीथन** है। ताम्रपत्र लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 5 श्लोक का उल्लेख हुआ है।

15. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1184[105]

यह ताम्रपत्र अभिलेख कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। यह ताम्रपत्र केवल एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 4½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट ⅝ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच तक है। 25 पंक्तियों में निहीत ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार 5/16" से लेकर 8/8" तक है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। यह ताम्रपत्र परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्रदेव के दान का उल्लेख करता है। अभिलेख में जिस ग्राम-दान का उल्लेख किया गया है, वह संदेहपूर्ण प्रतीत होता है। ताम्रपत्र का लेखक ठक्कुर **विश्वरूप** है। इस दानपत्र लेख में गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् 1184, कार्त्तिक माह के पूर्णिमा को मडवल (?) पत्तला में **सरी** (?) ग्राम महापुरोहित **जागूशर्मन** को दिये जाने का विवरण है।

16. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1185[106]

यह ताम्रपत्र अभिलेख फ्यूहरर द्वारा प्रकाशित किया गया था। मूल प्राप्ति स्थान अज्ञात है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। इस ताम्रपत्र का आकार 1 फुट 5 इंच × 12¾ इंच तथा वजन 11 पाउण्ड है। ताम्रपत्र समतल है, यह बीच में से ही टूट गया है, जिससे इसके दो भाग हो चुके है। किन्तु अभिलेख सुरक्षित अवस्था में है। भाषा संस्कृत एवं लिपि नागरी है। पत्र के ऊपरी सिरे पर एक छेद है, किन्तु छल्ला एवं मुहर प्राप्त नहीं हुए है। ताम्रपत्र का लेखक कायस्थ ठक्कुर **चन्द्र** है। 'ओडम् स्वस्ति' तथा गाहडवाल वंशावली से प्रारम्भ इस दानपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा वि0सं0 1185, चैत्र माह की शुक्ल पक्ष की 15वीं तिथि को पुरोह पत्तला में **जर ग्राम** पण्डित **भूपति शर्मा** को ग्राम दान दिये जाने का विवरण है। लेख के अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक 9 श्लोक का उल्लेख हुआ है।

17. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1187[107]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 6¼ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 1 इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ की उत्कीर्ण हुए हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच है। ताम्रपत्र पर मुहर भी अंकित है। 24 पंक्तियों में निहीत ताम्रपत्र के अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। इस ताम्रपत्र में लेखक का नाम उत्कीर्ण नहीं है। अन्य ताम्रपत्रों के समान इस ताम्रपत्र का प्रारम्भ भी मंगल स्तुति एवं गाहडवाल वंशावली से आरम्भ होता है। गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् 1187, मार्ग शीर्ष माह की अग्रहायणी के अवसर पर नंदीवार पत्तला में **पलसौण्डी** ग्राम पण्डित **खोणशर्मन्** को दान देने का विवरण है। लेख के अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक 6 श्लोक का उल्लेख हुआ है। यह संभव प्रतीत होता है कि पण्डित खोणशर्मन् गाहडवाल शासकों के प्रसिद्ध चिकित्सक थे।

18. गोविन्दचन्द्र एवं युवराज आस्फोटचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1190[108]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। यह दानपत्र **दामोदरशर्मन** को दिया गया, जो 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' के लेखक है। ताम्रपत्र केवल एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 3¼ इंच चौड़ा तथा 1 फुट 1½ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास ⅝" तक है। ताम्रपत्र के साथ 2' ⅜" में वृत्तीय मुहर प्राप्त हुआ है, जिस पर दो पंक्तियों में 'महाराजपुत्र श्रीमद्आस्फोटचन्द्रदेवः' लेख के साथ शंख की आकृति तथा एक तीर उत्कीर्ण हैं। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। अक्षरों का आकार 5/16 चौड़ा एवं 3/8 ऊँचा है। 28 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। यह ताम्रपत्र ठक्कुर **गागेक** के द्वारा लिखा गया है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र की अनुमति प्राप्त

कर आस्फोटचन्द्र ने वि0सं0 1190 के अक्षय तृतीया के सुअवसर पर ब्राह्मण **दामोदरशर्मन** को नंदिनी पत्तला में **कणाउत्** ग्राम दान दिया। मंगल स्तुति के साथ एवं यशोविग्रह से लेकर युवराज आस्फोटचन्द्र तक गाहडवाल वंशावली इस ताम्रपत्र में अंकित है। 7 श्लोक ताम्रपत्र के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक है। पंडित दामोदरशर्मन वाजसनेय शाखा के अध्येता एवं ज्योतिषशास्त्र के पाँच सिद्धान्तों के प्रणेता थे।

19. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1190[109]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र केवल एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 4½ इंच चौड़ा एवं 11¾ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र में अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। इसके ऊपरी सिरे पर 11/16 इंच का वृत्तीय छिद्र है। ताम्रपत्र 24 पंक्तियों में निहित है, जिसके अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार 5/16 से 3/8 इंच तक है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। ताम्रपत्र में लेखक का नाम उत्कीर्ण नहीं है। गोविन्दचन्द्र के अन्य ताम्रपत्रों के ही समान यह ताम्रपत्र भी मंगल स्तुति एवं गाहडवाल वंशावली से प्रारम्भ होता है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र के द्वारा गोविन्द वाटिका (बागीचा) में स्नान करने के पश्चात् वि0सं0 1190 में भाद्रपद माह की शुक्ल पक्ष की तृतीया को राउत **जाटेशर्मन्** को **उम्बरी** ग्राम दान दिये जाने का विवरण है।

20. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1196[110]

यह ताम्रपत्र अभिलेख आर्थर वेनिस के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिस पर अक्षर एक तरफ की उत्कीर्ण किए गए है। ताम्रपत्र का माप 1 फुट 3½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट ¼ इंच ऊँचा है। इसका भार 5 पाउण्ड तथा 15 औंस है। ताम्रपत्र में मुहर के लिए जगह बना हुआ था किन्तु दुर्भाग्यवश वह खो गया था। परन्तु अथक प्रयासों के बाद यह मुहर हमें लखनऊ म्यूजियम में दृश्यमान होता है। 26 पंक्तियों

में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र स्वस्ति एवं लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ गोविन्दचन्द्र तक गाहडवाल वंश की वंशावली का उल्लेख करता है। वि0सं0 1196 में अश्विन माह के चन्द्रग्रहण के सुअवसर पर गोविन्दचन्द्र ने रान पत्तला में स्थित **जनकदेवीपुर** नामक ग्राम को दीक्षित पुरोहित **जागूशर्मा** को दान में दिया। ताम्रपत्र लेख में 7 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

21. गोविन्दचन्द्र का कमौली दानपत्र वि0सं0 1196[111]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 3¾ इंच चौड़ा एवं 11¼ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है जिसका व्यास 11/16 इंच तक है। 29 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार ¼ और 5/16 इंच तक है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। यह ताम्रपत्र परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्र का है जिसमें यह उल्लिखित है कि वि0सं0 1196 में फाल्गुन माह के कृष्ण पक्ष के सुअवसर पर गोविन्दचन्द्र एवं उसकी माँ ने काशी-क्षेत्र (अविमुक्त) में गंगा में स्नान के पश्चात् **लंकचडा ग्राम** को (नवागमा पत्तला में स्थित) दीक्षित **जागूशर्मन** को दान में दिया। इस ताम्रपत्र के लेखक ठक्कुर **विष्णु** हैं। राल्हणदेवी मदनपाल की पत्नी एवं गोविन्दचन्द्र की माता थी, जिस दिन यह दानपत्र जारी किया गया था उस दिन या तो उनका (राल्हणदेवी) का जन्म था अथवा पुण्यतिथि, यह कहना संदेहपूर्ण है।

22. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1197[112]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 4 इंच चौड़ा तथा 1 फुट 1¼ इंच ऊँचा है।

ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच तक है। 27 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार ¼ और 5/16 इंच है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। ताम्रपत्र में जिस ग्राम का दान दिया गया है उसका नाम **दामला** है। यह ताम्रपत्र अभिलेख परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर गोविन्दचन्द्र का है, जिसमें उनके द्वारा वि0सं0 1197, के फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को दीक्षित **जागूशर्मा** को एक ग्राम दान में दिया गया। ताम्रपत्र के लेखक ठक्कुर **धधूक** है।

23. गोविन्दचन्द्र का राजघाट ताम्रपत्र वि0सं0 1197[113]

यह ताम्रपत्र कृष्णदेव के द्वारा प्रकाशित किया गया था। वर्तमान समय में यह ताम्रपत्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में संरक्षित है। काशी के राजघाट टीले से प्राप्त, क्रमशः 18, 17 पंक्तियों में उत्कीर्ण, एक छल्ले द्वारा ग्रथित इस द्विपत्रीय ताम्रपत्र का आकार 15 इंच × 11½ इंच है। छल्ले के जोड़ पर एक गोलाकार मुहर संलग्न है। इस पर उड़ता हुआ गरूड़, शंख का चिह्न एवं बीच में **'श्रीमद्गोविन्दचन्द्रदेव'** लेख लिखा हुआ है। छल्ले, मुहर एवं ताम्रपत्र का संयुक्त रूप से वजन 551 तोला है। ताम्रपत्र में ओड्म स्वस्ति एवं लक्ष्मी की स्तुति के साथ यशोविग्रह से लेकर गोविन्दचन्द्र तक गाहडवाल वंश का उल्लेख है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा संवत् वि0सं0 1197, कार्त्तिक माह की शुक्ल पक्ष की 15 वीं तिथि को अमवाली पत्तला में **भादप-नान्दप** ग्राम ब्राह्मण **अन्तपाणिशर्मन** को दान देने का विवरण प्राप्त होता है। 10 श्लोक लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक है। ताम्रपत्र में निहित अक्षर सुरक्षित अवस्था में हैं। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। अक्षरों का आकार ⅜" तक है।

24. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1198[114]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 3¾ इंच चौड़ा एवं 11¼ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच है। 29 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र का आरम्भ मंगल स्तुति के साथ होता है एवं गोविन्दचन्द्र तक गाहडवाल वंशावली का भी उल्लेख इसमें हुआ है। इस ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा वि0सं0 1198, फाल्गुन माह की कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को नवगाम पत्तला में **लंकाचडा ग्राम**, दीक्षित **जागूशर्मा** को दान देने का विवरण है। यह ताम्रपत्र ठक्कुर **विष्णु** के द्वारा लिखा गया था। लेख में 7 श्लोक शाप एवं आशीर्वाद परक है। ताम्रपत्र में लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है।

25. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1200[115]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 5 इंच चौड़ा एवं 1 फुट ⅞ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास ⅞ इंच है। 32 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार ¼ एवं 5/16 इंच तक है। ताम्रपत्र में लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र के द्वारा वि0सं0 1200 में श्रावण माह की शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को **कैलग्राम** नामक (ग्राम को) स्थल को **महाराजशर्मन** को दान देने का विवरण है। लेखक का नाम उत्कीर्ण नहीं है। 8 श्लोक ताम्रपत्र में शाप एवं आशीर्वादपरक अन्त में उल्लिखित है।

26. गोविन्दचन्द्र का मछली शहर ताम्रपत्र वि0सं0 1201[116]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जौनपुर जिले के मछलीशहर (घिसवाँ) में प्राप्त हुआ है। ताम्रपत्र वर्तमान समय में लखनऊ म्यूजियम में संरक्षित है। इसका माप 1 फुट ¾ इंच चौड़ा एवं 11½ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर एक छिद्र है, जो छल्ले के साथ मुहर को जोड़े रहता है, जिसका व्यास 2½ इंच है। यह ताम्रपत्र अभिलेख 29 पंक्तियों में निहित है, जिसके अक्षर सुरक्षित अवस्था में हैं। मुहर पर गरुड़ एवं शंख की आकृति के साथ 'श्रीमद्गोविन्दचन्द्रदेव' लेख अंकित हैं। अन्य ताम्रपत्रों के समान मंगल स्तुति एवं गाहडवाल वंशावली का उल्लेख इस ताम्रपत्र में मिलता है। इस ताम्रपत्र के लेखक **धन्धूक** हैं। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा वि0सं0 1201 में वैशाख माह की शुक्ल पक्ष की अक्षयतृतीया को महसोय पत्तला में **पेरोह ग्राम**, पण्डित **वंशधर शर्मा** को दान देने का विवरण है। लेख के अंत में 12 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

27. गोविन्दचन्द्र एवं महाराजपुत्र राज्यपाल का भदैनी ताम्रपत्र वि0सं0 1203[117]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 2½ इंच चौड़ा एवं 11¼ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। अभिलेख के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 9/16 इंच है। ताम्रपत्र पर गोलाकार (2⅛ इंच के व्यास में) मुहर है जिस पर 'महाराजपुत्र श्रीमद्राज्यपालदेवः' लेख उत्कीर्ण है साथ में शंख एवं तीर भी ताम्रपत्र पर अंकित है। अक्षरों का आकार 5/16 इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र में अक्षर 30 पंक्तियों में उत्कीर्ण है, जो सुरक्षित अवस्था में है। गाहडवाल वंशावली का उल्लेख इस ताम्रपत्र में यशोविग्रह से लेकर

गोविन्दचन्द्र तक हैं। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र की अनुमति प्राप्त कर उसके पुत्र राज्यपाल द्वारा वि0सं0 1203, माघ माह की कृष्ण पक्ष की 5वीं तिथि को वल्लौरा पत्तला में **चमरवामि ग्राम**, पण्डित **दामोदरशर्मन** को दान दिये जाने का विवरण है। यह ताम्रपत्र करणिक ठक्कुर **विविक** के द्वारा लिखा गया। लेख के अन्त में 11 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

28. गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1207[118]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 5¾ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 1½ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास ¾ इंच है। ताम्रपत्र में मुहर संलग्न है। ताम्रपत्र में अक्षर 26 पंक्तियों में निहित है, जो सुरक्षित अवस्था में प्रतीत होते है। ताम्रपत्र लेख का प्रारम्भ मंगल स्तुति के साथ गाहडवाल वंशावली से होता है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र द्वारा वि0सं0 1207 में उत्तरायण संक्रांति के सुअवसर पर उम्बराल पत्तला में **लोलिरुपाडा** ग्राम पण्डित **दामोदरशर्मा** को दान में देने का उल्लेख प्राप्त होता है। ताम्रपत्र के लेखक **विद्याधर** (धन्धूक के पुत्र) है। ताम्रपत्र में संलग्न मुहर में गरुड़-पक्षी एवं शंख की आकृति के साथ 'श्रीमद्‌गोविन्दचन्द्रदेवः' लेख अंकित है। पण्डित दामोदरशर्मन का निवास-स्थान वाराणसी के अस्सी नामक स्थान (मुहल्ला) में भदैनी के पास में था। गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को शिक्षा-प्रदान करने के फलस्वरूप दामोदरशर्मन को ग्राम-दान में दिया गया। लेख के अन्त में 12 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक अंकित है।

29. गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1211[119]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया था। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 5 इंच एवं 11¾ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। 26 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित

अवस्था में है। अक्षरों का आकार ¼ से 5/16 इंच तक है। लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच तक है। ताम्रपत्र के लेखक **श्रीपति** है। ताम्रपत्र में गोविन्दचन्द्र के द्वारा वि0सं0 1211, भाद्रपद माह के कृष्ण पक्ष की 15वीं तिथि को कच्छोह पत्तला में स्थित **गौली** नामक ग्राम **'राउत प्रहराजशर्मन'** (दीक्षित जागूशर्मन का पुत्र) को प्रदान किया गया। लेख के अंत में 11 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

30. कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर-पट्टिका अभिलेख[120]

कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर-पट्टिका अभिलेख स्टेन कोनोव के द्वारा प्रकाशित किया गया है। यह अभिलेख 1908 में डॉ0 मार्शल एवं स्टेन कोनोव को सारनाथ की खुदाई में धम्मेख स्तूप के उत्तरी ओर प्राप्त हुआ था। प्रस्तर-पट्ट पर अंकित यह अभिलेख सम्पूर्ण रूप से प्रस्तर से जुड़ा हुआ है। प्रस्तर-पट्ट पर अक्षर 2" × 15½" तक है, जो सुरक्षित अवस्था में है। अक्षरों का आकार ½" तक है। बलुएँ प्रस्तर पट्ट पर अंकित लेख की लिपि नागरी एवं भाषा संस्कृत है। इसमें 26 श्लोक निहित है, जिसमें कुमारदेवी एवं उसके पति गोविन्दचन्द्र का विवरण है। साथ ही कुमारदेवी द्वारा सारनाथ में एक विहार बनवाये जाने का भी विवरण है। लेख का प्रारम्भ आर्य वसुधरा को नमन के पश्चात् होता है।

कुमारदेवी ने अशोक द्वारा स्थापित भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा की और उसके नाम का एक पृथक विहार भी बनवाया। धर्माशोक सम्राट, अर्थात् धर्मात्मा सम्राट अशोक के समय में धर्मचक्र प्रवर्तक भगवान् बुद्ध की प्रतिमा को जिस विधि-विधान और समारोह से प्रतिष्ठापित किया गया था, उसे फिर से और भी अधिक चमत्कारक विधि-विधान और समारोह से प्रतिष्ठापित किया गया। कुमारदेवी सदा शास्ता अर्थात् भगवान् बुद्ध के चरणों पर प्रणामाज्जंलि अर्पित करती है। कुमारदेवी की ललित पद पद्यमयी इस मनोज्ञ

प्रशस्ति की रचना आठ पृथक्-पृथक् भाषाओं में कविता करने में प्रवीण **कुन्द** नामक सफल-मनोरथ कविवर ने की है। इस प्रशस्ति को **वामन** नाम के कारीगर ने इस नीलमणि के समान सुन्दरशिलापट्ट पर उत्कीर्ण किया।

31. विजयचन्द्र एवं जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1224[121]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 5¼ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 1 इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका वृत्तीय व्यास ⅝ इंच है। ताम्रपत्र के अन्त में शंख की आकति बनी हुई है। ताम्रपत्र के निचले भाग के बायी ओर का कुछ अंश टूट गया है, जिससे एक या दो अक्षर दृश्यमान नहीं है। जबकि 31 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। उत्कीर्णक ने लेखन-शैली में विशेष ध्यान नहीं दिया है, इसलिए सूक्ष्म रूप में ताम्रपत्र में गलतियाँ है। लक्ष्मी की स्तुति से प्रारम्भ इस ताम्रपत्र में विजयचन्द्र की अनुमति प्राप्त कर महाराजपुत्र जयचन्द्र के द्वारा वि0सं0 1224, आषाढ़ माह की शुक्ल पक्ष की 10 वीं तिथि को कृष्णभक्ति की सेवा की दीक्षा लेने के सुअवसर पर महापुरोहित **प्रहराजशर्मन** को जिआवै पत्तला में **हरिपुर** ग्राम दान देने का विवरण है। ताम्रपत्र का लेखक ठक्कुर **कुसुमपाल** है। लेख के अन्त में 12 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

32. जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1226[122]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया था। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 6½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 2⅞ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 9/16 इंच है। 34 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। इसमें

यशोविग्रह से लेकर जयचन्द्र तक गाहडवाल राजाओं की उपलब्धियों सहित वंशवृक्ष उल्लिखित है। 'ओड्म स्वस्ति' तथा लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ इस ताम्रपत्र में वि0सं0 1226, आषाढ़ माह की शुक्ल पक्ष की षष्ठी को जयचन्द्र ने महापुरोहित **प्रहलाद (प्रहराज) शर्मन्** को **ओसिया** ग्राम दिया, ऐसा उल्लेख है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक ठक्कुर **श्रीपति** है। लेख के अन्त में 11 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

33. जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1228[123]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 7⅛ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 2 इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र में अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर बीच में एक छिद्र है, जिसका व्यास ¾ इंच तक है। ताम्रपत्र के ऊपरी ओर के दाहिनी तरफ का हिस्सा कुछ टूट गया है। ताम्रपत्र में 35 पंक्तियों में निहित अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। लेख का प्रारम्भ यशोविग्रह से लेकर जयचन्द्र तक (गाहडवाल वंशावली) होता है। ताम्रपत्र में जयचन्द्र के द्वारा वि0सं0 1228, माघ माह की सप्तमी को महसो पत्तला में **कुसुफटा** ग्राम महापुरोहित **प्रहराजशर्मन्** को दान देने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक ठक्कुर **श्रीपति** है। लेख के अन्त में 11 श्लोक शाप एवं आशीर्वादपरक है।

34. जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1230[124]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 6 इंच चौड़ा एवं 1 फुट 2½ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण हैं। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास ⅝" तक है। 37 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है।

लेख का प्रारम्भ यशोविग्रह से लेकर जयचन्द्र तक (गाहडवाल वंशावली) से होता है। इस ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा वि0सं0 1230, मार्गशीर्ष माह की शुक्ल-पक्ष की 15वीं तिथि को उनाविस पत्तला में **अहेन्ती, सरस, अठसुआ** ग्रामदान देने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक ठक्कुर **श्रीपति** हैं। लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक का विवरण है।

35. जयचन्द्र कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1231[125]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 7½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 2¾ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर एक छिद्र है, जिसका व्यास 11/16 इंच तक है। ताम्रपत्र पर अक्षर 32 पंक्तियों में निहित है, जो सुरक्षित अवस्था में हैं। ताम्रपत्र का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली से होता है। इस ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा काशी के गंगा घाट पर स्नान करने के पश्चात् वि0सं0 1231, कार्त्तिक माह की पूर्णिमा को तुलापुरुष दान के अवसर पर (कृतिवास, शिव के समक्ष) **खाम्भभौअ ग्राम,** 9 ब्राह्मणों को देने का उल्लेख करता है। इसमें गाँव का आधा भाग पुरोहित प्रहराज शर्मा को तथा अन्य आधा भाग 8 पुजारियों को दान देने का विवरण है। लेख को तैयार करने वाले लेखक अक्षपटलिक ठक्कुर **वीविक** तथा उत्कीर्णक लोहार **सोमेक** का उल्लेख है। अन्त में शापात्मक एवं आशीर्वादपरक श्लोक का वर्णन ताम्रपत्र में निहित है।

36. जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1232[126]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक ही संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 5½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट 1½ इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है जिसका

व्यास ¾ इंच तक है। 32 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। लेख का प्रारम्भ यशोविग्रह से लेकर जयचन्द्र तक (गाहडवाल वंशावली) होता है। ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा वि0सं0 1232, भाद्रपद माह की कृष्ण पक्ष की 8वीं तिथि को अपने पुत्र हरिश्चन्द्र के जातकर्म (जन्मदिन के अवसर पर) संस्कार के अवसर पर जयचन्द्र द्वारा पुरोहित **प्रहराजशर्मन्** को कंगलि पत्तला में **वडेसर ग्राम** दान दिये जाने का विवरण मिलता है। लेख के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक के साथ ही लेखक अक्षपटलिक ठक्कुर **विविक** तथा उत्कीर्णक लोहार का उल्लेख प्राप्त होता है।

37. जयचन्द्र का सिहवर (बनारस) ताम्रपत्र वि0सं0 1232[127]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया था। यह ताम्रपत्र बनारस के सिहवर नामक ग्राम से मिला था। ताम्रपत्र एक ही संख्या में है, जिसका माप 20½ इंच लम्बा एवं 16¼ इंच चौड़ा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। 35 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। पत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है परन्तु मुहर एवं छल्ला की प्राप्ति नहीं हुई है। ओड्म स्वस्ति एवं लक्ष्मी की स्तुति से प्रारम्भ इस ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा अपने पुत्र हरिश्चन्द्र के नामकरण संस्कार के सुअवसर पर, वि0सं0 1232, भाद्रपद माह के शुक्ल पद की 13वीं तिथि को महापण्डित् ऋषिकेश शर्मन को **सरौडा** तथा (आ?) **मायी** ग्राम दान में दिये जाने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक **श्रीपति** है। लेख के अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक 11 श्लोक का उल्लेख हुआ है।

38. जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1233[128]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 1 फुट 3½ इंच चौड़ा एवं 1 फुट ½ इंच ऊँचा है।

ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर एक छिद्र है, जिसका व्यास ⅝ इंच तक है। 27 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। लेख का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली से होता है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक **श्रीपति** है। ताम्रपत्र लेख के अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक का विवरण मिलता है।

39. जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी (बनारस) ताम्रपत्र वि0सं0 1233[129]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 20⅝ इंच लम्बा और 16 इंच चौड़ा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। 33 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिस पर एक घण्टाकृति मुहर प्राप्त हुई है। इस मुहर पर गरुड़-पक्षी एवं शंख की आकृति के साथ **'श्रीमद्जयचन्द्रदेवः'** लेख अंकित है। मुहर 3 इंच ऊँचा हैं। अक्षरों का आकार ⅜ इंच तक है। ताम्रपत्र का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली के साथ होता है। इस ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा पश्चिमच्छपन पत्तला में **गोदन्ती** ग्राम राउत **राज्यधरवर्मन्** को दान दिये जाने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक ठक्कुर **श्रीपति** हैं। अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक का उल्लेख हुआ है।

40. जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी (बनारस) ताम्रपत्र वि0सं0 1233[130]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 21 इंच लम्बा तथा 9/16 इंच चौड़ा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। 34 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र के साथ घण्टाकृति के आकार की मुहर प्राप्त हुई है, जिस पर गरुड़-पक्षी एवं शंख की आकृति

के साथ '**श्रीमद्जयचन्द्रदेवः**' लेख उत्कीर्ण है। लेख का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली के साथ होता है। अक्षरों का आकार ⅜ इंच तक है। इस ताम्रपत्र अभिलेख में जयचन्द्र द्वारा वि0सं0 1233, वैशाख माह की शुक्ल-पक्ष की दशमी को **कोठारवन्धुरी** ग्राम दिये जाने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक ठक्कुर **श्रीपति** है। लेख के अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक का उल्लेख हुआ है।

41. जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र (बनारस ताम्रपत्र) वि0सं0 1234[131]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र अभिलेख एक की संख्या में है, जिसका माप 20¼ इंच लम्बा एवं 17¾ इंच चौड़ा है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास 4⅞ इंच तक है। ताम्रपत्र में निहित अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र के साथ घण्टाकृति के आकार की मुहर प्राप्त हुई, जिस पर गरुड़-पक्षी के साथ शंख की आकृति एवं लेख '**श्रीमद्जयचन्द्रदेवः**' उत्कीर्ण है। मुहर की ऊँचाई 3¼ इंच तक है। अक्षरों का आकार 5/16 इंच से लेकर ⅜ इंच तक है। ताम्रपत्र पर उत्कीर्णन शैली बहुत अच्छी तरह से किया गया है। लेख का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली से होता है। ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा वि0सं0 1234, पौष माह की शुक्ल-पक्ष की चौथी तिथि को उत्तरायण संक्रान्ति के अवसर पर अम्बुआली पत्तला में **देउपालि ग्राम,** क्षत्रिय **राज्यधरवर्मन** को दान देने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाक्षपटलिक ठक्कुर **श्रीपति** है। लेख के अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक समावेशित है।

42. जयचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1236[132]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र अभिलेख एक की संख्या में है, जिसका माप 20 इंच लम्बा 15¼ इंच चौड़ा है। ताम्रपत्र

में अक्षर एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसमें उसे जोड़े रखने के लिए छल्लें का प्रयोग किया गया है। ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र के साथ घण्टाकृति के आकार की मुहर प्राप्त हुई है, जिस पर गरुड़-पक्षी एवं शंख की आकृति के साथ '**श्रीमद्जयचन्द्रदेवः**' लेख उत्कीर्ण है। अक्षरों का आकार ¼ से 5/16 इंच तक है। लेख का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली से होता है। ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा वि0सं0 1236, वैशाख-माह के पूर्णिमा के अवसर पर दयादमि पत्तला के **दयादमि** ग्राम को क्षत्रिय (राउत) **राज्यधरवर्मन** को दान देने का विवरण है। ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक ठक्कुर **श्रीपति** है।

43. जयचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1236[133]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 18⅛ इंच लम्बा एवं 13¾ इंच चौड़ा है। ताम्रपत्र पर अक्षर एक तरफ की उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसमें ताम्रपत्र को जोड़ने के लिए छल्ले का प्रयोग किया गया है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसमें ताम्रपत्र को जोड़ने के लिए छल्ले का प्रयोग किया गया है। ताम्रपत्र के साथ घण्टाकृति के आकार की मुहर प्राप्त हुई हैं। मुहर में गरुड़-पक्षी, शंख की आकृति के साथ '**श्रीमद्जयचन्द्रदेवः' लेख** उत्कीर्ण है। अक्षरों का आकार ¼ इंच तक है। लेख का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली से होता है। ताम्रपत्र में जयचन्द्र द्वारा वैशाख माह के शुक्ल-पक्ष की पूर्णिमा को जारुत्थपत्तला में **सलेती** ग्राम दान देने का विवरण है। इस ग्राम को राउत (क्षत्रिय) **राज्यधरवर्मन्** को दिया गया। इस ताम्रपत्र के लेखक महाक्षपटलिक ठक्कुर **श्रीपति** है।

44. जयचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1236[134]

यह ताम्रपत्र अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 17½ इंच लम्बा एवं 12⅜ इंच चौड़ा हैं ताम्रपत्र में अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है। 33 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर सुरक्षित अवस्था में है। ताम्रपत्र के साथ घण्टाकृति के आकार की मुहर प्राप्त हुई है, जिसकी ऊँचाई 3⅜ इंच तक है। इस मुहर में गरुड़-पक्षी की आकृति, शंख की आकृति के साथ बीच में **'श्रीमद्‌जयचन्द्रदेवः'** लेख उत्कीर्ण है। लेख का प्रारम्भ गाहडवाल वंशावली से होता है। ताम्रपत्र में अक्षरों का आकार ¼ इंच तक है। इस ताम्रपत्र में जयचन्द्र के द्वारा वि0सं0 1236, वैशाख माह के शुक्ल-पक्ष की पूर्णिमा को जारुत्थ पत्तला में **अभेलावटु** ग्राम, राउत **राज्यधरवर्मन्** को दिये जाने का विवरण है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक **श्रीपति** है। अंत में शाप एवं आशीर्वादपरक श्लोक ताम्रपत्र में निहित है।

45. हरिश्चन्द्र का मछली शहर ताम्रपत्र वि0सं0 1253[135]

यह ताम्रपत्र अभिलेख गाहडवाल वंश के अंतिम राजा हरिश्चन्द्र के काल का है। यह ताम्रपत्र अभिलेख पंडित हीरानन्द के द्वारा प्रकाशित किया गया है। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिसका माप 13½ इंच चौड़ा एवं 18 इंच ऊँचा है, जिसमें मुहर जुड़ा है। जौनपुर के मछली शहर (तहसील) के **घिसवा** (परगना) के **कोटवा** ग्राम से यह ताम्रपत्र अभिलेख खुदाई में मिला है। यह ताम्रपत्र अभिलेख लखनऊ म्यूजियम में संरक्षित है। 34 पंक्तियों में निहित ताम्रपत्र में अक्षर लिखित है, ताम्रपत्र बीच में से टूट गया है, जिससे कुछ अक्षर अदृश्यमान है। ओडम् स्वस्ति तथा लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ इस ताम्रपत्र लेख में यशोविग्रह से लेकर हरिश्चन्द्र तक गाहडवाल राजाओं की उपलब्धि सहित उल्लेख मिलता है। इसमें हरिश्चन्द्र द्वारा **पमहै** ग्राम, वि0सं0 1253 पौष माह की शुक्ल-पक्ष की

15वीं तिथि को ब्राह्मण **राहीहीयक** को दान देने का उल्लेख है। इस ताम्रपत्र के लेखक महाअक्षपटलिक ठक्कुर **भोगादित्य** है। ताम्रपत्र के अन्त में शाप एवं आशीर्वादपरक 12 श्लोक का वर्णन है। ताम्रपत्र के मुहर पर गरुड़-पक्षी की आकृति एवं शंख के चिह्न के साथ ''श्रीमद्हरिश्चन्द्रदेवस्य'' लेख अंकित है।

46. विजयचन्द्र का सुनहर ताम्रपत्र वि0सं0 1223[136]

यह ताम्रपत्र अभिलेख D.C. सरकार के द्वारा प्रकाशित किया गया। इस ताम्रपत्र को उन्होंने जाली (नकली) बताया है। यह ताम्रपत्र पटना (बिहार) के कमीशनर S.V. सोहानी के घर (सुनहर ग्राम) में मिला था। उन्होंने इसे अगस्त 1960 में D.C. सरकार को समर्पित कर दिया। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जो 17 इंच लम्बा एवं 12.6 इंच ऊँचा है। ताम्रपत्र पर अक्षर दोनों तरफ उत्कीर्ण किए गए हैं। ताम्रपत्र में 26 पंक्तियाँ अग्र भाग में है और 10 पंक्तियाँ पिछले भाग में। ताम्रपत्र के ऊपर छिद्र है, जिसमें छल्ले लगे होते है। इसके साथ मुहर की प्राप्ति नहीं हुई है। विजयचन्द्र के अन्य ताम्रपत्रों की भांति इसकी भी लिपि, भाषा, शैली समान है।

यह ताम्रपत्र (दानपत्र) विजयचन्द्र ने (विजय-वाराणसी) के गंगा में स्नान करने के पश्चात् वि0सं0 1223 में भाद्रपद के शुक्ल-पक्ष के दिन दिया था। यह दानपत्र सवरनाहला के ब्राह्मणों के पक्ष में दिया गया था, जो विभिन्न गोत्र, चरण और शाखा से सम्बन्धित है। यह दानपत्र सपुत्रर पत्तला के **किरिहिंदी** और **बदाइला** ग्राम से सम्बन्धित है। वर्तमान समय में इन ग्रामों की पहचान करें तो ये बिहार राज्य के सासाराम जिले के सुनहरा, करवन्दियाँ एवं बरइला क्षेत्र में सम्बन्धित है।

47. नायक अंगसिंह का सिलसिला वि0सं0 1162[137]

यह अभिलेख अंगसिंह के समय का है। यद्यपि इस अभिलेख में उसने किसी गाहडवाल शासक का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु वाराणसी का प्रत्यक्ष उद्धरण उसमें

दृष्टिगत् होता है। भभुआ क्षेत्र गाहडवालों के समय प्रसिद्ध राजधानी के रूप में थी। यह अभिलेख D.C. सरकार के द्वारा प्रकाशित किया गया।

यहाँ मुख्यतः दो अभिलेख कंकड़ पर खुदे हुएँ हैं, पहला 5 पंक्तियों में एवं दूसरा 6 पंक्तियों में उत्कीर्ण हैं। यह दूसरा अभिलेख है, जो $3\frac{1}{6}$ फुट लम्बा एवं 2⅛ फुट चौड़ा है। यह अभिलेख 12वीं शताब्दी ई0 की नागरी लिपि में लिखा गया है। इसकी भाषा संस्कृत है। अभिलेख सिद्धम् (स्वस्ति) से प्रारम्भ होता है। गाहडवालो के अधीनस्थ शासक **अंगसिंह** के समय का यह सिलसिला बटिकाश्म अभिलेख विशेष उल्लेखनीय इसलिए प्रतीत होता है कि **इसमें शिव मंदिर हेतु करसमोलपत्तला में स्थित अमरमेठ ग्राम को दान में दिये जाने की सूचना प्राप्त होती है।** अभिलेख में करसमोल पत्तला एवं अमरमेठ ग्राम की अवस्थिति वाराणसी के अधीन बताई गयी है। सम्प्रति यह क्षेत्र बिहार के कैमूर-जिले के अन्तर्गत आता है।

48. वत्सराज का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1191[138]

यह ताम्रपत्र अभिलेख गाहडवाल वंश के सामंतीय शासक वत्सराज का है। अभिलेख एफ0 कीलहॉर्न के द्वारा प्रकाशित किया गया है। यह ताम्रपत्र वहीं (कमौली) से ही प्राप्त हुआ था, जहाँ से गाहडवाल-शासकों के 25 ताम्रपत्र भी मिले थे। वर्तमान समय में यह ताम्रपत्र अभिलेख लखनऊ म्यूजियम में संरक्षित हैं। ताम्रपत्र एक की संख्या में है, जिस पर अक्षर केवल एक तरफ ही उत्कीर्ण है। इस ताम्रपत्र का माप 1 फुट 4 इंच चौड़ा एवं 1¼ ऊँचा है। ताम्रपत्र के ऊपरी सिरे पर छिद्र है, जिसका व्यास $\frac{11}{16}$ है। ताम्रपत्र पर अक्षर 25 पंक्तियों में निहित है, जो सुरक्षित अवस्था में है।

ताम्रपत्र का प्रारम्भ गोविन्दचन्द्र के अन्य अभिलेखों के ही समान लक्ष्मी की स्तुति से आरम्भ होता है। तत्पश्चात् अभिलेख में गाहडवाल वंशावली का उल्लेख प्राप्त होता है। इस लेख में वत्सराज के क्षेत्र के विषय में उल्लेख है। 5-9 वीं पंक्ति में दाता (दान देने वाले) का उल्लेख है, जिसमें उसे गोविन्दचन्द्र का सामंत बताया गया है। 14-21 पंक्तियों

में महाराजपुत्र वत्सराजदेव का उल्लेख है, जो सिंहर परिवार और सांडिल्य गोत्र से सम्बन्धित है। अभिलेख में वर्णित है कि वत्सराज द्वारा वि0सं0 1191 के भाद्रपद्र माह की शुक्ल-पक्ष की तिथि (कन्या संक्राति) के दिन वाराणसी के अविमुक्त-क्षेत्र के घाट पर स्नान करने के पश्चात् रावडी जिले के **अम्बावरा** ग्राम दान में दिया गया। इस दान को ठक्कुर **दाल्हूशर्मन** को दिया गया। यह ताम्रपत्र अभिलेख ठक्कुर **नारायण** के द्वारा लिखा गया है। ताम्रपत्र में मुहर अज्ञात है, किन्तु ताम्रपत्र पर हस्ताक्षर अंकित है।

49. विजयचन्द्र का जौनपुर स्तम्भ अभिलेख वि0सं0 1225[139]

यह अभिलेख जौनपुर के लाल दरवाजा मस्ज़िद के समीप मिला था। यह अभिलेख दो अपूर्ण पंक्तियों में है, जिसमें 'विजयचन्द्र देव के राज्य के वि0सं0 1225 के चैत्र माह के बुधवार के दिन' उल्लिखित है। यह क्षेत्र भट्टारक **भविभूषण** को सौंपा गया। ए0 कनिंघम ने इसे ASIR. Vol. XI में प्रकाशित किया है। भट्टारक भविभूषण संभवतः कोई धार्मिक व्यक्ति या देवता थे। इस अभिलेख के विषय में कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता।

50. लाहडपुर प्रस्तर अभिलेख वि0सं0 1230[140]

यह प्रस्तर दिनेश चन्द्र सरकार के द्वारा प्रकाशित किया गया है। वर्तमान समय में यह अभिलेख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत कला भवन में संरक्षित है। अभिलेख में आंतरिक साक्ष्य यह बताते हैं कि यह अभिलेख लाहडपुर (बाराहपुर, नंदगंज गाजीपुर) से सम्बन्धित हैं। इस अभिलेख से सम्बन्धित सूचना कुबेर नाथ सुकुल महादेय ने डी0सी0 सरकार को दी थी। **कुबेर नाथ सुकुल** महोदय ने ही इस अभिलेख को भारत कला भवन में सौंपा था।

अभिलेख 10 पंक्तियों में उत्कीर्ण है। अभिलेख की लम्बाई 18 इंच और चौड़ाई 17 इंच है। अभिलेख में भाषा संस्कृत है। सम्पूर्ण अभिलेख पद्य शैली में लिखा गया है।

केवल 5 पंक्ति अनुष्टुभ छन्द में अंकित है। अभिलेख में तिथि भी अंकित है, जिससे इस अभिलेख को राजा जयचन्द्र के समय का माना जा सकता है।

समीक्षा के तहत शिलालेख एक निजी दस्तावेज है। वस्तुविषय को गाहडवाल राज्य के एक गाँव के ब्राह्मणों द्वारा जारी किए गए अध्यादेश को बिना किसी शाही अधिकार के संदर्भ में दर्शाया गया है। **अपराधियों अथवा दोषियों के लिए भारी सजा के साथ-साथ मौत के सजा का भी प्रावधान इसमें मिलता है। अभिलेख में कानून और व्यवस्था के संरक्षण के लिए जनता की प्रमुख जिम्मेदारी पर प्रकाश पड़ता है और शिलालेख के प्रति विशेष रुचि प्रदान करता है।**

गाहडवाल काल का यह शिलालेख सबसे सटीक रूप से तैयार किए गए कानूनी दस्तावेज का एक उदाहरण है और इसके अधिकार क्षेत्र के कार्य के साथ और सामुदायिक पंचायतों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करता है।

51. बेलखारा प्रस्तर-स्तम्भ अभिलेख वि0सं0 1253[141]

यह अभिलेख चुनार (मिर्ज़ापुर) से कुछ दूरी पर बेलसारा से प्राप्त हुआ था। यह अभिलेख गाहडवाल वंश के सामंती शासक **राणक श्री विजयकर्ण** का है। राणक श्री विजयकर्ण राजकीय उपाधि यथा; परमभट्टारक, अश्वपति, गजपति, नरपति, राज्यत्रियाधिपाति से सम्मानित होकर शासन करते थे। यह पुनीत कार्य राऊत श्री सारुक द्वारा किया गया था। मूर्तिकार सूत्रधारी **जालूल** था। अभिलेख यह दर्शाता है कि गाहडवाल शासकों द्वारा कन्नौज पर शासन करने के पश्चात् अन्य क्षेत्र (साम्राज्य के अन्तर्गत्) उनके सामंतों द्वारा शासित होता था। राणक विजयकर्ण के द्वारा मिर्जापुर का शासन संभाला गया। अभिलेख में उत्कीर्णन के समय व्याकरणीय त्रुटियाँ परिलक्षित होती है।

52.जौनपुर से प्राप्त ईंट पर अंकित अभिलेख वि0सं0 1273[142]

यह अभिलेख मेजर किट्टो द्वारा खोजा गया। ईंट की माप 37.5ल0×37.5चौ0 है। **अभिलेख में भूमि के टुकडे को गिरवी रखकर ऋण लेने के बारे में लिखित समझौते की बात कही गई है।** यह गाहडवालकालीन अभिलेख है।

53.भीमदेव का राजघाट तिथिविहीन अभिलेख[143]-

राजघाट अभिलेख पाषाण पर अंकित है। अभिलेख के आंतरिक साक्ष्य यह दर्शाते हैं कि वाराणसी (राजघाट) के गंगा नदी के किनारे शिव मंदिर विद्यमान था। अभिलेख का औसत आकार 33/4 इंच लम्बा एवं 17/2 इंच चौडा है। अभिलेख में 10 पंक्तियाँ है। अक्षरों का आकार 1/4 इंच से 1/2 इंच चौडा और 3/4 इंच लम्बा है। लिपि 12वीं-13वीं शताब्दी की नागरी है, जो सामान्यतया गाहडवाल काल में प्रचलित थी। अभिलेख की भाषा संस्कृत है। अभिलेख का प्रारम्भ शिव की स्तुति (ओं नमः शिवाय) से होता है। अभिलेख में गौड नरेश के मंत्री चंगदेव के पुत्र **भीमदेव** की प्रशंसा की गई है। भीमदेव गाहडवाल शासकों का सामन्त अनुमानित होता है।

54.गोविन्दचन्द्र का ज्ञान प्रवाह (वाराणसी) से प्राप्त ताम्रपत्र वि0सं01208[144]

यह ताम्रपत्र अभिलेख वाराणसी से प्राप्त हुआ है, जो वर्तमान में ज्ञान प्रवाह म्यूजियम में संरक्षित है। इसका आकार 43.5×33 सेमी0 है। गोविन्दचन्द्र के अन्य ताम्रपत्रों की तरह यह भी उसकी वंशावली से प्रारम्भ होता है। यह ठक्कुर श्री सेल्हण के द्वारा उत्कीर्ण किया गया। इसके साथ मुहर भी प्राप्त हुआ है, जिस पर गरूड की आकृति, शंख बना हुआ है और बीच में **'श्रीमद्गोविन्दचन्द्रदेव'** उत्कीर्ण है, जिनमें 31 पंक्तियाँ हैं। ताम्रपत्र में 1.6 इंच का व्यास है। अभिलेख में मुंजचौरासी पत्तला (जिला) के कुंभावड ग्राम को

ब्राह्मणों को दान में देने का उल्लेख है। अभिलेख में राजाओं व दाता द्वारा दान में दिये गये विषय (आवास, ग्राम, भूमि) के अतिरिक्त कुछ करों के परिहार के साथ-साथ भौगोलिक सम्पदाओं, प्राकृतिक वनस्पतियों, भूमिगत् खानों व जीव-जन्तुओं के संदर्भ में सूचना मिलती है। इस अभिलेख में भूमि पैमाने के क्रम में **'विसुआ'** (ब्राह्मणाय ग्रामस्य विसुआ अष्टांकेपि) शब्दावली प्रयुक्त दिखाई देती है। जो आधुनिक बिस्सा शब्द (भूमि माप की इकाई) का द्योतक है। यद्यपि अब तक के ज्ञात गाहडवाल अभिलेखों में हल, नालुक, सीरा जैसे शब्दों का ही प्रयोग ज्ञात है। इससे कुछ नवीन सूचनाओं के उद्घाटन की संभावना व्यक्त होती है।

संदर्भ-

1 दुबे, सीताराम, 2004, *आभिलेखिक अध्ययन की प्रविधि एवं इतिहास लेखन,* पृ0सं0- 9

2 वही, पृ0सं0- 9.

3 पाण्डेय, राजबली, 2012, *भारतीय पुरालिपि,* पृ0सं0 68, चिलथितिका च होतूतीति। अशोक शिलालेख द्वितीय (टोपरा संस्करण)।

4 जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, 1914, पृ0सं0 975-976, 1915, पृ0सं0- 192.

5 ''दत्वा भूमिं निबंधं वा कृत्वा लेख्यं तु कारयेत्।
आगामिभद्रनृपति परिज्ञानाय पार्थिवः।।
पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नतम्।
अभिलेखात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः।।
परिग्रहपरीणामं दानच्छेदोपवर्णनम्।
स्वहस्तकाल संपन्नं शासनं कारयेत्स्थिरः।।''- *याज्ञवल्क्यस्मृति,* 1,318-320.

6 ''राज्ञा तु स्वयमादिष्टः संधिविग्रहलेखकः।
ताम्रपट्टे पटे वाऽपि प्रलिखेद्राजशासनम्।।
स्थानं वंशानुपूर्वी च देशं ग्राम मु पागतान्।
ब्राह्मणांश्च तथा चान्यान् मान्यान्यानधिकृतान् लिखेत्।।
कुटुम्बिनोऽथ कायस्थ दूतवैद्य महत्तरान्।
म्लेच्छचाण्डाल पर्यन्तान् सर्वान् संबोधयन्निति।।
मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यायामुकसूनवे।
दत्तं मयाऽमुकीयायं दानं सब्रह्मचारिणे।।
चन्द्रार्कसमकालीनं पुत्रपौत्रान्वयागतम्।
अनाच्छेद्यमनाहार्य सर्वभाव्य विवर्जितम्।
दातः पालयितुः स्वर्ग हर्तुर्नरकमेव च।
ज्ञाते मयेति लिखित तदा व्यक्ताक्ष रैर्यतम्।।
अशब्दमासतदर्धातो राजमुद्रांकितं तथा।
अनेक विधिना लेख्यं राजशासनकं लिखेत्।। लक्ष्मीधर, *कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड,* पृ0- 157-158 से उद्धृत्।

7 ''पाण्डुं – लेख्येन फलके भूमौ वा प्रथमं लिखेत्।
ऊणाधिकान् अत्र तु संशोध्य पश्चात् पात्रे निवेशयेत्।।'' सरकार, डी0सी0, *इण्डियन एपिग्राफी,* पृ0सं0- 104.

8 कोसाम्बी, डी0डी0*,1969, प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति,* पृ0सं0- 244-245.

9 शर्मा, आर0एस0,1965, *इण्डियन फ्यूडलिज्म,* पृ0सं0- 231.

10 यादव, बी0एन0एस0, *इम्मोबिलिटी एण्ड सब्जेक्शन ऑफ इण्डियन पीजेन्ट्री इन अर्ली मेडिवल काम्प्लेक्स,* इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू, जिल्द- 1, नं0-1, 1974, पृ0सं0- 1827.

11 उपर्युक्त, वही।

12 इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द- 18, पृ0सं0- 9-10.

13 फ्लीट, जे0एफ0, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, वाल्यूम-3, पृ0सं0- 126.

14 ''राजश्री यशः कर्णदेवेन शजगुरुशैवाचार्य भट्टारक श्रीरुद्रशिव वस्योभिक्षात्वेन शासनीकृत्य प्रदत्तो..... अस्मान् ससभ्यान् साक्षिणः कृत्वा ठक्कुर श्रीवशिष्ठशर्मभ्य उदकपूर्वकं शासनीकृत्य प्रदत्तौ।''- जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, जिल्द- 31, पृ0सं0- 123.

15 एपिग्राफिया इण्डिया, जिल्द- 32, पृ0सं0- 123.

16 एपिग्राफिया इण्डिया, खण्ड- 8, पृ0सं0- 156.

17 याज्ञवल्क्य स्मृति- 1.318-320.

18 मिराशी, वी0वी0, कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड-4, अभि0क्रम- 48, पृ0सं0- 242 तथा 243.

19 ''मुलगिरिनी दानं लेखकस'', एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द-2, पृ0सं0- 372.

20 ब्यूलर, जॉर्ज, *भारतीय पुरालिपि शास्त्र,* पृ0सं0- 205-206.

21 सरकार, डी0सी0, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, खण्ड-1,* पृ0सं0- 272-274.

22 ''लिखितं चेदं ताम्ब्रं (ताम्र) पट्टकं अक्षपटलिक- ठक्कुर श्री वीवीकेन'' जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र (वि0सं0 1231), एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0सं0- 126, जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र (वि0सं0 1232), वही, पृ0सं0- 128.

23 ''लिखितं चेदं ताम्त्र (म्र) कं महाक्षपटलिक ठक्कुर- श्रीपतिम (न) (`) ति।।'' जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, (वि0सं0 1236), इण्डि0 एण्टीक्वेरी, जिल्द-18, पृ0-143, लिखितं चेदं (त)। म्रपट्टक महाक्षपटलिक ठक्कुर श्री भोगा दित्यैरिति।- हरिश्चन्द्र का मछलीशहर ताम्रपत्र, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 10, पृ0सं0 100.

24 झा0 एवं श्रीमाली, *प्राचीन भारतीय इतिहास,* पृ0सं0- 380.

25 ''लिखितं इदं ताम्रपट्टकं कायस्थ पण्डित श्री- जगधरेन पण्डित श्री- श्रीधर सुतेन।'' एपि0इण्डि0, जिल्द- XLI पृ0सं0- 37, ''श्रीवास्तव्यंकुलोद्भूत- कायस्थ ठक्कुर श्री जाल्हणेन लिखितास्ताम्त्र (ताम्र) पट्टौयां नृपाज्ञयेति'', गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र

(वि.सं. 1172), एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0सं0- 104; ''श्रीवास्तवकुलोद्भूत कायस्थ ओल्हण सूनुना, लिखितास्ताम्र (ताम्र) पट्टौयां कीठणेन नृपाज्ञयेति'' गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र (वि.सं. 1182), वही-101.

26 लक्ष्मीधर, *कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड,* पृ0सं0- 157-158.

27 ब्यूलर, *जॉर्ज, इण्डियन पैलियोग्रॉफी,* पृ0- 151.

28 मिराशी, वी0वी0, कॉर्पस, इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, खण्ड- 4, अभि.सं. 101, पृ0सं0- 548.

29 'लिखितं करणिक- ठक्कुर- श्री-सहदेवेन'- एपि.इण्डि., खण्ड'4, पृ0सं0- 107.

30 ''उत्कीर्ण्ण पाल्हणेन'' परमर्दिदेव का भारत कला भवन पत्र, एपि0इण्डि0- जिल्द- 32, पृ0सं0- 125.

31 ''सूत्रधार हालेकेन उतकेरित'', गोविन्दचन्द्र का दोनबुजुर्ग ताम्रपत्र (वि.सं. 1176), वही. जिल्द- 18, पृ0सं0- 223.

32 ''चक्क्रादासेनोत्कट्टितम्'', वही, जिल्द- 15, पृ0सं0- 42.

33 वीरवर्मन का चरखारी ताम्रपत्र, वि0सं0 1311, वही, जिल्द-20, पृ0सं0- 133.

34 जयचन्द्र का फैजाबाद ताम्रपत्र वि0सं0 1243, इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द- 15, पृ0-10.

35 मदनपाल एवं महाराजपुत्र गोविन्दचन्द्र का रहन ताम्रपत्र, वि0सं0- 1166, इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द- 18, पृ0सं0- 15.

36 गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र, वि0सं0 1162, एपि0 इण्डि0, जिल्द-2, पृ0- 359.

37 पृथ्वी देव प्रथम का अमोदा ताम्रपत्र, क0सं0 831, मिराशी, वी0वी0, का0इ0इ0, खण्ड-4, अभिलेख सं0- 76, पृ0सं0- 404.

38 कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, खण्ड-4, मिराशी, वी0वी0 कर्ण का बनारस ताम्रलेख लेख,- 48, पृ0सं0- 241.

39 गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र लेख, एपि0 इण्डि0 खण्ड-2,पृ0सं0-358-361

40 गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र लेख, एपि0 इण्डि0 खण्ड-4,पृ0सं0-101-103

41 चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र लेख, एपि0 इण्डि0 खण्ड-9, पृ0सं0-302-305

42 कर्ण का बनारस दानपत्र लेख, मिराशी, वी0वी0, का0इ0इ0, खण्ड-4, अभि0सं0 48, पृ0सं0- 244.

43 कर्ण का बनारस दानपत्र लेख, वही।

44 ''श्री वाराणस्यां मणिकर्ण्णिकाद्याद्धे (घट्टे),'' एपि0 इण्डि0, खण्ड-32, पृ0सं0- 127.

45 गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र वि0सं0 1162, एपि0 इण्डि0, खण्ड-2, पृ0सं0- 360.

46 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 14, पृ0सं0- 192-209.
47 विजयचन्द्र का लखनऊ म्यूजियम पत्र, वि0सं0 1221, एपि0इण्डि, खण्ड- 34, पृ0सं0- 225.
48 महाराजपुत्र गोविन्दचन्द्र का बसही पत्र वि0सं0- 1161, सरकार, डी0सी0 सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, भाग-2, पृ0सं0- 281.
49 गोविन्दचन्द्र का रेन ताम्रपत्र, वि0सं0 1188, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द- 19, पृ0सं0- 252.
50 मिराशी, वी0वी0, का0इ0इ0, खण्ड-4, अभि0 संख्या0- 117, पृ0सं0 601.
51 वही, अभि. संख्या- 76, पृ0सं0- 406.
52 चन्द्रदेव एवं मदनपाल का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्र वि0सं0- 1154, इण्डि0 एण्टी0, जिल्द- 18, पृ0सं0-12.
53 एपिग्राफिया इण्डिया, खण्ड- 14, पृ0सं0- 192.
54 जयचन्द्र का गंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र, वि0सं0- 1236, इण्डि0 एण्टी0- जिल्द- 18, पृ0सं0 140.
55 ''कार्तिक-पौर्ण्णमास्यां'', गोविन्दचन्द्र का रेन ताम्रपत्र, वि0सं0 1188, इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द- 19, पृ0- 252.
56 एपी0इण्डि, खण्ड-11,पृ0सं0-20-24
57 एपी0इण्डि, खण्ड-2, पृ0सं0-261-263
58 ''माघीपौर्ण्णमास्यां'', विजयचन्द्र एवं जयचन्द्र का रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र, वि0सं0 1225, इण्डि0 एण्टीक्वेरी. जिल्द- 15, पृ0सं0- 8.
59 ''मार्ग्गशिर मासे आग्रहणी पूर्ण्णिस्यां'', गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र- 1187, एपि0 इण्डि0, जिल्द-8, पृ0- 154.
60 गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र, वि0सं0 1178, एपि0 इण्डि0, खण्ड-4, पृ0सं0- 110.
61 मदनपाल एवं उसकी रानी पृथ्वी श्री का बहवरा ताम्रपत्र, वि0सं0 1163, एपि0 इण्डि0, खण्ड-32, सूची- 81.
62 गोविन्दचन्द्र का भदवाना ताम्रपत्र, वि0सं0 1184, एपी0इण्डि, खण्ड-19, पृ0सं0- 293.
63 जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र वि0सं0 1233, एपि0 इण्डि0, खण्ड- 35, पृ0सं0- 216.
64 गोविन्दचन्द्र एवं उसकी माता राल्हणदेवी का पाली ताम्रपत्र, वि0सं0- 1189, एपि0 इण्डि, खण्ड-5, पृ0सं0- 114.
65 जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र, वि0सं0 1228, एपि0 इण्डि0, खण्ड- 4, पृ0सं0- 122.

66 जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, वि0सं0- 1234, इण्डि एण्टी0, जिल्द- 18, पृ0सं0- 139.
67 जयचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र, वि0सं0 1232, इण्डि0एण्टी0, खण्ड- 18, पृ0सं0- 131.
68 कर्ण का बनारस दानपत्र लेख, वही, अभि0 क्र0- 48, पृ0- 244-245.
69 *भारती.* अंक-5, पृ0-135, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
70 का0इ0इ0, खण्ड-1, पृ0-116, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
71 भिक्षु. धर्मरक्षित, सारनाथ का इतिहास पृ0-135
72 एपि0 इण्डि0 खण्ड-8, पृ0-171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।
73 एपि0 इण्डि0 खण्ड-8, पृ0-171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।
74 एपि0 इण्डि0 खण्ड-32, पृ0-291, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
75 संस्कृति साधना, खण्ड-32, पृ0- 258-260, बी0आर0 मणि द्वारा प्रकाशित।
76 *भारतीय अभिलेख संग्रह,* खण्ड-3, जे0एफ0 फ्लीट (अनुवादक- गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र), पृ0- 66.
77 गुप्त, पी0एल0, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख,* पृ0-87
78 गुप्त, पी0एल0, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख,* पृ-157-173.
79 ए0एस0आई, जिल्द-1, पृ0-123, कनिंघम द्वारा प्रकाशित।
80 गुप्त, पी0एल0, वही, पृ0-176-177.
81 अग्रवाल, पी0के0, 1983, *इम्पीरियल0 गुप्ता,* वाराणसी, पृ0 111.
82 गुप्त, पी0एल0, वही, पृ0-190.
83 अग्रवाल, पी0के0, वही,पृ0- 112.
84 *भारतीय अभिलेख संग्रह,* पृ0- 286.
85 वही, पृ0- 367-369.
86 वही, पृ0- 311.
87 एपी0 इण्डि0, खण्ड-9, पृ0-59-62, दयाराम साहनी द्वारा प्रकाशित।
88 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-14, पृ0-139-140, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
89 का0इ0इ0, खण्ड-4, पृ0-236, वी0वी मिराशी द्वारा प्रकाशित।
90 वही, पृ0-275.
91 एपी0 इण्डि0, खण्ड-9, पृ0- 302-305, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
92 एपी0 इण्डि0, खण्ड-14, पृ0- 192-196, डी0आर0 साहनी द्वारा प्रकाशित।
93 वही, पृ0- 197-200.
94 एपी0 इण्डि0, खण्ड-2, पृ0- 358-361, आर्थर वेनिस द्वारा प्रकाशित।
95 वही, खण्ड-4, पृ0-101-103, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
96 वही, खण्ड-8, पृ0-152-153, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।

97 वही, खण्ड-4, पृ0- 103-104, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
98 वही, खण्ड-4, पृ0- 104-106, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
99 वही, खण्ड-4, पृ0- 106-107, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
100 वही, खण्ड-4, पृ0- 109, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
101 वही, खण्ड-4, पृ0- 107-109, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
102 वही, खण्ड-4, पृ0- 109-111, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
103 जे0ए0एस0बी0, खण्ड-56, पृ0-113-188, ए0 फ्यूहर द्वारा प्रकाशित।
104 एपी0 इण्डि0, खण्ड-4, पृ0- 99-101, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
105 वही, खण्ड-4, पृ0- 111, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
106 जे0ए0एस0बी0 खण्ड-56, पृ0-118-123, ए0 फ्यूहर द्वारा प्रकाशित।
107 एपी0 इण्डि0, खण्ड-8, पृ0- 153-155, ए0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
108 वही, पृ0- 155-156, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
109 वही, खण्ड-4, पृ0-111-112, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
110 वही, खण्ड-4, पृ0- 361-363, आर्थर वेनिस द्वारा प्रकाशित।
111 वही, खण्ड-4,पृ0-111-112, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
112 वही, खण्ड-4, पृ0-114, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
113 वही, खण्ड-26, पृ0-268-273, कृष्णदेव द्वारा प्रकाशित।
114 वही, खण्ड-26, पृ0-113-114, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
115 वही, खण्ड-4, पृ0-114-116, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
116 वही, खण्ड-5, पृ0-115-116, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
117 वही, खण्ड-8, पृ0-156-158, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
118 वही, खण्ड-8, पृ0-158-159, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
119 वही, खण्ड-4, पृ0-116-117, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
120 वही, खण्ड-9, पृ0- 319-328, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
121 वही, खण्ड-4, पृ0-117-120, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
122 वही, खण्ड-4, पृ0-120-121, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
123 वही, खण्ड-4, पृ0-121-123, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
124 वही, खण्ड-4, पृ0-123-124, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
125 वही, खण्ड-4, पृ0-124-126, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
126 वही, खण्ड-4, पृ0-126-128, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
127इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0-129-134, एफ0 कीलहॉर्न ,द्वारा प्रकाशित।
128 एपी0 इण्डि0, खण्ड-4, पृ0- 128-129, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
129 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0- 134-136, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
130 वही, खण्ड-18, पृ0- 136-137, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।

131 वही, खण्ड-18, पृ0- 137-139, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
132 वही, खण्ड-18, पृ0- 139-140, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
133 वही, खण्ड-18, पृ0- 140-142, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
134 वही, खण्ड-18, पृ0- 142-143, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
135 एपी0 इण्डि0, खण्ड-10, पृ0- 93-100, हीरानन्द द्वारा प्रकाशित।
136 एपी0 इण्डि0, खण्ड-35, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
137 एपी0 इण्डि0, खण्ड-36, पृ0-39-41, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
138 वही, खण्ड-4, पृ0- 130-133, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
139 ए0एस0आई0आर0, खण्ड-11, पृ0- 125, कनिंघम द्वारा प्रकाशित।
140 एपी0 इण्डि0, खण्ड-32, पृ0- 305-309, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
141 ए0एस0आई0आर0, खण्ड-11, पृ0- 128-129, कनिंघम द्वारा प्रकाशित।
142 जे0ए0एस0बी0, खण्ड-19, पृ0-455-456, हीरानन्द द्वारा प्रकाशित।
143 एपी0 इण्डि0, खण्ड-37, पृ0- 245-46, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
144 ज्ञान-प्रवाह, रिसर्च जर्नल्स, भाग-18, पृ0-218-225, नीरज पाण्डेय द्वारा प्रकाशित।

द्वितीय अध्याय

काशी का भौगोलिक स्वरूप एवं सीमा विस्तार

द्वितीय अध्याय

काशी एवं उसका भौगोलिक स्वरूप

मत्स्यपुराण में यह उल्लिखित है कि :-

''वाराणस्यां नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता।

प्रविष्टा त्रिपथा गंगा तस्मिन् क्षेत्रे ममप्रिये।।''[1]

अर्थात् सिद्ध गन्धर्वों से सेवित-पुण्य नदी वाराणसी जहाँ गंगा नदी से मिलती है, वह क्षेत्र शिव को प्रिय है।

''काशी व वाराणसी'' सम्बोधन न केवल प्राचीनतम् जीवन्त नगरी के परिचायक हैं अपितु वे भारतीय संस्कृति के समृद्धि के सूचक भी हैं। धर्म, आध्यात्म, कला, ज्ञान, तकनीकी आदि के विकास की प्रक्रिया का सार भारतवर्ष की भूमि में लम्बी निरन्तर अवतरित परम्पराओं के रूप में सुनियोजित रहा है। अतः इस नगर से कई प्रश्न स्वतः ही जुड़ जाते हैं, जैसे- काशी की प्राचीनता कितनी है? विश्व के सभी नगर विलोपित हुए किन्तु काशी की दीर्घ निरन्तरता अभी तक वर्तमान है? बुद्ध ने बौद्ध-धर्म का प्रवर्तन शिव की नगरी काशी में ही क्यों किया? शिव, गंगा व काशी के अभिन्न स्वरूप की प्रामाणिकता का स्रोत क्या है? इत्यादि।''[2]

देशी एवं विदेशी विद्वानों ने काशी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसे भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्त्व करने वाला बताया है। **ई.वी. हैवेल**[3] इस संस्कृति (काशी नगरी) को आर्य-संस्कृति का प्राचीनतम् केन्द्र मानते हैं वहीं, **पी.वी.काणे**[4] इसे विश्व का ऐसा अति प्राचीन नगर बताते हैं जहाँ धार्मिक व शास्त्रीय ज्ञान की निर्बाध परम्पराओं का उद्भव व विकास माना जाता है। बौद्ध-धर्म के प्रस्फुरण व पल्लवन का आधार शैव-

कथाओं के ताने-बाने से आलेखित काशी का उर्वर सांस्कृतिक धरातल था। कई धार्मिक मतों एवं अनुष्ठानों ने काशी में अपना वलय किया, फलस्वरूप इस नगर की संस्कृति में विविधता देखने को मिलती है। भारतीय संस्कृति की आत्मा तथा कलाओं एवं सांस्कृतिक लक्षणों (अनुष्ठानों) का प्रेरक धर्म ही रहा है। भौतिक उपलब्धियों के अर्जन का सफल आधार होते हुए भी धार्मिक आस्था तथा आध्यात्मिक ज्ञान से ओत-प्रोत काशी नगरी अपनी बहुमुखी सांस्कृतिक परम्परा को संजोने में सक्षम रही, फलस्वरूप यहाँ के नैसर्गिक प्रगति को देखा जा सकता है। इसकी तकनीकी तथा कलात्मक परिपक्वता ने काशी को अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्रदान कर सुशोभित किया।

''काशी पूर्वी दिशा की शाश्वत् नगरी है, न केवल भारत के लिए, अपितु पूर्वी एशिया के लिए भी।''- जवाहर लाल नेहरु

जिसे बनाने में अनेक मत-मतान्तरों एवं विचारधाराओं का सहयोग प्राप्त है, जो भारतीय सभ्यता कहलाती है, उसी सभ्यता की परिपोषक 'काशी' सदैव से रही है। धर्म, शिक्षा एवं व्यापार से काशी का घना सम्बन्ध होने के कारण इस नगरी का इतिहास राजनीतिक होते हुए एक ऐसी संस्कृति का इतिहास है, जिसमें भारतीयता का सम्यक् स्वरूप दृष्टिगत् होता है।

मोतीचन्द्र[5] ने अपनी पुस्तक 'काशी का इतिहास' में काशी के महत्त्व को एक दार्शनिक निवासी की दृष्टि में बताने का प्रयास किया है-

काशी चाहे कल का हो, चाहे आज का हो, या आने वाले कल का, यह प्राचीन विश्व का एक ऐतिहासिक महत्त्व का नगर कल भी था, आज भी है एवं भविष्य में भी बना रहेगा। काशी मात्र एक नगर नहीं, एक संस्कृति भी है। काशी की संरचना ईंट-पत्थर से ही नहीं है, उसका स्वयं का एक इतिहास है.......

इस नगर को देखना तो सरल है किन्तु पहचानना कठिन-कार्य है। इसे स्पर्श करना आसान है, पकड़ पाना अत्यन्त दुर्लभ। इसे चित्रों में उतारना आसान है, पर इसे मानचित्रों में आत्मसात् कर पाना कठिन। इस स्वरूप में यह आसान होते हुए भी बड़ा ही विस्तृत नगर है, एक अद्भुत नगर। यह नगर सर्वमान्य है, सर्वकाम्य है और प्रणाम करने योग्य भी।''

'काशी' एवं 'वाराणसी' शब्दों के स्पष्टीकरण का उल्लेख कर देना प्रारम्भ में ही आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् काशी शब्द की उत्पत्ति उत्तर-वैदिक साहित्य में उद्धृत 'कासिस' से मानते हैं। **हैवेल** यह मानते हैं कि लगभग साढ़े तीन सहस्राब्दी वर्ष पूर्व 'कासिस' नामक जनजाति जो उत्तर-भारत में निवास कर रही थी, उसका प्रस्थान गंगा की पूर्वी घाटी की ओर हुआ और यह जनजाति आधुनिक वाराणसी नगर के आस-पास के क्षेत्र में बस गई।[6] इसी जनजाति के सम्बोधन पर इस क्षेत्र को **'काशी'** कहा जाने लगा। लगभग एक सहस्राब्दी पश्चात् काशी क्षेत्र भारतवर्ष के अन्य-क्षेत्रों के समान राज्य के रूप में परिणत हुआ, जिसकी सांस्कृतिक राजधानी के रूप में हम **'वाराणसी'** को स्मरण करते हैं।

इस नगर का वरुणा व अस्सी नदियों के मध्य की स्थिति ही 'वाराणसी' संज्ञा का आधार रहा है। आठवीं शताब्दी ई0पू0 से छठीं शताब्दी ई0पू0 के मध्य ही 'काशी' व 'वाराणसी' नामावलियों का स्पष्ट विभाजन राज्य तथा उसकी राजधानी के रूप में निर्धारित प्रतीत होता है। इसी काल में भारतीय उपमहाद्वीप में कई जनपद एवं गणराज्य सम्यक् रूप से अस्तित्व में आ चुके थे। षोडश महाजनपदों की सूची जैन ग्रंथ **'भगवती सूत्र'** एवं बौद्ध-ग्रंथ **'अंगुत्तर निकाय'** में भी उपलब्ध है, जिसमें काशी राज्य का भी विवरण है। महत्त्वपूर्ण यह है कि षोडश महाजनपदों की सूची में काशी 'शीर्ष-स्थान' पर ही रही। बौद्ध-साहित्य में यह वर्णन मिलता है कि ब्रह्मदत्त का राज्य 'काशी' जनपद में

था तो 'वाराणसी', कौशाम्बी व हस्तिनापुर (कोशल एवं कुरु राज्यों की राजधानी) की तरह एक समृद्धशाली नगर था, जो उसके वैभव को दर्शाता है।

ब्रिटीश काल तथा परवर्ती कालों के प्रशासकीय दस्तावेजों व प्रकाशित ग्रंथों में 'बनारस' या 'बेनारस' नाम का विवरण है। लगभग छह दशक पूर्व उत्तर-प्रदेश सरकार ने **(25-05-1956)** में पुनः बनारस को 'वाराणसी' नाम से सम्बोधित किया, यह संबोधन नगर के साथ ही प्रशासनिक इकाई, 'वाराणसी जिला' के लिए भी स्वीकृत एवं मान्य हुआ।[7]

प्रो0 विदुला जायसवाल[8] काशी के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहती हैं-

''काशी का सांस्कृतिक क्षेत्र आधुनिक वाराणसी प्रशासनिक खण्ड की परिधि से भी विस्तृत फैला हुआ दृष्टिगत् होता है, क्योंकि विन्ध्य एवं कैमूर की पहाड़ियाँ काशी के खनिज आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन रही हैं। चुनार (विन्ध्य पर्वतमाला) से वास्तु व शिल्प-उपयोगी प्रस्तर की प्राप्ति एवं चकिया (कैमूर पर्वतमाला) से औजार व अस्त्रों के लिए लौह की आपूर्ति काशी को समय-समय पर उपलब्ध होती रही हैं। पुरातात्त्विक अन्वेषण इन क्षेत्रों की पहचान मिर्जापुर जिले में स्थित चुनार की पहाड़ियाँ एवं चकिया तहसील स्थित कैमूर पर्वतीय क्षेत्रों में कई पुरातात्त्विक स्थल के रूप में मान्य हैं। इन पहाड़ियों से अर्द्धमूल्यवान पाषाण-खण्ड के उपकरण प्राप्त होते हैं, जिनसें मनकें व अन्य अलंकरण उपयोगी वस्तुओं का निर्माण होता रहा है, जो जीविका-पूर्ति के साधन थे।''

काशी के विषय में मार्क ट्वेन कहते हैं :-

''काशी इतिहास से भी प्राचीन है, परम्पराओं से भी प्राचीन है, दन्तकथाओं से भी प्राचीन एवं इन सभी के योग से भी दोगुना प्राचीन है।''

हिन्दू-परम्परा में इस नगर को सर्वोपरि सम्मान मिलता है; क्योंकि इतिहास के अनेक परिवर्तनों के पश्चात् भी इस नगर ने अपनी अस्मिता, जो भारतीय संस्कृति का स्वरूप है, को अक्षयनीवि के रूप में अक्षुण्ण बनाये रखा है।

'काशी' शिव के त्रिशूल पर स्थित है, ऐसी पौराणिक मान्यता है। कथानकों में शिव, गंगा एवं काशी एक दूसरे के पूरक एवं अभिन्न अंग दर्शायें गये हैं। हिमालय-पर्वत श्रृंखला, जहाँ से गंगा का उद्भव होता है वहीं शिव का निवास-स्थान है। **काशी खण्ड** में यह उल्लेख है कि- अत्यन्त प्राचीन काल में काशी के गंगा की गोदी के स्थान पर आनन्द-कानन था, जहाँ शिव-पार्वती निवास कर रहे थे। काशी में गंगा का प्रवाह भागीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने अपनी जटा को खोलकर किया। इस कथा से शिव, गंगा एवं काशी की घनिष्ठता तो दिखाई देती ही है, साथ ही साथ हिमालय-पर्वत श्रृंखला से काशी-क्षेत्र का सम्बन्ध एवं निरन्तरता स्वतः जुड़ जाता है।

मध्य गंगा घाटी में अवस्थित काशी-क्षेत्र भौगोलिक संरचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जिसका आधार चट्टान है, जो सौ फीट मोटी मृदा से आच्छादित है। आज के गांगेय क्षेत्र का आधार सहस्राब्दियों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले जल स्रोतों द्वारा बिछाई गई मृदा है।

'कासिस' जनजाति द्वारा अधिकृत वाराणसी व समीप के गांगेय क्षेत्र में प्रारम्भिक सन्निवेश कैसे थे एवं कहाँ स्थित थे; इसका विवरण संहिताओं में स्पष्ट नहीं मिलता। किन्तु हाल के पुरातात्विक अन्वेषण में एक ऐसे गाँव का अस्तित्व आधुनिक वाराणसी नगर व सारनाथ स्थल के मध्य स्थित **'अकथा'**[9] नामक पुरास्थल में मिला। आदि काशी के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष अकथा से अनावृत किये गये। इसका उल्लेख नये अध्याय में किया जायेगा।

''काश्यां हि काशते काशी-काशी सर्वप्रकाशिका।
सा काशी विदिता येन-तेन प्राप्ता ही काशिका।।''

काशी में काशी ही दीप्त है, तेजोमय है। काशी हर वस्तु को प्रकाशित करती है। जिसने काशी को ज्ञात (विदित) कर लिया, उसने काशी को प्राप्त कर लिया।

काशी के अन्य प्रसिद्ध नाम-

किसी समय के पुरातन एवं शांत आनन्द-कानन काशी को दृश्यांकित करना वर्तमान समय में, स्वयं में एक काव्यात्मक कल्पना प्रतीत होती है। शिवगणों ने शिव एवं पार्वती के निवास-स्थान के लिए इस आनन्द-कानन (काशी) का चयन किया, जहाँ अनेक जलाशय एवं कुशा-घास से भरे वन रहे होंगे जो अत्यन्त रमणीय दर्शित रहा होगा। यह रमणीय आनन्द-कानन सिद्ध पुरुषों तथा तपस्वियों की तपोभूमि थी, यहाँ उन्हें ज्ञान के उज्ज्वल मार्ग तथा मोक्ष के मार्ग का संकेत मिला होगा। जहाँ मनुष्य द्वैत-अवस्था से ऊपर उठ सके, एक ऐसा विशिष्ट स्थान जहाँ वह समाधि एवं आनन्द की प्राप्ति कर सके, ऐसे स्थान को योग-संन्यासियों ने काशी के रूप में अवलोकित किया। योगवती एवं भोगवती दोनों के साथ-साथ काशी अद्भुत नगरी है। जितनी स्पष्ट उतनी ही रहस्यों भरी, जितनी खुली उतनी तोपी-ढंकी। जितनी मौन उतनी ही मुखर। अपनी प्रत्येक स्थिति में आनन्दमयी। संभवतः इसलिए काशी अन्तर्राष्ट्रीय रूचि की नगरी है।

'काश' नामक घास की प्रचुरता से पाये जाने के कारण **डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल**[10] ने इस क्षेत्र को 'काशी' नाम से अभिहित किया है, जिसे वे **'कसोई'** जाति से सम्बन्धित मानते हैं।

पुराणों से यह भी विदित होता है कि- भगवान विष्णु ने उपहार स्वरूप काशी को शिव के लिए भेंट स्वरूप दिया था। शिव की परम ज्योति इस स्थान पर सदैव चमकती रहती है और उसे प्रकाशित करने वाली पावन नगरी **'काशी'** कहलाई।

शिव की तपस्या कर राजा भागीरथ ने अपने पूर्वजों को तारने अर्थात् मोक्ष प्राप्ति हेतु गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित करवाया एवं स्वयं रथ पर आरूढ आगे-आगे मार्ग को प्रशस्त करते हुए गंगा को काशी विश्वनाथ के मार्ग को प्रक्षालन कराते हुए महासागर तक ले गये। अतः मोक्ष का मार्ग एवं प्रदीप्त करने वाली नगरी काशी के नाम से संसार में आलोकित हुई।

साहित्य में इस नगर के अन्य नाम भी मिलते हैं, जैसे- **आनन्द-कानन, अविमुक्त, शंकरपुरी, महाश्मशान, रुद्रावास, मोक्ष-प्रकाशिका, वाराणसी, शिवपुरी, मणिकर्णिका, आनन्दरूपा, शिवराजधानी, श्रीनगरी, गौरीमुख, तपःस्थली, महापुरी, अपूर्णा भावाभावभूमि** तथा **धर्म-क्षेत्र** इत्यादि।

बौद्ध-साहित्य में इस नगर को अनेक नामों से अभिहित किया गया है- **कासीनगर, कासीपुर, कासीग्राम, बारानसी, सुरुन्धन, सुदर्शन, ब्रह्मवर्धन, पुष्पवती, रम्यनगर, मोलिनी, केतुमति** तथा **जयनशीला।** प्राकृत के जैन-आगमों एवं अन्य साहित्य में वाराणसी के स्थान पर 'बानारसी' शब्द का उल्लेख हुआ है। 'वाराणसी' के लिए '**जित्त्वरी**' शब्द का सम्बोधन पतंजलि के महाभाष्य में उद्धृत है अर्थात् वह स्थान जो सभी कालों में व्यापारियों के लिए लाभप्रद एवं उपयुक्त स्थान रहा है। पोटलि, अलर्कपुरी एवं बनारस नाम भी बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित है। उपर्युक्त सभी नामों में 'काशी', 'वाराणसी' एवं 'बनारस' आज तक स्थायी एवं लोकप्रिय प्रतीत होते है। काशी के जितने भी प्रसिद्ध नाम है; उनमें से प्रसिद्ध कुछ प्रमुख नामों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है, जो निम्नवत् है :-

आनन्द-कानन[11]-

आनन्द-कानन के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि- शिव ने देवी पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहा कि- सर्वदा आनन्द-प्रदान करने वाला यह आनन्द-कानन मुझे तुम्हारी तरह ही प्रिय है।

वाराणसी-

पुराणों में वाराणसी नाम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो मत प्रचलन में है। प्रथम मत के अनुसार **वरणा** एवं **असी** नामक दो धाराओं के बीच में अवस्थित होने के कारण इस नगर का नाम वाराणसी[12] पड़ा। वाराणसी की उत्तरी सीमा वरणा नदी एवं दक्षिणी सीमा असी नदी है। द्वितीय मत के अनुसार वाराणसी शब्द 'वरणा' एवं 'नासी' शब्दों के युग्म से निर्मित है (न कि वरणा और असि से)। इन्द्रियजन्य दोषों का निवारण करने हेतु 'वरणा' एवं इन्द्रियजन्य पापों का नाश करने वाली 'नासी' के मिलन से 'वाराणसी' नाम पड़ा। अतः वाराणसी की व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ- वह नगरी जो विभिन्न इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले दोषों तथा पापों को विनष्ट कर दे। वामन एवं पद्मपुराण में भी 'असी' शब्द का प्रयोग हुआ है।

अविमुक्त-

'अविमुक्त-क्षेत्र' भी काशी को कहा गया है। यहाँ निषेधात्मक 'न' के अर्थ में 'अ' का प्रयोग हुआ है। शिव एवं पार्वती ने इस नगर का कभी परित्याग नहीं किया, (अ+विमुक्त) इसलिए इसे **'अविमुक्त'**[13] कहा गया। लिंग पुराण में इस शब्द की अन्य उत्पत्ति दी गई है। इसके अनुसार 'अवि' का अर्थ है- पाप। अतः यह नगरी पाप (अवि) से मुक्त है, इसलिए इसे 'अविमुक्त' नाम से सम्बोधित किया जाता है।[14] शिव को आनन्द देने वाली यह नगरी महाश्मशान के त्रिगुणों की समाप्ति के पश्चात् एवं प्रलय के अनन्तर भी शाश्वत् रूप में स्थिर रहती है। इसीलिए आनन्द-कानन में शिव आनन्दपूर्वक निवास करते हैं। अतः इसके परित्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्मपुराण में शिव अविमुक्त के विषय में कहते हैं- ''अविमुक्त का मूल सिद्धान्त सनातन ब्रह्म है। अविमुक्त काशी स्वयं मायाधीन स्वरूप है, काशी अविमुक्त क्षेत्र है, इसे मैं अपने आवास के रूप में स्वीकार करता हूँ।''

महाश्मशान-

काशी को 'श्मशान' एवं 'महाश्मशान' के नाम से जाना जाता है। मान्यता है कि विश्व का केन्द्र काशी में समाहित है, प्रलय काल में समस्त वस्तुओं का इसी केन्द्र में विलीन हो जाना अनिवार्य है। सभी पक्षों, समस्त धारणाओं, सभी दिशाओं, समस्त जीवों, पदार्थों एवं पंचमहाभूतों का विनाश प्रलय काल में इस केन्द्रित काशी में होगा।

कपास की गांठे जिस प्रकार अग्नि की लपटों से झुलसकर राख हो जाती हैं, उसी प्रकार काशी या ज्ञान की अग्नि में जलकर यह संसार भस्मीभूत हो जाता है। काशी वहीं महाश्मशान है, जहाँ सब कुछ भस्मीभूत हो जाता है-

1. **''महाश्मशान भू-भागं स्वर्ग द्वार समीपतः''।**
2. **''अन्यानि मुक्ति क्षेत्राणि काशी प्राप्ति कराणि हि।**
   काशी प्राप्य विमुच्येत नान्यन्था तीर्थ कोटिभिः॥''
3. **''काश्याः सर्वापिः सृताः सृष्टिकाले काश्यामन्तः स्थिति काले वसन्ति।**
   काश्यां लीनाः सर्वसंहार काले ज्ञातव्यास्ताः मुक्तिपुर्योभवन्ति।''

गंगा के तट पर मणिकर्णिका घाट पर सदैव शव जलते रहते हैं। साधारणतया श्मशान को अपवित्र समझा जाता है किन्तु सहस्त्रों वर्षों से यह स्थल श्मशान घाट होने के फलस्वरूप भी परम-पवित्र माना जाता है। **स्कन्दपुराणानुसार-** 'शम' का अर्थ शव है एवं शान का अर्थ है- शयन करना अथवा पृथ्वी पर सदा के लिए सो जाना। जब विश्व का प्रलय या अन्त होता है तब महान तत्त्व, शवों के समान, यहाँ पड़ जाते हैं। अतएव यह स्थान (काशी) 'महाश्मशान' कहलाता है। **पद्मपुराण** [15] में शिव कहते है- ''अविमुक्त एक विख्यात् श्मशान है। मैं काल देवता बनकर यहाँ निवास करता हूँ तथा विश्व के नकारात्मकता का नाश करता हूँ।''

भारतीय वाङ्मय (साहित्य) में काशी-

भारतीय संस्कृति को विश्व में अपनी विशिष्ट पहचान दिलाने में 'काशी' का महत्त्वपूर्ण योगदान विशेष आकर्षित करता है। भारतीय संस्कृति की धरोहर के रूप में स्मरित की जाने वाली काशी के विषय में **डॉ. पी.वी. काणे**[16] ने सत्य ही तो कहा है- ''काशी का महत्त्व ईसाईयों के रोम, मूसाइयों के यारुसलेम और मुसलमानों के मक्का से भी कहीं अधिक हैं।'' **भगिनी निवेदिता** (मिस मारग्रेट नोबेल) भी काशी के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि[17]- ''काशी हिन्दुओं के लिए कैण्टरबरी के साथ-साथ ऑक्सफोर्ड भी है। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए पोप-पुरी का जो महत्त्व है, काशी की गरिमा उससे भी कहीं सहस्त्र गुनी अधिक है।''

साहित्यिक परम्परा में काशी की प्रसिद्धि अथवा साहित्य में काशी का विवरण निम्नवत् हैः-

काश् धातु से निर्मित काशी के विषय में कहा गया है कि- 'काशयति प्रकाशयति इदं सर्वम् इति काशी'- जिससे सभी प्रकाशित हो, वह काशी है। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि वह भू-भाग जिसमें अत्यधिक जल एवं कुसा नामक घास प्रचुर मात्रा में पायी जाती हो, वह काशी है। ऋग्वेद संहिता में भी 'काश' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ इसे 'गंगा तट पर बहुतायत मात्रा में पाई जाने वाली घास' कहा गया है। इस घास को **'सैक्करम स्पांटेनियम'** कहते हैं। इस घास पर सूर्योदय के समय की ओंस की बूंदे पर्याप्त मात्रा में पड़ती हैं, जो सुबह के समय दूर से देखने पर मोती जैसी चमकती है, एवं स्वयं में प्रकाशमान रहती है। यह विशेष रुप से काशी-क्षेत्र (गंगातट के पास) में पाई जाती है। संभवतः प्राचीन समय के विद्वत्जनो को यह अनुभव हुआ हो अथवा तत्कालीन परिवेश में नदियों, पहाड़ों एवं नगरों के लिए नये नाम रखने (सम्बोधित करने) की परम्परा रही हो। इसी कारणवश काशी नाम पड़ा।

वैदिक साहित्य में काशी-

वैदिक साहित्य के तीनों स्तरों संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में काशी का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में यह उल्लेख है कि इन्द्र ने राजा दिवोदास की 90 नगरियों को जीत लेने के पश्चात् 100 नगर प्रदान भी किया जिनमें काशी भी सम्मिलित थी। **अथर्ववेद के पैप्पलाद शाखा** के वर्णनानुसार एक मंत्र में 'काशी' के बहुवचनान्त (काशयः) का उल्लेख प्राप्त होता है।[18] कोशल, काशि और विदेह नामक जनपदों को सम्बोधित करते हुए 'तक्मा' नामक ज्वर को भेजने की प्रार्थना इस मंत्र में की गई है। 'काशय' का अभिप्राय काशि-जनपद के निवासियों से है।

वैदिक-धर्म की निरन्तर वृद्धि आर्यों के काशी में धीरे-धीरे बस जाने के बाद से होती रही। काशिराज धृतराष्ट्र का अश्वमेध यज्ञ का प्रारम्भ होना ही इस बात का उल्लेख करता है कि उस समय काशी समृद्ध एवं शक्तिमान हो चुका था तथा काशी में वैदिक धर्म की क्रिया-प्रक्रिया सुप्रतिष्ठित हो गयी थी। शतपथ ब्राह्मण में यह वैदिक निर्देश इस प्रकार है :-[19]

तदेतद् गाथयाभिगीतम्-
''शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजिते हयम्।
आदत्त यज्ञं काशीनां, भरत-सन्त्वतायिव॥''

शतपथ ब्राह्मण से पूर्व होने वाली घटना का उल्लेख इस वैदिक गाथा में मिलता है। इसमें यह उल्लेख है कि काशी जनपद के राजा के यज्ञीय अश्व को सात्राजित शतानीक ने छीन लिया। उस समय काशी का राजा धृतराष्ट्र था। इस बलात् पकड़े गये अश्व से शतानीक ने अपना अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किया। किन्तु काशी के राजा का अश्वमेध

यज्ञ पूर्णतया समाप्त नहीं हो सका, जिसके फलस्वरूप काशिवासियों ने अग्नि कर्म-अग्निहोत्र करना ही छोड़ दिया था। इसका उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण में इस प्रकार हैः-[20]

''सात्राजित ईजे काश्यस्याश्वमादाय ततो हैतदर्वाक् काशयोऽग्रीन् नादधत। आत्त सोमपीयाः स्म इति वदन्तः।''

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि काशीवासी इसलिए श्रौताग्नि नहीं धारण कर रहे थे, क्योंकि उनसे सोमपान छीन लिया गया था। यहाँ 'काश्य' पद काशिराज एवं 'काशयः' काशि जनपद के निवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस कथन से तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काशीवासी वैदिक धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं धार्मिक कट्टरता से परिपूर्ण थे। यहाँ उनके किसी धार्मिक शैथिल्यता का परिचय प्राप्त नहीं होता।

गोपथ ब्राह्मण में 'काशी कोशला' पद का समस्त रूप में उल्लेख मिलता है, जिनसे काशिराज्य एवं कोशलराज्य के संयुक्त होने का विवरण प्राप्त होता है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'काशिकोसलियाः' का प्रयोग करते हुए ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में इनकी राजनीतिक स्थिति का अनुमान किया है।

काशी को अध्यात्म विद्या का केन्द्र उपनिषदों में मिथिला के समान ही स्वीकार किया गया है। **बृहदारण्यक**[21] एवं **कौषीतिकी उपनिषद्**[22] में यह उल्लेख है कि काशी के राजा अजातशत्रु के समक्ष ब्रह्मज्ञानी गार्ग्य बालाकि ने प्रस्तुत होकर कहा कि मैं आपको ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करुँगा। इस पर राजा ने उत्तर दिया कि काशी में आकर हमारे सामने ब्रह्मविद्या का उपदेश देने की जो बात आपने मुझसे कही, उसी के पुरस्कार स्वरूप मैं आपको एक हजार गौएँ दान में दूँगा, क्योंकि आज-कल लोग जनक के ज्ञान पर प्रसन्न होते हुए मिथिला की ओर ही दौड़ते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा का मूल कथन इस प्रकार है :-

''स होवाचाजातशत्रुः सहस्त्रमेतस्यां वाचि दद्यो जनकों जनक इति वे जनाः धावन्ति।''

इस कथन से यह परिलक्षित होता है उस युग में मिथिला का स्थान काशी से ऊँचा था। फिर भी अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए एवं अपने ज्ञान की पिपासा की तृप्ति के लिए लोग काशीवास करते थे।

पाणिनी की अष्टाध्यायी में 'काशीयः' रूप की सिद्धि को बताते हुए यह उल्लेख किया है कि-[23] **''नियत पुरुषापेक्षो व्यवहारो दृश्यते। यथा वाणिज्य एवं वाराणसी जित्त्वरीति व्यवहरन्ति म एवं वैयाकरणा एवाद्रिं विदूर इति।''**- इससे तात्पर्य यह है कि व्यवहार नियत पुरुषों की अपेक्षा रखता है। अपनी ओर से किसी वस्तु विशेष को विशिष्ट नाम देना व्यक्ति विशेष का स्वभाव होता है। जिस प्रकार वैयाकरण लोग 'बालवाय' नामक पर्वत को 'विदुर' नाम से संबोधित करते है, उसी प्रकार वणिक वर्ग के व्यापारी लोग काशी (वाराणसी) को **'जित्त्वरी'** नाम से संबोधित करते हैं। यहाँ से प्राप्त व्यापार में लाभ प्राप्त होने पर संभवतः काशी अथवा वाराणसी को 'जित्त्वरी' (जयनशीला) नाम से अभिहीत किया गया।

सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान (399 ई0- 414 ई0) काशी राज्य के वाराणसी नगर में भ्रमण किया। इस कथन से तो यह स्पष्ट है कि लगभग चतुर्थ शताब्दी ई0 में काशी जनपद एवं वाराणसी उसकी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित थी। किन्तु पतंजलि के महाभाष्य में काशी नगर एवं जनपद (देश) दोनों नामों से सम्बोधित की जाती थी।

रामायण में काशी का उल्लेख-

बाल्मीकि कृत रामायण में यह उल्लेख मिलता है कि राजा दशरथ ने अपने अश्वमेध यज्ञ में काशीराज को निमन्त्रित करते हुए उन्हें सन्तत प्रियवादी, सच्चरित्र एवं देवतुल्य बताया।

''तथा काशिपतिं स्निधं सन्ततं प्रियवादिनम्।

सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवान यस्व ह॥''[24]

अयोध्याकाण्ड में कैकेयी के क्रोध को शान्त करने के लिए दशरथ ने अपने विशाल साम्राज्य से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को मंगाने का प्रयत्न किया। समृद्धशाली काशी भी उन्हीं के साम्राज्य के अन्तर्गत थी।[25]

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा।

द्राविड़ाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।

वङ्गाङ्गमागधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोशलाः।

तत्र जातं बहुद्रव्यं धन धान्यमजाविकम्।

ततो वृणीष्व कैकेयी यद् यत्त्वं मनसेच्छसि।

किष्किन्धाकाण्ड में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि सुग्रीव ने वानरों को 'काशि-कोशल' क्षेत्र में भी भेजा था। उत्तरकाण्ड में राम के राज्याभिषेक पर काशिराज प्रतर्दन का उल्लेख है, उन्हें दो बार 'अकुतोभय' एवं वाराणसी (काशी) को 'रमणीय', सुन्दर प्रकाश तथा तोरणों वाली नगरी कहा गया है।[26]

''तद् भवानद्य काशेय पुरीं वाराणसी व्रज।

रमणीयां त्वया गुप्तां सप्राकाशं सुतोरणाम्॥''

महाभारत में काशी का उल्लेख-

महाभारत में काशी का उल्लेख 'तीर्थ एवं काशिराज का महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की ओर से लड़ने के प्रसंग में हुआ है। पाण्डवों के अज्ञातवास के अवसर पर उनके काशी आने का उल्लेख वनपर्व से ज्ञात होता है। वनपर्व में उल्लिखित है कि-[27]

अविमुक्त समासाद्य, तीर्थसेवी कुरुदत।

दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्या।

× × × ×

ततो वाराणसी गत्वा देवमर्च्य वृषध्वजम्।

कपिला- ह्रदमुपस्पृश्य, राजसूयफलं लभेत॥

कपिलधारा (कपिलाह्रद) नामक तीर्थ काशी में बड़ा प्रसिद्ध है, जो महाभारत में वर्णित प्रसिद्ध तीर्थ के रुप में विख्यात् थी। यह काशी नगरी के भीतर न होकर पंचक्रोशी की प्रदक्षिणा मार्ग में अवस्थित है।

महाभारत में वर्णित 'काशिराज' एवं 'काश्य' सम्बोधन राजा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उनके वास्तविक नाम का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। उदाहरणार्थ युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में काशिराज ने भाग लिया, किन्तु कहीं भी उनके नाम का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार का अन्य उदाहरण यह है कि- गंगा पुत्र भीष्म ने काशिराज की तीन कन्याओं- अम्बा, अम्बालिका एवं अम्बिका का अपहरण किया था किन्तु यहाँ काशिराज के नाम का पता नहीं चलता।[28]

इस प्रकार के उद्धरणों से यह अनुमानित होता है कि महाकाव्यकालीन (महाभारत) काशी का महत्त्व शासक से कहीं अधिक था; संभवतः इन्हीं कारणों से शासक वर्ग को 'काशिराज' की उपाधि अत्यन्त प्रिय थी।

जैन-ग्रन्थों में काशी-

जैन-धर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी से 250 वर्ष पूर्व लगभग 777 ई0पू0 में वाराणसी के भेलुपुर में पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। इनके पिता राजा अश्वसेन काशी के शासक थे। सारनाथ जिसे जैन-आगम में **'सिंहपुर'** नाम से सम्बोधित किया

जाता रहा है, जैन धर्मावलम्बियों के लिए पवित्र तीर्थ स्थान है। श्रेयांसनाथ जो कि 11 वें तीर्थंकर थे, यहीं पर उनका जन्म हुआ। इन्होंने आगे चलकर भारत वर्ष में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया। काशी में ही सुपार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभ का भी जन्म हुआ था। भेलुपुरा मुहल्ला (पार्श्वनाथ की जन्मभूमि) वर्तमान समय में वाराणसी के विजयानगरम् महल के पास अवस्थित हैं। महावीर की मृत्यु के समय काशी एवं कोशल के 18 संयुक्त राजाओं ने दीपावली के दिन प्रकाशोत्सव मनाया।[29]

बौद्ध-ग्रंथों में वर्णित काशी-

बौद्ध-ग्रंथों में काशी सविस्तृत उल्लिखित हुई है। बौद्ध-ग्रंथों में यह वर्णन हैं कि काशी जनपद की राजधानी वाराणसी थी। बुद्ध-काल तक काशी (5वीं शती ई0पू0), चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत एवं कौशाम्बी जैसे-प्रसिद्ध नगरों में परिगणित की जाती थी।[30] बुद्ध-पूर्व काल में काशी एक स्वतंत्र एवं समृद्ध राज्य था। इसका साक्ष्य देते हुए महावग्ग में स्वयं बुद्ध ने इसकी प्रशंसा करते हुए इसे समृद्ध, विस्तृत एवं जनाकीर्ण बताया है। बोधगया में ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश काशी के सारनाथ में ही दिया। ऐसा विदीत होता है कि तपस्या के समय इनके 5 भिक्षु साथी इनका साथ छोड़कर वाराणसी चले आये। उन्हीं की खोज में एवं काशी के धर्म-दर्शन एवं शिक्षा से प्रभावित होकर बुद्ध को यहाँ आना पड़ा एवं अपने धर्म के प्रति काशिवासियों का हृदय जीतना पड़ा। ऐसा माना जाता है कि काशी प्रारम्भ से ही धर्म-संसद के रूप में विख्यात थी, फलतः बुद्ध को अपने धर्म की देशना यहीं से प्रारम्भ करनी पड़ी। इन कथनों से यह अनुमानित होता है कि यह नगर (काशी अथवा वाराणसी) आर्यों की संस्कृति के क्रियाकलापों का प्रमुख केन्द्र बन चुकी थी।

जातक ग्रन्थों (खुद्दक निकाय का भाग, बौद्ध-ग्रंथ) में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख मिलता हैं। कुछ जातक कथाओं का प्रारम्भ ही 'ब्रह्मदत्त' के वाराणसी के

राजा से होता है- **''अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते राज कारेन्ते'।** त्रिपिटक एवं जातकों का विशेष महत्त्व काशी के राजनैतिक इतिहास को जानने के लिए एवं काश की महिमा स्मरित करने के लिए है। बुद्धकालीन काशी षोडश महाजनपदों में विभक्त थी। कोशल एवं मगध के समान काशी जनपद श्रेष्ठ महत्त्वपूर्ण एवं विख्यात् होने के कारण काशी का साम्राज्य एकछत्र एवं काशी का राजा सार्वभौम था।

बौद्ध-साहित्य में काशी को सुदर्शन, सुरुद्धन, ब्रह्मवर्धन, पुष्पवती, रम्यनगर तथा मोलिनी जैसे अन्य उपनामों से समीकृत किया गया हैं। काशी के राजा मनोज ने कोशल, मगध तथा अंग के राजाओं को पराजित किया। काशी के राजाओं में ब्रह्मदत्त का प्रभुत्त्व एवं महत्त्व अत्यधिक होने के फलस्वरूप उसने कोशल पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

भोजाजानीय जातक[31] में यह उल्लेख है कि काशी के राजा के समृद्धशाली होने के फलस्वरूप सभी उससे द्वेष रखते थे। उसे परास्त करने के लिए सात राजाओं ने संघ का निर्माणकर एक साथ मिलकर काशी पर चढ़ाई कर दी किन्तु उन्हें हार का सामना करना पड़ा। वे लोग काशिराज को पराजित नहीं कर पाये। परन्तु युद्ध में विजय श्री ने सदा काशी के राजा का ही वरण किया।

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण में काशी-

629 ई0 में ह्वेनसांग बौद्ध-धर्म ग्रंथों से परिचित होने के प्रयास में चीन से भारत के लिए प्रस्थान किया। वह विशेष रूप से फाह्यान एवं इत्सिंग से अनुप्रेरित हुआ था। वह अफगानिस्तान एवं तक्षशिला होते हुए कश्मीर से मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती स्थलों का भ्रमण करते हुए कपिलवस्तु पहुँचा, जहाँ से वह रामग्राम एवं कुशीनगर (बौद्ध-स्थल) होते हुए वाराणसी आया।

वाराणसी के सौन्दर्य, सदाचार एवं भव्यता को देखकर ह्वेनसांग आश्चर्यचकित हो गया। **ह्वेनसांग वाराणसी के विषय में वर्णन करता है कि**[32]- यह राज्य 4000 ली (1 ली= 1/2 कि.मी.) में फैला हुआ है। फलस्वरुप इसकी आबादी घनी है। वाराणसी के लोग धनी होने के साथ-साथ सहृदय एवं मधुर स्वभाव वाले हैं। वे गंभीरतापूर्वक अध्ययन में संलग्न रहते हैं। यहाँ कुछ लोग बौद्ध-धर्मानुयायी होने के साथ ही अन्य धर्मावलम्बी है। यहाँ मौसम सुहावना होने के साथ ही अन्न की प्रचुरता भी है। वृक्ष, फल, फूलों एवं जड़ों से आच्छादित हैं। वह आगे लिखता है कि- वाराणसी में लगभग 30 बौद्ध-विहार है, जिनमें 3000 बौद्ध भिक्षु हीनयान सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं। शैव-धर्म से सम्बन्धित 100 देव मंदिर में 10000 पुजारी विद्यमान हैं, जो मुख्य रुप से शिव की आराधना एवं पूजा करते हैं। कुछ अपना सिर मुंडाए है, कुछ के सिर पर जटा है और वे नग्नावस्था में विचरण करते हैं। वे निर्ग्रन्थ हैं। वे अपने शरीर को भस्म विलेपित किए हुए है और तप द्वारा जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त हेतु प्रयासरत हैं।

राजधानी में 20 देव मंदिर हैं जो पत्थर एवं नक्काशीदार लकड़ियों के बने हुए हैं। छायादार वृक्षों एवं निर्मल जलधाराओं से वाराणसी घिरी हुई हैं। ताँबे की बनी शिव की मूर्त्ति 100 फीट ऊँची है जो गंभीर एवं तेजस्वी दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सचमुच जीवन्त हैं।

वरुणा नदी राजधानी के उत्तर-पूर्व में विद्यमान हैं। इसके पश्चिम में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप जिसकी ऊँचाई लगभग 500 फीट है, इसके सामने प्रस्तर-स्तम्भ है। जो आईने के समान चमकता है। इसकी सतह पॉलिशदार है। जिसके ऊपर बुद्ध के चित्र की छाया दर्शन अनवरत किया जा सकता है। वर्तमान समय में भी सारनाथ संग्रहालय में अपनी भव्यता को लिए हुए यह प्रस्तर लेख विद्यमान है, जिसका ह्वेनसांग ने साक्षात्कार किया था। यह आज भी आईने के समान चमकता है।

पौराणिक ग्रंन्थों में काशी-

काशी नरेश दिवोदास का उल्लेख पौराणिक ग्रंन्थों में भी आता है। दिवोदास के प्रपितामह काश का सम्बन्ध काशी से था। काश के अनेक पुत्र हुए वे सभी काशी कहलाये। काश के शासनकाल से ही वाराणसी का नाम काशी प्रसिद्ध हुआ।[33]

पौराणिक काल में राजा दिवोदास को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हुई। पुराणों में राजा दिवोदास द्वारा क्षेमक नामक राक्षस का वध तथा हैहयनरेश भद्रश्रेण्य के सौ पुत्रों का संहार वर्णित है। कुम्भक (निकुम्भ) नामक ऋषि का आगमन दिवोदास के शासनकाल में हुआ। कुम्भक ने काशी में अपने नियमानुसार सायंकाल में पहुँचकर हजारों वर्षों के लिए अपना डेरा डाल लिया। कालान्तर में दिवोदास के शासनकाल में ही काशी में भीषण अकाल पड़ा। सारा नगर भुखमरी की चपेट में आ गया; केवल कुम्भक ऋषि का ही आश्रम हरा-भरा था। गाँव के ग्वाले अपनी गांयों को आश्रम के आस-पास चराने के लिए ले जाते थे। इनकी भूलवश गांये 'होम धेनु' (कुम्भक की गाय) से आपस में जा मिली और उनके साथ गाँव वापस लौटी। इसी क्रोध में आकर कुम्भक ने काशी को नष्ट होने का शाप दे दिया और अपने शिष्यों के साथ काशी छोड़कर चले गये।

काशी के शापित होने की कथा **हरिवंशपुराण** में कुछ भिन्न प्रकार से है। शिव विवाहोपरान्त अपने ससुराल में रह रहे थे। जगत कार्य हेतु अपने दायित्व को विस्मृत कर दिया, फलतः देवताओं ने विवश होकर पार्वती की माता मैना से अनुनय-विनय की। मैना ने शिव को जमकर फटकारा। अपने पति शिव का अपमान पार्वती सहन न कर पाई और शिव से बोली हमें कहीं और चलकर निवास-स्थान का चयन करना चाहिए। तब उनके अनुरोध पर शिव ने काशी को अपना बसेरा बनाया। इस समय वहाँ का राजा दिवोदास था। शिव ने कुम्भक को काशी में बसने का आशीर्वाद दिया जिसके फलस्वरूप उन्होंने काशी में आश्रम जैसे तपस्थली में निवास किया। इसी मंदिर में दिवोदास की रानी

पुत्र-प्राप्ति हेतु आने लगी किन्तु ऋषि कुम्भक ने उन्हें कोई आशीर्वाद नहीं दिया फलस्वरूप दिवोदास ने कुम्भक-ऋषि को अपमानजनक कटु शब्द कहे। इसी क्रोध में आकर कुम्भक ऋषि ने काशी के विनाश का शाप दे दिया। काशी में तो शिव का मन रम गया किन्तु पार्वती अन्यत्र चलने की जिद करने लगी। शिव ने काशी के महत्त्व को समझाते हुए पार्वती से कहा- **''हे सर्वसुन्दरी! जैसी तुम मेरी प्रियतमा हो, वैसे ही यह अविमुक्त क्षेत्र मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं इसे छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जा सकता।''** तभी से काशी का क्षेत्र **'अविमुक्त'** नाम से सम्बोधित किया जाने लगा।

काशीखण्ड, जो स्कन्दपुराण का एक पृथक भाग है, इसमें काशी के समस्त तीर्थों- मंदिरों तथा देवी-देवताओं के आयतनों का भौगोलिक परिचय दिया गया है। काशीखण्ड काशी के धार्मिक-स्वरूप को समझने के लिए दर्पण के समान प्रतीत होता है।

पुराणों में यह श्लोक अनेक स्थलों (प्रकरण) में उल्लिखित है:-[34]

''अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुरी, द्वारावती, चैव, सप्तैता मोक्षदायिकाः।।''

अर्थात् इन नगरियों में निवास एवं दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु यह स्मरण रहना चाहिये कि नगरियाँ स्वतः मोक्ष प्रदान नहीं करती किन्तु इस नगर (काशी) में निवास करने के पुण्य के फलस्वरूप मनुष्य का काशी में जन्म एवं मरण होता है। अतः इन सातों नगरियों में काशी सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। 'त्रिस्थली सेतु' में यह पुराण वचन उद्धृत है:-

**''अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि, काशी प्राप्ति कराणिहि।
काशी प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः॥''**

- **काशी का भौगोलिक स्वरूप-**

भूगोल इतिहास के घटनाक्रम को जितना अधिक प्रभावित करता है, उतना अन्य कोई विद्या नहीं करती। काशी के भौगोलिक परिदृश्य में काशी की संरचना, भौगोलिक सम्पदा, प्राकृतिक संसाधन, आवागमन के साधन एवं अवरोधों का अध्ययन इस परिप्रेक्ष्य में किया गया है कि उनका काशी-क्षेत्र के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ता है। नगरों की स्थिति का निर्धारण भौगोलिक परिवेश ही करते हैं। भौगोलिक स्वरूप पर ही किसी देश अथवा राष्ट्र के इतिहास का निर्धारण होता है। **प्राचीन विश्व में जितनी भी महान सभ्यताओं उदय हुआ, वे सभी नदियों की उर्वरा घाटी में ही विकसित हुई।** अतः यह कहा जा सकता है कि भूगोल का अध्ययन ऐतिहासिक तथ्यों को समझने हेतु महत्त्वपूर्ण है। इन भौगोलिक कारकों में काशी में मानव का सन्निवेश, नदियों का स्वरूप, वनस्पतियों, जीव-जन्तु, मृदा का विवरण आदि विचारणीय हैं। मानव-जीवन की समस्त घटनाएँ प्रकृति द्वारा संचालित होती है, वहीं उनकी नियन्त्रणकृर्त है, अतः भौगोलिक अध्ययन में सर्वप्रमुख स्थान प्राकृतिक भूगोल का ही हैं।

अर्द्धचन्द्राकार स्वरूप में गंगा नदी के बायें किनारे पर वर्तमान वाराणसी नगर अवस्थित है। नगर की भौगोलिक स्थिति 28^{0}18' उत्तरी अक्षांश एवं 83^{0}1' पूर्वी देशान्तर है।[35] जबकि वर्तमान वाराणसी जनपद 25^{0}1' उत्तरी अक्षांश तथा 83^{0}0' पूर्वी देशान्तर मध्य अवस्थित स्वीकार किया गया है।[36] लगभग **1535** वर्ग किलोमीटर में सम्पूर्ण वाराणसी जनपद विस्तृत है। **जनपद के उत्तर में जौनपुर, उत्तर-पूर्व में गाजीपुर, दक्षिण में मिर्जापुर तथा दक्षिण-पूर्व में चंदौली जनपद एवं भभुआ है।**

प्रथम सदी ई0 से बारहवीं सदी ई0 तक काशी अपेक्षाकृत निरन्तर एक विकसित क्षेत्र के रूप में विद्यमान थी, ऐसा पुराणों के अनुशीलन से विदित होता है। मध्यकालीन स्त्रोतों से यह ज्ञात होता है कि काशी क्षेत्र का विस्तार पश्चिम में देहली विनायक से पूर्व में

गंगा पार, भोपाली से दक्षिण खैरुद्दीनपुर तक तथा उत्तर में चोलापुर के निकट गोला गाँव तक दक्षिण में मिर्जापुर जिले के हवेली-परगने तक था; जिसके मध्य में गंगा नदी का प्रवाह था।[37]

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों,[38] सूत्रग्रंथों,[39] उपनिषदों,[40] अष्टाध्यायी[41] में काशी जनपद का तो उल्लेख मिलता है किन्तु भौगोलिक स्थिति, सीमा-विस्तार सम्बन्धी तथ्य स्पष्ट नहीं है। महाभारत एवं पौराणिक साक्ष्य भी भौगोलिक विवरण सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त विवादास्पद ही प्रकट करते हैं। महाभारत के वनपर्व में यह उल्लेख है कि मार्कण्डेय ऋषि का तीर्थ गंगा-गोमती संगम पर बसने के कारण बहुत प्रसिद्ध था।[42] मनुष्य मोक्ष एवं पुण्य प्राप्ति हेतु कपिलाह्रद (कपिलधारा-वर्तमान) में स्नान करते थे, जो तीर्थ के समान था।

अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'यस्य आयामः' पर पतंजलि के भाष्य 'अनुगंग वाराणसी अनुयमुन मथुरा' से यह ज्ञात होता है कि कम से कम ई0पू0 द्वितीय शती में गंगा के किनारे वाराणसी बस चुकी थी।[43] मौर्य एवं शुंग काल में काशी के राजघाट में वाराणसी की एक बस्ती का प्रमाण पुरातात्त्विक स्त्रोतों से प्राप्त हुआ है। बुद्धचरित्र से भी यह ज्ञात होता है कि गंगा एवं वरुणा संगम के समीपवर्ती क्षेत्रों में काशी परिसीमित थी।[44]

बौद्ध-ग्रंथों में काशी षोडश महाजनपदों में परिगणित है, जिसके मुख्य नगर (राजधानी) के रूप में वाराणसी को ख्याति प्राप्त थी। इन साहित्यिक स्त्रोतों में यत्र-तत्र वाराणसी के भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान होता है। जातको में इस प्रकार के अनेक उदाहरण ज्ञात होते हैं कि गंगा वाराणसी के समीप होकर बहती थी।[45]

जैन साहित्य में भी वाराणसी के लिए 'वारानसी' अथवा 'वाराणसी' शब्द व्यवहृत है, जिसे आर्य देश में स्थित काशी जनपद की राजधानी से अभिहित किया गया है। जैन साहित्य में यह उल्लिखित है कि वाराणसी के नाविक (मछुआरे) गंगा नदी में नाव

चलाकर अपनी आजीविका चलाते थे।[46] गंगा नदी, वाराणसी से होकर अपना पथ अग्रसरित करती है। पुराणों में काशी (वाराणसी) के विवरण महाभारत के विवरण से कुछ साम्यता रखते हैं। चूँकि सभी पुराण धार्मिकता से आबद्ध हैं, इसलिए काशी को सर्वत्र तीर्थ के रूप में ही स्वीकार किया गया है, भौगोलिक विवरण का उल्लेख किंश्चित मात्र प्राप्त होता है, जिसमें गंगा नदी एवं तीर्थ के रूप में ही काशी का उल्लेख है।

सांतवी शताब्दी ई0 में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने काशी का अपने यात्रा विवरण में उल्लेख नहीं किया किन्तु वाराणसी शब्द को नगर एवं जनपद दोनों के लिए व्यवहरित किया है। **ह्वेनसांग** के वर्णनानुसार काशी की राजधानी वाराणसी गंगा के पश्चिमी किनारें पर अवस्थित थी।[47] कुछ गाहडवाल अभिलेखों में यह उल्लेख हैं कि वाराणसी के उत्तर वरणा एवं गंगा के समीप स्थित आदिकेशव घट्ट गंगा-वरणा संगम पर गंगा के बायें किनारे पर अवस्थित थी।[48]

इस प्रकार के भौगोलिक स्थिति सम्बन्धी साक्ष्यों से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि प्रारम्भ में वरणा के आस-पास वाले भू-भागों में बस्तियों का निर्माण आरम्भ हुआ तत्पश्चात् गंगा-वरणा संगम से गंगा के किनारे-किनारे आवासीय क्षेत्रों का विकास धीरे-धीरे होता रहा। मौर्य एवं शुंग काल में गंगा के किनारे-किनारे वाराणसी के बसने का प्रमाण राजघाट की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से होता है।

काशी के प्राकृतिक भूगोल के अन्तर्गत नदी, जलवायु, मिट्टी, पर्वत, वनस्पति, जीव-जन्तु आदि प्रकृतिजन्य उपादान अध्ययन में प्रमुख सहायक बिन्दु हैं। विशाल गंगा मैदान में अवस्थित काशी-क्षेत्र, जो सहस्राब्दियों से निरन्तर प्रवाहित होने वाले जल स्रोतों द्वारा बिछाई गई वर्तमान में गांगेय-क्षेत्र का आधार है। भूतत्त्वविद् यह बताते है कि जो क्षेत्र आज सिन्धु-गंगा के मैदान के नाम से विख्यात है, प्रातिनूतन काल में वहाँ पर एक गहरी खाड़ी थी।[49] हिमालय के उन्नयन के पश्चात् अनेक नदियों ने इस खाड़ी को पाटकर

वर्तमान मैदान स्वरूप में परिवर्तित किया। डी.एन. वाडिया[50] के अनुसार यह स्वल्प गहराई वाली खाड़ी थी, जिसे सिन्धु एवं गंगा आदि नदियों ने अपने क्षेत्रों में पाटा है। इन्हीं नदियों के द्वारा लाई गई मिट्टी के कारण काशी का भू-भाग अस्तित्व में आया। काशी में गंगा नदी के बांये तट पर स्लेटी बालू व दोमट के रूप में मृदा का जमाव हिमालय से आयी हुई मिट्टी के रूप में हुआ है। विन्ध्य कैमूर क्षेत्र से आयी मृदा का जमाव गंगा के दाहिने तट पर लाल जमाव के रूप में पहचाना गया है।[51] काशी में गंगा के तट, मोटी मृदा से आच्छादित एवं जल स्तर से लगभग 25 फीट ऊँचे हैं। जलप्रवाह के द्वारा निर्मित इस आवासीय आधार संरचना को 'उपवार' नाम से संबोधित किया जाता है। इसी संरचना के ऊपर प्राचीन व आधुनिक वाराणसी बसा हुआ है। तारी इस क्षेत्र की आर्वाचीन मृदा संरचना का जलोढ़ है, जो काशी-क्षेत्र के निचले क्षेत्रों में बाढ़ द्वारा बिछाया गया दोमट का जमाव है। गंगा के दाहिने तट पर रामनगर का पूर्वी-क्षेत्र तथा बांये तट पर अस्सी गंगा के संगम से सामने घाट की संरचना इसी श्रेणी में रखी गई हैं।[52] यह भू-भाग मिट्टी एवं जलवायु के परिवर्तन से वंचित रहा है। काशी में प्राचीन काल से ही समशीतोष्ण जलवायु रहा है, जिसमें सभी ऋतुओं का समान रूप से पाया जाना स्वाभाविक है। नदियों के द्वारा लाई गई मिट्टी तथा मैदानी भाग होने के कारण ही कपास, गन्ना, धान, गेहूँ, जौ, चना आदि पर्याप्त मात्रा में अच्छी फसलें पैदा की जाती थीं। जनपद का पश्चिमी भाग पूर्व की अपेक्षा अधिक ऊँचा होने के कारण नदियों एवं तालों का बहाव गंगा की तरफ है। गंगा के बायें किनारे पर नगर की संरचना एक ऊँचे कंकरीले भाग पर हुई है, जिसका विस्तार लगभग 3 मील तक है, परिणामस्वरूप नगर बाढ़ आदि से बचा रहता है।[53]

पतित पावनी काशी में विराजमान गंगा का उद्‌गम भारत तिब्बत सीमा के समीप हिमशिखर हिमालय के दक्षिणी छोर गोमुख से माना जाता है। गोमुख से काशी होती हुई बंगाल की खाड़ी तक इसकी लम्बाई **2525 कि.मी.** है।[54]

गंगा नदी के अतिरिक्त काशी-क्षेत्र में अन्य छोटी नदियों एवं जल स्त्रोतों का योगदान है, जिनमें वरुणा, अस्सी, गोमती आदि उल्लेखनीय है। वाराणसी की उत्तर-पूर्वी सीमा का निर्धारण वरुणा नदी करती है, यह आदि केशव घाट व सरायमोहना के मध्य गंगा में आकर मिलती है। वरुणा के आस-पास का क्षेत्र आवासी तथा निरोग्य वैदिक साहित्य में वर्णित है। काशी का प्राचीनतम् अधिवासी प्रमाण का प्रकाश निकट पूर्व के पुरातात्त्विक अन्वेषण में वरणा की घाटी में स्थित *अकथा* नामक पुरास्थल से ज्ञात होता है।[55] **अथर्ववेद** के **शौनक शाखा** में वरणा का उल्लेख 'वरणावती नदी' के रूप में हुआ हैं।[56] डॉ0 विमलचरण लॉ[57] अथर्ववेद की वरणावती नदी को वरूणा से समीकृत करते हैं। वाराणसी क्षेत्र के सीमा निर्धारण में असी को दक्षिणी सीमा के संदर्भ में व्यवहृत किया गया है, पुराण इसे (असी) नदी की संज्ञा देने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। इसे सर्वत्र (शुष्का) जलरहित नदी के नाम से सम्बोधित किया गया है। वर्तमान में असी नदी नाला के रूप में परिवर्तित हो चुकी है। इस बात का अन्य कोई प्रमाण भी नहीं है कि प्राचीन काल में इसका रूप नदी का था। गोमती नदी का विवरण महाभारत एवं पुराणों में भी मिलता है। महाभारतकालीन वाराणसी का सीमा-निर्धारण इस नदी के द्वारा होता है। ब्रह्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं वायुपुराण में दिवोदास की कथा के प्रसंग से यह विदित होता है कि विषाक्त वाराणसी को दिवोदास ने गोमती के तट पर, रमणीक बसाया[58] परन्तु इस नदी की स्थिति के सम्बन्ध में पुराणों का 'विषयान्ते' शब्द से अनुमान 'विषय' (प्रदेश, जनपद) के अन्त में होता है अर्थात् यह नदी काशी जनपद के सीमा के समीप हीं कही थी, जो गंगा की सहायक नदी थी।

पुराणों में काशी (वाराणसी) की तीन ऐसी नदियों का उल्लेख है, जिनका प्राचीन काल में आकार वृहद या कुण्ड के समान था, किन्तु वर्षाकाल में सातत्य उनमें प्रवाह होता रहता था एवं इन तड़ागों का जल गंगा एवं वरणा में गिरता था। इसीलिए इन्हें वर्षाकाल की नदियों में सम्मिलित किया गया है; इनके नाम पितामहस्त्रोतिका, मंदाकिनी

एवं मत्स्योदरी है। कृत्यकल्पतरु में भी इन नदियों का उल्लेख है, इसमें कहा गया है कि ये तीनों वर्षा के दिनों में नदी का रूप धारण करती थी।[59] मत्स्योदरी, काशी की एक बड़ी नदी के रूप में उल्लिखित है। पितामहस्रोतिका को स्कन्दपुराण में 'त्रिस्रोता' कहा गया है। 'त्रिस्रोता' से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में, तीन धाराओं से होकर इसका जल गंगा नदी में प्रवाहित होता था। मंदाकिनी सामान्यतः प्राचीन काल में एक वृहद झील के रूप में थी, वर्तमान समय में यह मैदागिन कुण्ड के छोटे स्वरूप को प्रकट करता है।

पुरातात्त्विक दृष्टि से एक अन्य महत्वपूर्ण जलस्रोत राजापुर नाला वरुणा के पूर्व में गंगा नदी में आकर मिलता है। प्राचीन काल के काशीवासियों के लिए यह मृतप्राय जल स्रोत विशेष उपयोगी रहा होगा; क्योंकि इस नाले के तट पर प्राचीन कई छोटे पुरास्थल ज्ञात हुए हैं, जिनमें शिल्पकारों के ग्राम अस्तित्व में थे। राजापुर नाले के किनारे कई प्राचीन प्रस्तर केन्द्र बस चुके थे क्योंकि यह सारनाथ व गंगा नदी के मुख्य जल-प्रवाह से जुड़ा हुआ था। सारनाथ में मौर्यकाल से लेकर पूर्व मध्य युग तक पाषाण-प्रतिमाओं, अभिलेखों एवं नक्काशीदार वास्तु अंगों की निरन्तर मांग होने के कारण इसकी आपूर्त्ति राजापुर नाले के तट पर स्थित शिल्पकारों की बस्तियों से होती थी।[60]

प्राकृतिक वनस्पतियों का महत्त्व भूगोल की ऐतिहासिक संरचना में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है; क्योंकि मानव जीवन की समस्त आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ इन वनस्पतियों से प्रभावित होती हैं। बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य एवं पुराणों के विपुल साक्ष्य यह दर्शाते हैं कि प्राचीन काल में काशी-क्षेत्र (वाराणसी) का विस्तृत भू-भाग सघन जंगलों एवं रमणीक उद्यानों में समाहित था। गाहडवाल युग तक काशी में जहाँ सघन वनों का प्रमाण मिलता है, वर्तमान समय में यहाँ आज घनी बस्तियों का समावेश हैं। क्रमशः सभ्यता के विस्तृत होने, तकनीकी विकास एवं सघन आबादी के कारण इन जंगलों को काटकर मनुष्य के रहने के योग्य बनाया गया। 'कृत्यकल्पतरु'[61] में वाराणसी

के लिए 'उद्यान' शब्द का उल्लेख मिलता है, जिससे यह विदित होता है कि प्राचीन समय में काशी-क्षेत्र एवं वाराणसी में वनों एवं उद्यानों की बहुलता थी। इन वनों एवं उद्यानों का विवरण निम्नवत् है :-

1. **अम्बाटक वन-** बौद्ध ग्रंथ (संयुक्त निकाय) में काशी जनपद के अम्बाटक वन का उल्लेख मिलता है। संयुक्त निकाय के संयोजन सुत्त में यह उल्लेख मिलता है कि इस वन में भिक्षु विहार करते थे। यह मच्छिकासण्ड (आधुनिक मछली शहर; जौनपुर) के पीछे स्थित था।[62]
2. **खेमियम्ब वन-** मज्झिमनिकाय के घोटमुख सुत्त में इस वन का उल्लेख है। यह भी काशी क्षेत्र में विद्यमान था।[63]
3. **अम्बसाल वन-** अम्बसाल वन का उल्लेख जैन ग्रंथ 'निर्यावलियाओं' में है।[64] इसमें यह उल्लेख मिलता है कि इस वन में पार्श्वनाथ का आगमन हुआ था।
4. **महाकाम वन-** इस वन का उल्लेख जैन ग्रंथ 'अन्तगडदसाओं' में मिलता है।[65] इस वन में चैत्य भी था।
5. **महसेण वन-** जैन ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य[66] में इस वन का विवरण मिलता है।
6. **मिगाचिर वन-** जातकों (महाकपि जातक)[67] में इस वन का प्रसंग आखेट के लिए हुआ है। इस जातक में यह कथा आती है कि काशीराज अपने मित्रों तथा अमात्यों सहित मृगाचिर नामक वन में गया। इस शब्द से यह स्पष्ट होता है कि इस वन में मृगों की अधिकता थी, जिसके कारण शिकार हेतु लोग जाया करते थे।
7. **महाश्मशान वन-** वर्तमान मर्णिकर्णिका घाट जहाँ शव-अन्त्येष्टि की जाती है, वहीं कहीं इसकी स्थिति संभाव्य है। सिगाल जातक[68], काक जातक[69] एवं पुचिमन्द जातक[70] में इस वन का विवरण मिलता है। पुराणों में भी महाश्मशान का उल्लेख मिलता है, किन्तु वन के रूप में इसका उल्लेख नहीं है।

8. **हरिकेश वन-** काशीखण्ड एवं त्रिस्थली सेतु में इस वन का उल्लेख मिलता है।[71] इस वन में यक्षों का निवास था (हरिकेश यक्ष)। यह अति सघन वन था। वर्तमान जंगमबाड़ी मुहल्ला ही हरिकेश वन को काटकर बसाया हुआ प्रतीत होता है।
9. **दारुवन-** लक्ष्मीधर के तीर्थ विवेचन काण्ड के कृत्यकल्पतरु में इस वन का विवरण मिलता है।[72] वर्तमान हरतीरथ के निकट दारुवन था, जिसे काटकर दारानगर बसाया गया।
10. **अशोक वन-** कृत्यकल्पतरु में मंदाकिनी के दक्षिणी एवं पंचचूड़ाह्रद के उत्तर में अशोक वन का उल्लेख मिलता है।[73] वर्तमान में इसकी स्थिति मैदागिन के दक्षिण नीची बाग तक ठहरती है।
11. **भद्रवन-** वर्तमान भदैनी का प्राचीन नाम भद्रवन था।[74]
12. **कालिंजर वन-** इसका उल्लेख मत्स्यपुराण में मिलता है।[75]
13. **मृगदाव वन-** मृगवन, मृगदाव वन[76] (सारनाथ) में ही महात्मा बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र का उपदेश दिया। बुद्धकाल में यहाँ सघन वन था, जिसमें मृगों की प्रधानता थी। चीनी यात्री फाह्यान[77] (चतुर्थ शती ई0) एवं ह्वेनसांग[78] (7वीं शती ई0) के यात्रा विवरण में सारनाथ का उल्लेख प्राप्त होता है। ह्वेनसांग ने वाराणसी की प्राकृतिक व वनस्पतियों के सम्बन्ध में यह लिखा है कि- ''फलों के और दूसरे वृक्ष खूब घने होते थे, जमींन पर हरियाली छायी रहती थी। सम्प्रति 'इसिपत्तन मृगदाव' अर्थात् वर्तमान सारनाथ रमणीक उद्यानों, तडागों एवं वृक्षों के मध्य अवस्थित है, जो बुद्ध काल में सघन-वन था।[79]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत सर्वत्र सघन वन रहे होंगे जिनमें शिवायतनों तथा ह्रदों की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी। क्रमशः वनों के अतिरिक्त उद्यानों में प्राप्त वृक्षों, गुल्मों, पुष्पों एवं सरायों आदि का विवरण मत्स्यपुराण एवं लिंगपुराण में मिलता है।

काशी भूमध्य रेखा से दूर उत्तरी कटिबन्ध में शीतोष्ण जलवायु वाले भाग में स्थित है, जहाँ की जलवायु शीत ऋतु में ठंडी एवं ग्रीष्म ऋतु में बहुत गर्म रहती है। विभिन्न ऋतुओं में यहाँ की जलवायु स्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। ह्वेनसांग ने काशी की जलवायु को समशीतोष्ण बताया है, जहाँ गर्मी एवं शीत का समान प्रभाव होता है।[80]

काशी-क्षेत्र के मृदा (मिट्टी) के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से सूचनाएँ ज्ञात नहीं होती, इसका अनुमान हम फसलों के उत्पादन से लगा सकते हैं। वाराणसी के आस-पास कपास की खेती का वर्णन तुण्डिल जातक[81] तथा बाद के ग्रंथ कूट्टनीमत्तम्[82] से ज्ञात होता है। धान की खेती का उल्लेख गहपति जातक[83] एवं सहीचम्मजातक[84] में मिलता है। इसी प्रकार गन्ने की खेती का विवरण महावस्तु[85] एवं धम्मपद्द अट्ठकथा[86] में मिलता है। यह सर्वविदित है कि कपास की खेती के लिए काली मिट्टी, धान के लिए मटियार एवं गन्ने की खेती के लिए दोमट मिट्टी प्रयुक्त की जाती है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता हैं कि काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत इस प्रकार की मिट्टी पाई जानी चाहिए। वर्तमान चन्दौली तहसील के अन्तर्गत् काली मिट्टी अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है। सम्पूर्ण जनपद गंगा की घाटी में अवस्थित है, इसलिए इसके भूगार्भिक स्तरों में मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कुछ उपलब्ध नहीं होता। काशी-क्षेत्र की वर्तमान मिट्टी को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- 1.चिकनी मिट्टी व बालू का मिश्रण, 2. भूर या बलुआ, 3. मटियार।

संदर्भ ग्रन्थ-

1 डॉ0 मोतीचन्द्र : 2010 (चतुर्थ संस्करण), *काशी का इतिहास,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0सं0- 3.
2 जायसवाल, विदुला. 2011. *आदि काशी से वाराणसी तक,* दिल्ली, पृ0सं0- 2.
3 हैवेल, ई0वी0. 1905. *बेनारस द सैक्रेड सिटी,* लन्दन, पृ0सं0- 141.
4 काणें,पी.वी. 1966 (प्रथम संस्करण), *धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-3* (अनुवादक अर्जुन चौबे कश्यप) लखनऊ, पृ0सं0 1343.
5 मोतीचन्द्र. वही, पृ0सं0-भूमिका के अर्न्तगत्
6 हैवेल, ई0वी0 उपरोक्त।
7 मोतीचन्द्र, उपरोक्त, पृ0सं0-35
8 जायसवाल, विदुला. उपरोक्त, पृ0सं0- 3.
9 जायसवाल, विदुला. 1998. *फ्राम स्टोन क्वेरी टू स्कल्पचरिंग वर्कशाप,ए रिपोर्ट ऑन द ऑकियोलाजिकल इन्वेस्टीगेशन्सं एराउण्ड चुनार, वाराणसी एण्ड सारनाथ,* दिल्ली, पृ0- 3
10 मोतीचन्द्र; पृ0सं0- भूमिका के अर्न्तगत्।
11 यथा प्रियतमा देवि। मम त्वं सर्वसुन्दरी। तथा प्रियतरं चैतम् मे सदानन्दकाननम्।। *स्कन्दपुराण, काशीखण्ड*- 32/111.
12 सर्वानिन्द्रियकृतदोचान् वारयति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयति तेन नासी भवति। अविमुक्ता वरणायाः च मध्ये प्रतिष्ठितः। *जाबाल उपनिषद्,* खण्ड-2.
13 मुने प्रलयकालेऽपि न तत्वोत्रं कदाचन। विमुक्तं हि शिवाभ्यां यद विमुक्तं ततो विदुः।।- *स्कन्दपुराण, काशीखण्ड,* 26/27, त्रि0से0, पृ0सं0- 86.
14 विमुक्त म मया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन। मम क्षेत्र मिदं तस्मात् अविमुक्तमिति स्मृतम्।।- *लिंग पुराण* (पूर्वार्ध- 92/45-46)
15 *पद्मपुराण,* 1/33/14.
16 काणे : *धर्मशास्त्र का इतिहास,* भाग-4.
17 सिस्टर निवेदिता- *फुटफाल्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री।*
18 *अथर्ववेद*- 5/22/14.
19 *शतपथ ब्राह्मण*- 13/5/4/21.
20 वही- 15/5/4/21.
21 *बृहदारण्यक उपनिषद्*- 2/1/1, 3/8/2.
22 *कौषीतिकी उपनिषद्*- 4/1.
23 काश्यादिभयष्ठञ्ञ्ठिा। *अष्टाध्यायी*- 4/2/116.

24 *वाल्मीकिय रामायण-* 1/13/23.
25 *वाल्मीकिय रामायण-* 1/2/10.
26 *वाल्मीकिय रामायण-* 7/38/17.
27 *महाभारत, वनपर्व-* 84/78.
28 *महाभारत, वनपर्व-* 84/79.
29 सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, जिल्द 22, पृ0 266 और 271.
30 महापरिनिब्बानसुत्त तथा महासुदस्सनसुत्त का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद। *सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट सीरीज,* जिल्द 11, पृ0- 99 तथा 247 (आक्सफोर्ड)।
31 *Political History of Ancient India* (University of Cultutta 1953) Sixth Edition, P. 98.
32 *काशी का इतिहास,* मोतीचन्द्र, पृ0सं0-81
33 *हरिवंश पुराण,* अध्याय- 29.
34 *काशीखण्ड* 23/7, गरुड पुराण, प्रेत खण्ड 24/5.
35 सिंह, रामलोचन, *बनारस स्टडी इन अर्बन ज्योग्राफी,* पृ0सं0- 14.
36 विश्वकर्मा, ईश्वर शरण, 1987, *काशी का ऐतिहासिक भूगोल,* दिल्ली, पृ0सं0- 14.
37 वही, पृ0सं0-36
38 *शतपथ-* 13/5/4/19; गोपथ, 1/2/9.
39 *सां0 श्रौ0,* 16/19/5; बौ0 श्रौ0, 21, 13.
40 *बृ0उ0,* 2/1/1; 3/8/2.
41 *अष्टाध्यायी,* 4/2/116; 113.
42 *महा. वनपर्व,* 8/39
''मार्कण्डे यस्य राजेन्द्र तीर्थ मासाद्य दुर्लभम्।
गोमती गंगयोश्चैव संगमे लोक विश्रुते।।''
43 *महाभा0,* भाग-2, पृ0 413 (अष्टा0 5/3/35.)
44 *बुद्धचरित,* सर्ग 15, श्लोक 18-20; ''काशीं ददर्श तां बुद्धस्ततोज्ञानस्यवा खनिः। जाह्नवीवरुणाभ्यान्च सखीभ्यां मिलिताभिव।।''
45 *जातक,* भाग 1, संख्या-63 (तक्क जातक), भाग-2, संख्या-124 (सिगालजातक); भाग-4, संख्या 451 एवं 434 (चक्कवाक जातक)।
46 *ज्ञाता0,* 72.
47 Beal's., Travels of Hiown-Thsang, Vol. III, P. 291.
48 जे0ए0एस0बी0, खण्ड- 56, पृ0 106-13.
49 वर्मा, राधाकान्त, *भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ,* पृ0-3.
50 वाडिया, डी0एन0, *जिओलॉजी ऑफ इण्डिया,* पृ0- 386.

51 जायसवाल, विदुला, 2010. *आदिकाशी से वाराणसी तक,* पृ0-7-8.
52 वही, पृ0- 8-9.
53 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0-7.
54 डेरियन, स्टीवेन जी0, *द गंगा इन मिथ एण्ड हिस्ट्री,* पृ0- 17-20.
55 जायसवाल, विदुला,2009, *एन्शियण्ट वाराणसी; एन आर्कियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव (एक्सकेवेशन ऐट अकथा),* पृ0- 36-37.
56 लॉ, विमल चरण, *हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया,* पृ0 95.
57 वही, पृ0-95.
58 मोतीचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0सं0- 14.
59 वही, पृ0-2.
60 जायसवाल, विदुला, 2010, *आदि काशी से वाराणसी तक,* पृ0- 25-28.
61 स्कन्द., उद्धृत, कृत्यकल्पतरु, पृ0- 30.
"स तमुद्यानमासाद्य देवीमा ह जगत्पतिः।"
62 *संयुक्त, चित्त संयुक्त (41), संयोजन सुत्त,* भाग-3, पृ0- 252, 253, 255, 257, 259, 260, 260 (नालन्दा) : "एकं समयं सम्बहुला मेरा भिक्खू मच्छिकासण्डे विहरति अम्बाटकवनो"
63 *यच्छि0,* भाग- 2, पृ0- 414 (नालन्दा)।
64 *निर्यावलियाओ.* 3/3, 214/110.
65 अन्त. 16/133, पृ0- 43.
66 विशेषा., भाग-2, 1973.
67 *जातक*-5, संख्या 516, पृ0 156.
"वाराणस्सं अहु राजा कालीनं रट्ठवड्ढपनो।
भित्तामच्चपरिब्बूलहो आगमासि भियाचिरं।।"
68 *जातक* भाग 2, संख्या 113, पृ- 49, संख्या 119, पृ0- 64.
69 *जातक,* भाग 2, संख्या 140, पृ0- 127.
70 *जातक,* भाग-3, संख्या 311, पृ0 204.
71 *काशीखण्ड,* उद्धृत त्रिस्थली सेतु, पृ0 198, वा0वै0,पृ0 55.
72 *कृत्यकल्पतरु.,* पृ0 66, *वाराणसी वैभव,* पृ0- 55.
"लिंग दारुवने गुह्यं ऋषिसंधेस्तु पूजितम्।
73 *कृत्यकल्पतरु,* पृ0 66. अशोकवन मध्यस्थं तत्र कुण्डं शुभोदकं।"
74 सुकुल, कुबेरनाथ, *वाराणसी वैभव,* पृ0- 55.
75 *मत्स्यपुराण,* 187/27- "कालिं जरवन-चैव राकुकर्णस्थले श्वरं।"

76 *बुद्धचरित्र,* अध्याय 17, श्लोक 4-5 (आक्सफोर्ड); वनमार्गेदावे गतश्चोन्तराङ्गिक्षुवर्या द्वि बुद्धोपमानीमहाबोधिकामः। स सर्वज्ञमभ्यर्थन्नार्यचर्या बभूवोन्तमः सम्यभिक्षुः प्रसिद्धः समासु।।

77 Beal, S., Travels of Hiown- Trsang, Vol. III, p. 299.

78 Giles, H.A,. The Travels of Fa- Hsicn, P. 60.

79 मोतीचन्द्र, पूवोक्त, पृ0-81

80 Joshi, E.B, *U.P. District Gazetteers, Varanasi*, 1965, P. 16.

81 *जातक,* भाग-3, संख्या 388, पृ0- 439.

82 *कूटनीमतम्,* श्लोक 869.

83 *जातक,* भाग-2, संख्या 199, पृ0- 320.

84 *जातक,* भाग-2, पृ0 374.

85 *महावस्तु,* भाग-2, पृ0 374.

86 *धम्म,* भाग- 3, पृ0 313.
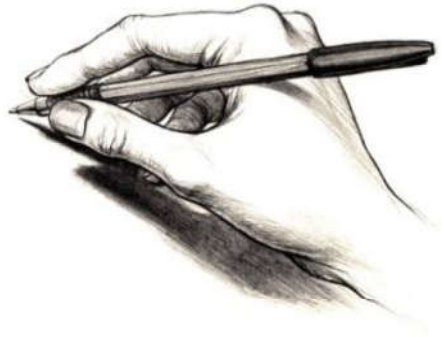
तृतीय अध्याय

काशी का राजनीतिक इतिहास एवं प्रशासनिक-व्यवस्था

तृतीय अध्याय

काशी का राजनीतिक इतिहास एवं प्रशासनिक-व्यवस्था

प्रथम खण्ड

प्रस्तुत अध्याय दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड काशी के राजनीतिक इतिहास पर केन्द्रित है। आर्यों के पूर्वी भारत के आगमन से काशी के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ निर्धारित किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पूर्वी भारत में आर्यो के आगमन की घटना उस समय हुई होगी, जब सरस्वती नदी के किनारे से चलकर विदेह माथव अपने पुरोहित गौतम राहुगण के साथ वैदिक-सभ्यता का प्रकाश उत्तर प्रदेश में प्रसारित किया किन्तु इसका समय निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण[1] में इस प्रसंग का विवरण निम्नवत् है :-

एक समय विदेह माथव के मुख में अग्नि-वैश्वानर बंद हो गये। राजा को उनके कुल पुरोहित गौतम राहुगण ने बुलाने का प्रयत्न किया किन्तु विदेह माथव भयवश एक शब्द नहीं बोले, क्योंकि अग्नि मुख से निकल न पड़े। पुरोहित ने अग्नि को बाहर निकालने हेतु ऋग्वेद की ऋचाओं से आह्वाहन किया, संयोगवश घृत का नाम एक ऋचा में आ गया। घृत प्रिय होने के कारण वे राजा के मुख से निकल पड़े और पृथ्वी को दग्ध करते हुए पूर्व की ओर प्रस्थान किये। अग्नि का अनुसरण करते हुए गौतम राहुगण के साथ-साथ विदेह-माथव भी साथ में चल पड़े। अग्नि के अत्यधिक ताप से नदियाँ सुख गयी और इस प्रकार वे उत्तर में हिमालय से निकली सदानीरा (आधुनिक गण्डक) नदी के तट पर पहुँचे, किन्तु इस नदी के शीतलता के कारण इसे दग्ध न किया जा सका। जिस समय अग्नि वैश्वानर सदानीरा के तट पर पहुँचे उस समय सदानीरा के पूर्व के प्रदेश में जमीन दलदल

होने के कारण खेती नहीं होती थी। ग्रीष्मकाल में भी सदानीरा का शीतल जल प्रचुर मात्रा में बहता रहता था। राजा के पूछने के पश्चात् अग्नि ने निवास हेतु पूर्व के प्रदेश को चुना।

उपर्युक्त पारिभाषिक शब्दावली में कही हुई बात का सामान्य भाषा में यह तात्पर्य है कि- विदेह माथव नये राज्य की स्थापना हेतु पूर्व की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे। विदेह माथव के पुरोहित गौतम राहुगण एवं अन्य अनुयायी भी उनके साथ थे। धार्मिक कारणों के फलस्वरूप श्रोताग्नि का उनके साथ जाना आवश्यक था। इसका तात्पर्य यह है कि सरस्वती नदी के पूर्व के जंगलों में आग लगने के कारण जंगल जलते गये और छोटी नदियों से भी अग्निकाण्ड नहीं रुक पाया, परिणामस्वरूप यह दावाग्नि पूर्व की ओर सदानीरा तक जा पहुँची। हिमालय से निकलने के कारण सदानीरा नदी में सभी ऋतुओं का ठंडा जल बहता था। सदानीरा नदी के तट पर पहुँचते ही दावानल शान्त हो गया और इसके उस पार पूर्व के स्थान जलने से बच गये। एक कारण यह भी बताया जाता है कि विदेह माथव के नेतृत्व में जो जन-समुदाय चल रहा था, वे इस भू-भाग के निवास हेतु योग्य स्थानों में क्रमशः बस गये। कोशल तथा काशी के आर्यों की भू-प्रतिष्ठा इसी समय हुई होगी। इसी आधार को लेकर **हैवेल**[2] ने 'कासिस' नामक जनजाति से काशी की उत्पत्ति को बताया है। उनका कथन है कि 'कासिस' नामक जनजाति गंगा की पूर्वी घाटी की ओर स्थानान्तरित हुई और आधुनिक वाराणसी नगर के आस-पास के क्षेत्र में आकर बस गई। इसी जनजाति के नाम पर ही इस क्षेत्र को **'काशी'** सम्बोधित किया जाने लगा। भारतवर्ष के अन्य राज्यों के समान, काशी लगभग आठवीं- छठीं शताब्दी में प्रतिष्ठापित हुआ, जिसकी राजधानी 'वाराणसी' थी। बौद्ध-ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय एवं जैन ग्रंथ भगवती सूत्र में षोडश महाजनपदों जिनमें काशी राज्य एवं उसकी राजधानी वाराणसी भी सूचीबद्ध है, का विवरण मिलता है। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि बुद्धकाल तक वाराणसी भी अन्य नगरों यथा; राजगृह, श्रावस्ती, साकेत एवं कौशाम्बी जैसे प्रसिद्ध नगरों में परिगणित होती थी। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख अनेक जातक-कथाओं

में हुआ है। कुछ जातक-कथाओं का तो प्रारम्भ ही 'अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्ज कारेन्ते' पंक्ति से होता है। काशी के राजा की समृद्धि का वर्णन भोजाजानीय जातक से ज्ञात होता है। उसकी समृद्धि के कारण अन्य राज्यों के शासक उससे द्वेष रखते थे। उसे पराजित करने हेतु सभी शासकों ने संघ निर्मित कर एक साथ मिलकर आक्रमण कर दिया किन्तु काशी के राजा ने पराजय स्वीकार नहीं की। युद्ध में अन्ततः विजय श्री काशी के राजा की ही हुई। जातकों से यह ज्ञात होता है कि काशी एवं कोशल युद्ध में प्रयत्नशील रहते थे। विजय कभी काशी की होती थी तो कभी कोशल की किन्तु अनेक युद्धों के परिणामस्वरूप काशी कमजोर होता गया। ईसा पूर्व छठीं शताब्दी के आरम्भ में ही कोशलराज कंस ने काशी को कोशल जनपद में सम्मिलित कर लिया। इसी विजय के कारणवश कंस को **'वाराणसिंग्गहो'**[3] (जातक 2/403) की उपाधि से विभूषित किया गया।

तदनन्तर मगध शासक अजातशत्रु के द्वारा अपने पिता बिम्बिसार की हत्या के फलस्वरूप बिम्बिसार की पत्नियों वैदेही एवं कोसली का पतिवियोग से देहान्त हो गया। उस समय कोसल की गद्दी पर प्रसेनजित ने शासन संभालते हुए काशी ग्राम की आय अजातशत्रु से वापस लेनी चाही। इसी वाद-विवाद के कारण इन दोनों में युद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ की तीन लड़ाईयों में अजातशत्रु ने कोशलराज को पराजित किया किन्तु चौथे युद्ध में प्रसेनजित ने विजय प्राप्त करके काशी को पुनः प्राप्त किया। कूटनीति का सहारा लेते हुए प्रसेनजित ने सुलह करके अपनी कन्या का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और दहेज (आमूलचूर्ण) स्वरूप काशी ग्राम को भी भेंट कर अपनी स्थिति यथावत् बनाये रखा।[4] महावग्ग से यह ज्ञात होता है कि काशीराज प्रसेनजित ने जीवक (वैद्य) को काशीवस्त्र भेंट स्वरूप प्रदान किया। दीर्घनिकाय[5] (1/228-229) से यह ज्ञात होता है कि राजा प्रसेनजित अपने कर्मचारियों को काशी-कोशल की प्रजा से कर वसूल करके उन्हें आपस में बाँट लेते थे।

मगध के बढ़ते हुए राज्य एवं अजातशत्रु के पराक्रम के कारण काशी मगध में सम्मिलित हो चुकी थी, जिसका महत्त्व व्यापारिक दृष्टि से अधिक था। काशी की ख्याति जातकों में उसके व्यापारिक समृद्धि के कारण थी। नंद वंश में इसके राजनीतिक अवस्था का ज्ञान समकालीन साहित्य से पूर्णरूपेण नहीं हो पाता परन्तु नंद-शासक वैदिक धर्म का पालन करते थे। संभवतः काशी में भी वैदिक धर्म का प्रभाव रहा हो।

विविध कालों में काशी का राजनीतिक इतिहास का विवरण निम्नवत् है :-

1. मौर्यकालीन काशी-

लगभग 321 ई0पू0 में नंद वंश के पश्चात् मगध का राज्य मौर्यवंश के अधीन हो गया। मौर्यवंश का सबसे प्रतापी राजा सम्राट-अशोक (273-232 ई0पू0) हुआ। सम्राट अशोक के प्रयत्नों से बौद्ध-धर्म, जिसे अशोक ने स्वयं ग्रहण किया था, भारतवर्ष के बाहर अन्य देशों में भी प्रचार-प्रसार हुआ।

मौर्यकालीन अवशेष खुदाई में सारनाथ से विभिन्न प्रकार के प्राप्त हुए है, जिनसे यह सूचना मिलती है कि अशोक के काल में सारनाथ उन्नत अवस्था में था एवं वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों से सम्बन्धित बौद्ध-संघ विद्यमान थे। सारनाथ से प्राप्त अशोक के **स्तम्भोंत्कीर्ण लेख**[6] में राजा का शासन-पत्र प्रतिबिम्बित है। अशोक के शासनकाल तक बौद्ध-धर्म में मतभेद होना प्रारम्भ हो चुका था। ऐसा ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्मावलम्बियों में विभाजन, असहनशीलता, जाति एवं वर्ग-सम्बन्धी विभिन्नता उत्पन्न हो गई थी। यह विषय न केवल बुद्ध के मौलिक-कथनों से स्पष्ट होता है, अपितु (विनय) अनुशासन, नियमों के सिद्धान्तों से भी ज्ञात होता है। सारनाथ शिलालेख से यह स्पष्ट होता है कि अशोक संघभेद को समाप्त करने हेतु प्रयत्नशील थे, क्योंकि इस कारण बौद्ध-मठों के सदस्यों से अत्यन्त बिखराव आ चुका था। इस शासन से अशोक का उद्देश्य संघ में विग्रह को दूर करना था।

शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि धर्म के विरुद्ध आचरणों के लिए सजा का प्रावधान निश्चित किया गया था।

सारनाथ लघु स्तम्भ लेख की तीसरी पंक्ति के प्रथम दो अक्षर 'पाट' के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि संभवतः पाटलिपुत्र के महामात्रों को सम्बोधित करते हुए इस शासन पत्र को लिखवाया गया। संभवतः काशी (वाराणसी) का प्रशासन पाटलिपुत्र के महामात्रों के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत था। इसका ऐतिहासिक कारण यह भी था कि काशी श्रावस्ती (कोशल) के अधीन थी किन्तु बिम्बिसार एवं अजातशत्रु के समय में मगध साम्राज्य के अन्तर्गत काशी का अस्तित्व था। तभी से काशी का क्षेत्र प्रशासनिक रूप से मगध साम्राज्य के साथ संपृक्त हो। शासन-पत्र में यह उल्लिखित है कि जो कोई भी भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ में विग्रह उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निष्कासित कर दिया जायेगा।

मोतीचन्द्र[7] ने यह उल्लेख किया है कि एक जातक में काशी (वाराणसी) का नाम 'पोटलि' भी था और यहाँ पाट शब्द से संभवतः इसी से तात्पर्य रहा हो। काशी का विस्तार मौर्यकाल में चुनार (मिर्जापुर) तक था। यहाँ से प्राप्त **'अहरौरा लघु शिलालेख'**[8] की खोज 'गोवर्धन राय शर्मा' ने की थी, जो अशोककालीन है। 25 मिल दक्षिण दिशा में स्थित 'अहरौरा लघु शिलालेख' काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। बौद्ध-धर्म के पराकम की वृद्धि हेतु अशोक ने धर्म-यात्रा (प्रवास) करके उसने यहाँ अपना पड़ाव डाला हो। इसी अभिक्रम में अशोक ने यह अभिलेख उत्त्कीर्ण करवाया था।

2. मौर्योत्तरकालीन काशी-

शुंग शासक पुष्यमित्र शुंग ने 184 ई0पू0 के लगभग अंतिम मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या करके मगध पर अपना शासन स्थापित किया।[9] सन् 1939 ई0 में आधुनिक राजघाट पर काशी रेलवे स्टेशन का विस्तार करने हेतु खुदाई की गई। खुदाई में मिट्टी की

मुद्राएँ एवं अन्य प्राचीन वस्तुओं का पता चला। जो वर्तमान समय में भारत कला भवन एवं इलाहाबाद म्यूजियम में सुरक्षित हैं। मुद्राओं में यूनानी देवी-देवताओं की आकृतियाँ एवं यूनानी राजाओं के सिर अंकित हैं। **श्री कृष्णदेव** ने (1940) राजघाट की पर्याप्त खुदाई करवाई, उन्हें यहाँ (राजघाट) से चौथा स्तर जिसे वे दूसरी-तीसरी शताब्दी ई0 का मानते हैं, नीके, हेराकल्स, अपोलो, पल्लास आदि की आकृतियों वाली मुद्राएँ मिली।[10] श्रीकृष्णदेव इन मुद्राओं का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संभवतः ये मुद्राएँ वाराणसी एवं पश्चिम के व्यापारिक सम्बन्धों की द्योतक है, किन्तु मोतीचन्द्र ने इन मुद्राओं का सम्बन्ध ऐतिहासिक घटना से मानते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि इनका सम्बन्ध संभवतः डिमिट्रियस अथवा मिनाण्डर की पाटलिपुत्र पर धावा से है।[11] प्राचीन महाजनपथ, वाराणसी से होकर गाजीपुर से गंगा पार करके पाटलिपुत्र की ओर अग्रसारित होती थी। संभवतः इसी पथ का अनुसरण करते हुए डिमिट्रियस की सेना मध्य देश में प्रवेश की थी। हो सकता है कि काशी (वाराणसी) में डिमिट्रियस अथवा मिलिन्द की सेना ने यहाँ पड़ाव डाला हो और उसी पड़ाव के प्रसंग में कुछ यूनानी मुद्राएँ यहाँ रह गई हों। मोतीचन्द्र के विचार से वासुदेव शरण अग्रवाल भी सहमत है। अपने एक लेख में (स्टडी ऑफ राजघाट सील्स) **वी.एस. अग्रवाल**[12] ने राजघाट से प्राप्त यूनानी मुद्राओं की वैज्ञानिक तरीके से जाँच-पड़ताल करके यह तथ्य निकाला है कि ये मुद्राएँ यूनानी विजेताओं से सम्बन्धित हैं।

जब तक पूणरूपेण राजघाट की खुदाई अच्छी तरह से न हो जायें तब तक पुष्यमित्र के पश्चात् शुंग वंश का सम्बन्ध काशी से किस प्रकार था? कहा नहीं जा सकता। लगभग ९० ई0पू0 से अंतिम शुंग शासक के पहले भागभद्र राजा हुए । उनकी माता काशी की राजकुमारी थी, अतः कहा जा सकता है कि शुंगों का काशी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। भागभद्र के ही शासनकाल में तक्षशिला के यवन राजा अंतलिकितस ने अपना एक राजदूत हेलियोडोरस को भेजा।

सारनाथ से शुंगकालीन कुछ सिर भी प्राप्त हुए हैं, जिन पर पॉलिश है। इन सिरों पर कुछ यूनानी प्रभाव परिलक्षित होते हैं। राजघाट की खुदाई से शुंगकालीन स्फटिक का बना एक स्त्री का सिर (भारत कला भवन संग्रहालय, वाराणसी में संरक्षित), शंख एवं हाथी दाँत की चूड़ियाँ, हाथी दाँत की बनी कंघी यह दर्शाती है कि शुंगकाल में पत्थर काटने, हाथी दाँत के कार्य आदि व्यवसायों की पर्याप्त उन्नति थी। शुंगकाल में भी बौद्ध-धर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। यहाँ (सारनाथ) से प्राप्त छिट-पुट अभिलेख एवं शुंगकालीन अनेक महत्त्वपूर्ण कलाकृतियाँ,वेष्टिनी, खम्भे, जंगले एवं उनके **53** की संख्या में टेढ़े-मेढ़े डंडे (जिन पर शुंगकालीन लेख अंकित हैं) से यह ज्ञात होता है कि शुंगों का काशी पर प्रभाव था।

सारनाथ से प्राप्त वैदिक स्तम्भों एवं शीर्षपट्ट के टुकड़ों पर के लेखों जिन पर उज्जैन का नाम अंकित है, से यह ज्ञात होता है कि सारनाथ की कला पर साँची की आन्ध्रकालीन कला का काफी प्रभाव था। **डॉ0 मोतीचन्द्र**[13] ने यह संभावना व्यक्त की है कि इस युग में भी वाराणसी पर कौशाम्बी का आधिपत्य था। सारनाथ से प्राप्त अशोक के स्तम्भोंत्कीर्ण लेख के पश्चात् उसी प्रस्तर पर एक परवर्ती लेख **राजा अश्वघोष** का प्राप्त हुआ है। इस लेख से यह ज्ञात होता है कि अश्वघोष के 40 वें राज्य संवत् तक काशी उनके शासनाधिकार में थी।[14] राजघाट से प्राप्त एक मुद्रा जिस पर 'अश्वघोषस्य' उत्कीर्ण है, अश्वघोष का ही है। इस मुद्रा के लेखन के नीचे बैठे हुए सिंह की आकृति बनी हुई हैं। इस सिक्कें को **कनिंघम महोदय**[15] ने प्राप्त किया था। अल्तेकर महोदय ने इसी सिक्कें को प्रकाशित किया हैं।[16] मोतीचन्द्र यह मत प्रकट करते हैं कि कनिष्क द्वारा मध्यदेश पर अधिकार करने से पहले ही अश्वघोष का समय रहा होगा।[17]

काशी (वाराणसी) पर कुषाण शासकों का अधिपत्य ईस्वी. सन् की प्रथम सदी के अन्त में हुआ। कुजुल कडफिसेज को इस वंश के प्रथम शासक के रूप में मान्यता मिली।

कुजुल कडफिसेज के पश्चात् विमकडफिसेज ने वाराणसी पर अपना अधिकार स्थापित किया। वाराणसी जिले से प्राप्त मुद्राओं से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि विमकडफिसेज का वाराणसी से सम्बन्ध था। इस वंश का सबसे प्रतापी शासक कनिष्क जिसका समय 78 ई0 से 100 ई0 तक था, वाराणसी से विशेष लगाव था। कनिष्क की दो राजधानियों के रूप में प्रसिद्ध पुरुषपुर (पेशावर) एवं मथुरा थी।

भारतीय संस्कृति की यह मूल विशेषता है कि इसमें प्रत्येक संस्कृति की धारा चाहे वह स्वदेशी हो अथवा विदेशी, जो भी इसके सम्पर्क में आती है उसके मूलतत्त्व पूर्णतया घुलमिल जाते हैं। कुषाण शासक भी इन्हीं में से एक थे। कनिष्क के कुछ महत्त्वपूर्ण अभिलेख भारतवर्ष में पाये गये है, जिसमें उसके शासन के बारे में, महात्मा बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की शिक्षाओं एवं आदर्शों के बारे में वर्णन है। ऐसा ही एक मूर्त्तिलेख उत्तर-प्रदेश की सांस्कृतिक नगरी काशी (वाराणसी) के सारनाथ से प्राप्त हुआ है, जिसमें बोधिसत्त्व एवं भिक्षुणी त्रिपिटकाचार्य का उल्लेख है। इस लेख से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी पर कनिष्क का आधिपत्य 81 ई0 से पहले ही हो गया था। सारनाथ से प्राप्त ये दोनों लेख बोधिसत्त्व की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है,[18] जिसे भिक्षु बल ने स्थापित करवाया था। इस बोधिसत्त्व-प्रतिमा की स्थापना त्रिपिटज्ञ भिक्षुबल ने उस जगह की जहाँ बुद्ध चंक्रमण करते थे। इस प्रतिमा के स्थापित करवाने का मुख्य उद्देश्य भिक्षु बल के माता-पिता, उपाध्याय, आचार्य, अन्तेवासी, त्रिपिटज्ञा बुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्पर और महाक्षत्रप खरपल्लाण एवं चतुर्परिषद के साथ सर्वसत्त्वों का हित-सुख एवं पुण्यवृद्धि था। दूसरे लेख से यह ज्ञात होता है कि (प्रतिमा के पादपीठ पर उत्कीर्ण) महाक्षत्रप खरपल्लाण एवं क्षत्रप वनस्पर की आर्थिक सहायता एवं सहयोग से भिक्षु बल ने यह प्रतिमा बनवाई।

कनिष्क के शासनकाल में काशी (वाराणसी) का शासन तृतीय वर्ष (81 ई0) में क्षत्रप वनस्पर एवं महाक्षत्रप खरपल्लाण के अधीन था। प्रथम लेख की आठवीं पंक्ति में

क्षत्रप वनस्पर, द्वितीय लेख में महाक्षत्रप खरपल्लाण का उल्लेख होने के कारण फोगेल ने अपना मत प्रकट किया है कि उनका सम्बन्ध षोडाश वंश से था और वे विदेशी थे। उन्होंने कनिष्क की अधीनता स्वीकार कर ली; फलस्वरूप कनिष्क ने अपने विस्तृत साम्राज्य के पूर्वी-भारत के क्षेत्र का शासक उन्हें नियुक्त किया था। हो सकता है कि वनस्पर एवं खरपल्लान कनिष्क को प्रशासन में अपना सहयोग देते रहे हो।

वर्तमान समय में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रा0भा0इ0सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग में खुदाई के दौरान कुषाणकालीन शिव-पार्वती मूर्त्ति, एकमुखी शिवलिंग, शिव मंदिर तथा शिवलिंग एवं कनिष्क के शासन के तीसरे एवं सातवें वर्ष (81 तथा 85 ई0) का शिलालेख **बभनियांव गाँव**[19]से जो सारनाथ से 30 कि.मी. की दूरी पर है, मिला है। ये पुरावशेष बभनियांव गाँव को शैव-धर्म का केन्द्र प्रमाणित करते हैं। यह प्रथम शिलालेख है, जिससे कुषाणों के शैव-धर्म से भी सम्बन्ध होने की पुष्टि होती है। यह शिलालेख एक खण्डित-स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं। इसकी भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत एवं लिपि कुषाणकालीन ब्राह्मी है। प्रकृति राजकीय और स्वरूप धार्मिक है। उस पर उत्कीर्ण दो पंक्तियों में भगवान शिव के सम्मान में पुण्य वृद्धि के लिए अभिलेख निर्माण व उसके दान का उल्लेख है। भिक्षु बल बौद्ध-धर्मानुयायी था किन्तु वाराणसी आकर वह शैवधर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। **प्रो0 सुमन जैन** का यह मानना है कि बौद्ध-सम्प्रदाय को बोधिसत्त्व की प्रतिमा और एक छत्र यष्टि दान करने के पश्चात् भिक्षुबल का शैवधर्म से प्रभावित होकर शैव-शिलालेख का भी निर्माण कराना स्वाभाविक था; क्योंकि भारतीय संस्कृति में प्रत्येक तत्त्व घुल-मिल जाते है, ऐसा माना गया है।

सारनाथ से कुषाणकालीन पालि भाषा में एक लेख की प्राप्ति हुई है, जो कुषाण लिपि में, चार पंक्तियों में एक छत्र के खण्डित भाग पर उत्कीर्ण हैं।[20] महत्त्वपूर्ण तथ्य यह हैं कि इस लेख में भगवान बुद्ध (तथागत) द्वारा उपदिष्ट **'चार-आर्यसत्यों'** का वर्णन है।

डॉ0 स्टेन कोनोव यह मानते हैं कि पालि भाषा में प्राप्त प्रथम लेख उत्तरी-भारत से प्राप्त हुआ है। जिससे यह अनुमानित होता है कि वाराणसी (काशी) में कुषाणों के समय में पालि-ग्रंथों का प्रचार-प्रसार था। लोग इसका अध्ययन करते थे।

करीब 170 ई0 में कुषाण शासक वासुदेव (परवर्ती) के पश्चात् मध्यदेश में कुषाणों का शासन नहीं रहा। यह भी ज्ञात नहीं होता कि कुषाण अपना राज्य स्वयं चलाते थे अथवा सामन्तों के द्वारा शासन कार्य होता रहता था। वाराणसी कौशाम्बी के अधीन संभवतः ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दियों तक थी। इस तथ्य का मुख्य कारण यह है कि काशी के राजघाट से प्राप्त द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी ई0 की मुद्राओं का सम्बन्ध कौशाम्बी के राजवंशों से है। किन्तु इन मुद्राओं में वर्णित राजाओं के काल-क्रम का अनुमान लगाना कठिन है।

3. गुप्तयुगीन काशी-

गुप्त-साम्राज्य पर नवीन शोधों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त- शासकों का मूल निवास-स्थान पूर्वी उत्तर-प्रदेश में था एवं काशी से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित रहा। कौशाम्बी के अधिपति राजा नव का शासन लगभग 275 ई0 में काशी में रहा। राजा नव के वंशधरों के समय में शैव-धर्म का विकास हुआ। प्रश्न यह उठता है कि गुप्त वंश का काशी पर कब और कैसे आधिपत्य हुआ? राजघाट की खुदाई से प्राप्त समुद्रगुप्त की मुद्राएँ मिली है, इससे यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का काशी से सम्बन्ध था। कौशाम्बी एवं वाराणसी गुप्त साम्राज्य में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय से सम्मिलित थे। इस तथ्य का प्रमाण **वायुपुराण**[21] के एक श्लोक से ज्ञात होता है, जिसमें आरम्भिक गुप्त युग की राज्य सीमा का उल्लेख है एवं इस श्लोक में गुप्तवंश के राजाओं का सम्बन्ध गंगा के किनारे प्रयाग, साकेत तथा मगध तक के क्षेत्र को बताया गया है। श्लोक का वर्णन निम्नवत् हैः-

अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधंस्था।

एताञ्जनपदान् सर्वान् मोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥ वायुपुराण 29/388

चीनी यात्री इत्सिंग जिसने 671 से 295 ई0 तक भारतवर्ष का भ्रमण किया, उसके यात्रा-विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक गुप्त-राजाओं का वाराणसी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। **इत्सिंग** यह उल्लेख करता है कि गुप्त राजा श्रीगुप्त ने सारनाथ में विहार के समीप चीनी भिक्षुओं के लिए मंदिर का निर्माण करवाया और उसकी देखरेख एवं व्यवस्था आदि के लिए 24 ग्राम (गाँव) के कर को दान में दिया, जिससे उनका एवं संघ में उपस्थित भिक्षुओं का जीवन सुचारू रूप से चल सके। इत्सिंग यह कहता है कि कुछ चीनी बौद्ध-भिक्षु बोध गया में श्री गुप्त नामक राजा से मिले और राजा ने उनके अनुनय-विनय पर मृग-शिखावन (सारनाथ) में एक मंदिर का निर्माण करवाया। श्री गुप्त का सम्बन्ध सारनाथ से होने से यह निश्चित है कि काशी क्षेत्र गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित थी।

श्रीराम गोयल ने यह मत प्रकट किया है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश से प्रारम्भिक गुप्त-सम्राटों के अधिकांश अभिलेख एवं मुद्रानिधि प्राप्त होने के कारण उनका राज्य संभवतः इसी क्षेत्र में रहा होगा। काशी-क्षेत्र से गुप्त शासकों के महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिले है, जो यह दर्शाते हैं कि काशी पर गुप्तों का आधिपत्य था। इसी क्रम में काशी-क्षेत्र के अन्य स्थलों यथा; सारनाथ, राजघाट, भीतरी आदि का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है, जहाँ से गुप्त शासकों के अभिलेखों की प्राप्ति हुई है।

इस दिशा में गुप्त शासक स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य[22] (455-467 ई0) का महत्त्वपूर्ण अभिलेख काशी-क्षेत्र के गाजीपुर जिले के सैदपुर (भीतरी) नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। गुप्तकाल में संभवतः यह जिला काशी में ही सम्मिलित रहा होगा। अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु 'काशी' से जुड़े होने के कारण गाजीपुर को **'काशी की बहन'** के नाम से सम्बोधित किया जाता है। लेख से यह ज्ञात होता है कि विष्णु की

प्रतिमा स्थापित कराने के पश्चात् इसके खर्च का भार ढ़ोने के परिणामस्वरूप भीतरी में एक गाँव को स्कन्दगुप्त ने दान कर दिया।[23] इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य को कुमारगुप्त के अंतिम समय में बहुत कठिनाईयों का सामना करना पड़ा, जिसका विवरण इस भीतरी शिलालेख में हैं :-

''पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं, भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिव परितोषन्मातरं साश्रुनेतां हतरिपुरिव कृष्णो देवकी मम्भुपेतः॥''

अर्थात् अपने कुल की लक्ष्मी जो विचलित हो चुकी थी, उन्हें रोकने के प्रयत्न में स्कन्दगुप्त ने जमीन (भूमि) पर एक रात्रि शयन करके बिताया, बल-कोश से समुदित पुष्यमित्रों को जीतकर उसने उनके राजा को पादपीठ बनाकर उस पर अपना बांया पैर रख दिया।

इस लेख में स्कन्दगुप्त से हूणों के साथ युद्ध का भी उल्लेख निहित हैः-

हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता,
भी मावर्तकरस्य....श्रोतेषु गंङ्गा ध्वनिः।

स्कन्दगुप्त का हूणों के साथ युद्ध में उसके दोनों बाहुओं के पराक्रम से पृथ्वी कॉपने लगी और सेना के विजय-पराक्रम के साथ कलकल की ध्वनि शत्रुओं के कान में धनुष-टंकार की तरह गुंजनें लगी। हूणों का स्कन्दगुप्त के साथ युद्ध कब हुआ, ऐसा सटीक अनुमान लगाना कठिन प्रतीत होता है। संभवतः यह घटना 456 ई0 के आस-पास हुई हो। 'श्रोतेषु गङ्गाध्वनिः' के उच्चारण के उल्लेख से इस युद्ध का गंगा-घाटी में होना निश्चित प्रतीत होता है, किन्तु गंगा घाटी में यह कौन सा स्थान था, कहा नहीं जा सकता। हो सकता है कि काशी के आस-पास का यह स्थान रहा हो। इस प्रश्न का हल तो पुरातात्त्विक खुदाई के साथ ही मिल सकता है। सारनाथ की खुदाई से गुप्तकालीन मूलगंधकुटी विहार

के विनष्ट होने के बाद पुनर्निर्माण की सूचना ज्ञात होती है किन्तु इस घटना का सम्बन्ध काशी (वाराणसी) पर हूणों के आक्रमण से था अथवा नहीं, यह स्पष्ट करना कठिन है। जो भी हो, काशी स्कन्दगुप्त के समय भी गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत थी, क्योंकि राजघाट की खुदाई से स्कन्दगुप्त की मुद्राएँ एवं भीतरी नामक स्थल (गाजीपुर) से उसके शिलालेख प्राप्त हुए हैं। गुप्त- साम्राज्य की सत्ता स्कन्दगुप्त के बाद से क्षीण होने लगी थी। स्कन्दगुप्त का सहोदर भाई पुरुगुप्त उसके बाद (स्कन्दगुप्त के) वृद्धावस्था में 467 से 472 ई0 तक गुप्त-साम्राज्य की गद्दी पर विराजमान होकर राज्य करते रहे। कुमारगुप्त के समय का बुद्ध प्रतिमा लेख सारनाथ से प्राप्त हुआ है, जो गुप्त संवत् 154 (473 ई0) का है।[24] इस प्रतिमा लेख की भाषा संस्कृत एवं लिपि पाँचवीं शती ई0 के उत्तरार्द्ध की उत्तर भारतीय ब्राह्मी प्रतीत होती है। **'अभयमित्र'** नामक भिक्षु ने इस लेख को प्रतिष्ठापित किया। इसका ऐतिहासिक महत्त्व इस कारण है कि इसमें गुप्त शासक कुमारगुप्त का नाम एवं उनके शासन-वर्ष का उल्लेख हुआ है। गुप्त वंश की गद्दी पर पुनः बुधगुप्त का अधिकार हुआ। उसका एक अभिलेख सारनाथ से प्राप्त गुप्त संवत् 157 (477 ई0) से प्राप्त हुआ है[25]एवं दूसरा अभिलेख राजघाट (वाराणसी) की खुदाई से प्राप्त गुप्त संवत् 159 (479 ई0) का है, जो वर्तमान समय में भारत कला भवन (बी.एच.यू0) वाराणसी संग्रहालय में संरक्षित है।[26] लेख का उद्देश्य **'दामस्वामिनी'** नामक स्त्री के द्वारा इस स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख करना है। भीतरी नामक स्थल से बुद्धगुप्त का एक अन्य शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो गुप्त संवत् (170) का है। पृथ्वी. कुमार अग्रवाल ने इस लेख को प्रकाशित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। महत्त्वपूर्ण अभिलेखों के मिलने एवं उसमें निहित शासक को 'महाराजाधिराज' उपाधि से विभूषित करना यह इंगित करता है कि काशी उस समय तक गुप्त शासकों के आश्रित थी। यह सत्य है कि काशी के इतिहास के संदर्भ में राजघाट एवं सारनाथ की खुदाई से गुप्तकालीन इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई है, जिसे अभिलेख और अधिक पुष्ट करते हैं।

4. पूर्व मध्ययुगीन काशी-

गुप्त-साम्राज्य का पतन छठीं शताब्दी के मध्य में हो चुका था तथा उत्तरी भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्यों ने अपनी सीमा विस्तृत करके शासन को स्थापित किया। इन्हीं राजवंशों में से एक वर्धन वंश एवं मौखरि वंश प्रमुख थे। मौखरि वंश के साम्राज्य का विस्तार काशी तक भी था। परवर्ती गुप्त-शासक अब भी विद्यमान थे, इनका राज्य-विस्तार मगध तक ही सीमित रहा। इस गुप्त वंश का और प्राचीन गुप्त वंश के सम्बन्ध का अनुमान लगाना कठिन प्रतीत होता है; किन्तु इस वंश को **'मागध-गुप्त'** के नाम से इतिहास में सम्बोधित किया जाता है। ऐतिहासिक सूचनाओं से यह ज्ञात होता है कि मौखरियों एवं मागध-गुप्तों में शत्रुता होने के कारण बहुधा युद्ध होता रहता था। काशी-क्षेत्र के जौनपुर नामक स्थल से **ईश्वरवर्मा** का खण्डित प्रस्तर लेख प्राप्त हुआ है[27], जिससे यह ज्ञात होता है कि मौखरियों के शासन काल में काशी सम्मिलित थी। लेख के मिल जाने से यह सूचना मिलती है कि जौनपुर में इस शासक का आधिपत्य रहा होगा, जो काशी-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। लेख की भाषा संस्कृत एवं लिपि गुप्तोत्तरकालीन ब्राह्मी है। अभिलेख में तिथि अंकित नहीं है। ईश्वरवर्मन नामक राजा का उल्लेख होने के कारण इस अभिलेख को मौखरि वंश से सम्बन्धित किया जाता है। अलेक्जेण्डर कनिंघम ने इस अभिलेख का अध्ययन एवं फ्लीट ने अनुवाद सहित प्रकाशित किया। ईश्वरवर्मन ने आन्ध्रों पर विजय प्राप्त की थी, हरहा लेख के 13वें श्लोक में इस विजय का वर्णन है। इसलिए जौनपुर लेख या तो ईश्वरवर्मन का है या संभवतः उसके अन्य किसी उत्तराधिकारी का।

हर्ष के बहनोई गृहवर्मा की मृत्यु के पश्चात् मौखरियों का समस्त राज्य विस्तार हर्ष के अधिकार में आ चुका था, जिसमें कन्नौज एवं काशी का प्रान्त भी सम्मिलित था। ह्वेनसांग ने भारतवर्ष की यात्रा हर्ष के राज्यकाल के समय ही की और इस प्रसंग में वाराणसी भी वह गया। ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण से सांतवी सदी के आरम्भ में काशी के सामाजिक एवं

धार्मिक स्थिति की सूचना प्राप्त होती है। ह्वेनसांग कुशीनारा से 500 ली (100 मील) चलकर वाराणसी में प्रवेश किया था।[28]

ह्वेनसांग अपने यात्रा-विवरण में वाराणसी की संस्कृति के विषय में महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया है, जिसका विवरण निम्नवत् है[29] :-

वाराणसी (काशी) क्षेत्र का विस्तार 4000 ली (800 मील) के इर्द-गिर्द था, जिसकी राजधानी गंगा के पश्चिमी तट पर विद्यमान थी। शहर 11 ली. लम्बा और 6 ली. के अनुपात में था। शहर के मुहल्ले आपस में जुड़े हुए थे। वाराणसी की घनी आबादी होने के कारण लोग बहुत धनवान एवं समृद्ध थे, इसी समृद्धता के कारण उनके घर बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रहते थे। काशी के नागरिक शिष्टता में उच्च एवं श्रेष्ठ होते थे। शिक्षा के प्रति उनमें विशेष आसक्ति एवं अनुराग निहित था। काशी में अधिकतर लोग अन्य धर्मों (विशेषकर शैव) के पोषक थे, किन्तु बहुत कम ही बौद्धमतानुयायी थे। वाराणसी की जलवायु सुखकर (शुष्ककर) थी, इसी कारण उत्तम फसलें पैदा होती थी। जमींन पर हरियाली छायी रहती थी और फलों से लदे वृक्ष अत्यन्त घनें एवं आकृष्ट होते थे। वाराणसी में लगभग सम्मितिय निकाय से सम्बन्धित 3000 बौद्ध-भिक्षुओं के लिए 30 बौद्ध विहार विद्यमान थे। शहर में शैव-धर्म से सम्बन्धित सौ देव मंदिर विद्यमान थे, इस धर्म के अनुयायियों की संख्या दस हजार से अधिक थी। ये शैव धर्मानुयायी अपने बालों को कटवा डालते थे, कुछ नग्नावस्था में विचरण करते थे, कुछ जटाजूट धारण किए रहते थे एवं कुछ भस्म को अपने शरीर पर धारण करके उसी में रमे रहते थे। ये शैवमतानुयायी भव-बाधा से मुक्ति प्राप्त करने हेतु घोर तपश्चर्या में निरत होकर सतत् प्रयत्नशील रहते थे।

सारनाथ का वर्णन भी ह्वेनसांग वाराणसी यात्रा के बाद करता है। उसके अनुसार अशोक द्वारा निर्मित 100 फीट ऊँचा स्तूप राजधानी के उत्तर-पूर्व में एवं वरणा नदी के पश्चिम में विद्यमान था। हरे रंग (पत्थर) का एक पॉलिशदार स्तम्भ इसी स्तूप के सामने

सदृश्य था। वरना नदी के 10 ली (2 मील) उत्तर-पूर्व में मृगदाव विहार था। इस विहार में 1500 भिक्षु सम्मितिय निकाय के रहते थे। दीवार के अन्दर 200 फुट ऊँचा, स्वर्ण मण्डित आमलक से अलंकृत एक मंदिर विद्यमान था, जिसकी कुर्सी एवं सीढ़ियाँ प्रस्तर निर्मित थी। बुद्ध की सुवर्ण मंडित प्रतिमा ईंटों के बने भाग में निषीदिकाओं में अंकित थी। धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की मूर्ति (कांसें से निर्मित) मंदिर के अंदर निर्मित थी।[30] अशोक द्वारा निर्मित स्तूप मंदिर के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में विद्यमान थी। इसका जमीन के ऊपर का हिस्सा (100 फुट) उस समय भी बचा हुआ था। जहाँ महात्मा बुद्ध ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया था, 30 फुट का ऊँचा खम्भा इसी स्तूप के सामने विद्यमान था। इसी स्तूप के सामने महात्मा बुद्ध ने बोधिसत्त्व मैत्रेय के भविष्य में बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी, जिसका उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है।

उपर्युक्त विवरण सांतवीं सदी के सारनाथ के इतिहास का वृत्तान्त दर्शाता है। काशी से हर्षयुगीन कोई अभिलेख अभी तक पुरातात्त्विक खुदाई में प्राप्त नहीं हुए किन्तु हर्ष के शासनकाल में काशी की विशेष उन्नति हुई; विशेषकर सारनाथ की। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया, इसका मुख्य कारण यह था कि हर्ष का कोई उत्तराधिकारी शेष नहीं रहा। इसी राजनीतिक शून्य का लाभ उठाकर सभी राज्य स्वतन्त्र होने लगे, जो हर्ष के समय तक संगठित थे। श्री हर्ष के पश्चात् प्रकटादित्य नामक राजा ने काशी प्रांत का भार स्वयं संभाला, संभवतः ये काशी के प्रादेशिक राजा रहे हों। इनका एक अभिलेख सारनाथ से प्राप्त हुआ है।[31] इसी लेख में जो बहुत क्षीण अवस्था में हैं, वाराणसी में **मुरद्विष** नाम से **विष्णु मंदिर** बनाने का वर्णन मिलता है। लेख की भाषा संस्कृत एवं लिपि उत्तर भारतीय ब्राह्मी परिलक्षित होती है। **सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण में 'काशी' शब्द प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख में ही दृष्टिगत् होता है।** 'मध्यदेश' जो गुप्त काल में समूचे उत्तर प्रदेश के लिए व्यवहृत होता था, का भी उल्लेख इस अभिलेख में है।

इसी क्रम में गाजीपुर जिले में जमानीया तहसील से प्राप्त प्रहलादपुर से[32] एक अभिलेख जिसकी भाषा संस्कृत एवं लिपि उत्तर भारतीय ब्राह्मी है, का वर्णन करना महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। लेख केवल एक श्लोक का है। जिस राजा का इस स्तम्भ पर लेख अंकित है, उसका नाम **शिशुपाल** था। यह शिशुपाल पौराणिक राजा था अथवा ऐतिहासिक, इस पर विचार करना आवश्यक है। अभिलेख तिथिहीन है और किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं हैं। किन्तु काशी क्षेत्र से प्राप्त होने कारण आभिलेखिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

आठवीं शताब्दी ई0 में उत्तर भारत का सबसे प्रतापी राजा पालवंशीय शासक धर्मपाल हुआ, जिसने 752 ई0 में शासन संभालते हुए 32 वर्ष तक राज्य किया। प्राचीन समय से जो पाटलिपुत्र ने महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, धर्मपाल ने उसका पुनः पुनरुत्थान किया। इन्द्रराज तथा अपने अन्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके कन्नौज पर धर्मपाल ने अपना आधिपत्य स्वीकारा एवं पड़ोसी राज्यों की अनुमति से अपने आज्ञाकारी गुर्जर-प्रतिहार चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर शासन करने हेतु अनुमति दी। धर्मपाल की गंगा के दोआब में विजय क्षणिक थी किन्तु काशी (वाराणसी) उसके राज्य के अन्तर्गत थी। मध्यदेश के लिए धर्मपाल, राजस्थान के वत्सराज एवं राष्ट्रकूट ध्रुव में त्रिकोणीय संघर्ष निरन्तर चलता रहा, इस परिस्थिति में भी काशी धर्मपाल के राज्य के अन्तर्गत रही। डॉ0 अल्तेकर का अनुमान है कि धर्मपाल की सेना का प्रधान अड्डा गंगा-यमुना के दोआब के अन्तर्गत 'काशी' रही होगी।[33]

धर्मपाल की मृत्यु 794 और 832 ईस्वी के बीच हुई। धर्मपाल के पश्चात् उसका पुत्र देवपाल शासक हुआ। उसके राज्य का विस्तार मालवा तक था। किन्तु काशी पर पालों का आधिपत्य अधिक दिनों तक नहीं रह सका। प्रतिहारों के बढ़ते हुए विजय-पराक्रम से पाटलिपुत्र की सत्ता क्षीण होने लगी और लगभग 850 ई0 के करीब प्रतिहारों के हाथों में

काशी आ गई। काहल लेख से यह ज्ञात होता है कि प्रतिहार राजा भोज का करद गोरखपुर का स्थानीय शासक था, जो लगभग 836 ई0 में गद्दी पर विराजमान हुआ। इससे तो यहीं ज्ञात होता है कि गोरखपुर के आस-पास वाले क्षेत्रों में प्रतिहारों का शासन था, जिसमें काशी-क्षेत्र भी सम्मिलित थी।[34]

एक ताम्रपत्र जिसका समय 931 ई0 का है, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह से मिला है, से यह पता चलता है कि गुर्जर-प्रतिहार शासक विनायक पालदेव ने कन्नौज (महोदय) स्थित अपने स्कन्धावार से तिक्कारिका नामक ग्राम को दान में दिया था। यह ग्राम प्रतिष्ठान भुक्ति में स्थित था किन्तु इसका लगाव वाराणसी विषय के काशीवार पथक से था।[35]

इसी समय अपनी सैनिक योग्यता बढ़ाते हुए पालवंशीय शासक महीपाल (988-1038) ने राजनीतिक कुशलता से पाल सत्ता को चमका दिया। उसके राजनीतिक प्रभाव के सूचक अनेक अभिलेख दृष्टिगत् होते हैं, जो दक्षिणी और पूर्वी बंगाल से वाराणसी (काशी) तक विस्तृत हैं। **महीपाल का सारनाथ (वाराणसी) से एक अभिलेख की प्राप्ति हुई है, जिसमें महीपाल की उपलब्धियों का विवरण है।**[36] लेख की भाषा संस्कृत तथा लिपि उत्तरकालीन भारतीय ब्राह्मी है। अभिलेख में यह उल्लेख है कि गौड़ शासक महीपाल ने काशी में अपने यश के सूचक सैकड़ों-भवनों (मंदिरों आदि) की स्थापना हेतु अपने दो भाईयों स्थिरपाल एवं बसन्तपाल को लगाया। काशी में ईशान-चित्रघंटा के तथा अन्य सैकड़ों मंदिरों की स्थापना इन्हीं के द्वारा हुई। इस कार्य हेतु महीपाल ने अपने गुरु श्री वामराशि की चरण वन्दना के पश्चात् आज्ञा पाकर की।

धर्मराजिका स्तूप और धर्मचक्र विहार की मरम्मत करने के पश्चात् स्थिरपाल एवं बसन्तपाल ने अष्ट महास्थान-गंध कुटी नामक नये मंदिर की स्थापना करवाई। इस लेख से यह ज्ञात होता है कि महीपाल बौद्ध होने पर भी हिन्दू धर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे

एवं उन्होंने काशी में ईशान (शिव) और चित्रघंटा (दुर्गा) के मंदिर का निर्माण करवाया। काशी की नव-दुर्गाओं में वर्तमान समय में भी चित्रघंटा की पूजा होती है।

10वीं शताब्दी के अन्त में प्रतिहारों की शक्ति घटने लगी फलतः जेजाकभुक्ति के धंग (950-1000 ईस्वी) ने काशी पर अपना आधिपत्य जमा लिया। एक ताम्रपत्र जिसका सम्बन्ध धंग से है, में यह उल्लेख है कि एक गाँव उसने काशी के भट्ट-यशोधर को प्रदान किया। इसी आधार पर **डॉ0 आर0एस0 त्रिपाठी** ने कहा है कि अपने राज्य के अन्त में धंग की सत्ता वाराणसी तक पहुँच चुकी थी। किन्तु एक ब्राह्मण को एक ग्राम दान में देने से यह नहीं कहा जा सकता कि काशी पर उनका आधिपत्य रहा होगा।[37]

डॉ0 मोतीचन्द्र यह मानते है कि 11वीं शती के प्रथम चरण में कलचुरि शासक गांगेयदेव का अधिकार काशी पर हो गया। 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण कर गांगेय देव ने अपने राज्य का विस्तार किया, किन्तु उसे परमार शासक भोज से लगभग 1000-1050 ई0 के बीच हार का सामना करना पड़ा। गांगेयदेव की सुवर्ण मुद्राओं को 'वाराणसी पद्मांकित द्रम्म' कहा गया है, इसका उल्लेख अल्लाउद्दीन के टंकाध्यक्ष 'ठक्कुर फेरु' द्वारा लिखित पुस्तक **'मध्यकालीन सिक्कें'** में निहित है। इन पद्मांकित मुहरों के मिल जाने से यह ज्ञात होता है कि काशी उसके अधिकार में थी। गांगेयदेव के राज्य में ही अहमद नियाल तिगिन ने 1033 ई0 में वाराणसी को लूटा था।[38] इस घटना का वर्णन बैहाकी ने अपने ग्रंथ **'तारीखस्सुबुकत्तिगिन'** में इस प्रकार किया है-[39]

''उसने (अहमद नियाल तिगिन) ने 1033 ई0 में अपने सैनिकों के साथ प्रस्थान करके ठाकुरों से कठोरतापूर्वक अत्यधिक रकम वसूली। बाद में गंगा को पार करते हुए उसके बायें किनारे से नीचे की ओर चल पड़ा। गंग नामक राजा के राज्य में वाराणसी शहर में तुरन्त आ पहुँचा। किसी भी मुस्लिम सेना ने इसके पहले यहाँ आगमन नहीं किया। ज्यादा खतरा होने के कारण सेना दोपहर के नमाज तक ही ठहरी। बजाजा तथा गंधियों

और जौहरियों की बाजारों को लूट लिया गया। सेना के सिपाही अधीर हो चुके थे, इसलिए लूट का सारा सामान लेकर सही-सलामत अपने वतन लौट जाना चाहते थे।''

यह घटना बिल्कुल काल्पनिक प्रतीत होती है और नियालतिगिन को फंसाने एवं सुल्तान की दृष्टि में गिराने के लिए बैहाकी ने इस विवरण को लिखा है। फिर भी भारतीय इतिहासकार इतिहास लेखन में इसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं। एक ही दिन में लाहौर से चलकर वाराणसी पहुँचना एवं दोपहर तक लूट-पाट करके वापस लौट जाना उचित प्रतीत नहीं होता एवं तर्कपूर्ण भी लगता है। यह दुःख की बात है कि किसी ने तर्क की कसौटी पर इसे कसने का प्रयास नहीं किया है। गांगेयदेव की मृत्यु लगभग 1038 से 1041 ई0 के बीच में प्रयाग में हुई। गांगेयदेव के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी पुत्र लक्ष्मी कर्ण गद्दी पर बैठे एवं इनका राज्यकाल 1041 में 1072 ई0 के बीच चलता रहा।

प्रभावशाली राजा होने के कारण कर्ण ने गुजरात के राजा भीम (1041-1064 ई0) की सहायता से भोज को पराजित किया एवं कन्नौज पर भी अपने धावे किये। कर्ण के वाराणसी से दो अभिलेख (सारनाथ, राजघाट) प्राप्त हुए हैं, जिससे यह पता चलता है कि कर्ण का अधिकार काशी पर भी था।[40] जबलपुर के एक ताम्रपत्र से[41], जिसका समय 1065 ई0 का है, से यह ज्ञात होता है कि **कर्णमेरु** नामक शैव मंदिर का निर्माण कर्ण ने करवाया था। **'प्रबन्धचिन्तामणि'** में भी इस मंदिर का उल्लेख विल्हण करते हैं। विक्रमांकदेवचरित (18/93-96) में कर्ण की प्रशंसा विल्हण ने की है। हो सकता है कि काशी में विल्हण की भेंट कर्ण से हुई हो। 'प्रबन्धचिन्तामणि' में भी वाराणसी का अधिपति कर्ण को कहा गया है।

गाहडवाल शासकों का काशी एवं कन्नौज के राज्यों पर सत्ता स्थापित होने से पूर्व मध्यदेश (उत्तर प्रदेश) की राजनीतिक परिस्थिति का आकलन करना अनिवार्य प्रतीत होता है। गाहडवाल शासकों ने उत्तर-प्रदेश की भयंकर अराजकता से रक्षा कर उसे भारतवर्ष का

करीब सौ वर्षों तक का अग्रणी राज्य बनाये रखा। गुर्जर-प्रतिहार शासक राज्यपाल पर महमूद गजनवी ने 1018 ई0 में आक्रमण किया, जिसके परिणामस्वरूप राज्यपाल के वंशधर पूर्वी उत्तर-प्रदेश की ओर आगमन किया। त्रिलोचनपाल के झूँसी लेख और यशःपाल के कड़ा लेख से यह विदित होता है कि इलाहाबाद जिले के एक भाग इनके हाथों में लगभग 1027 और 1037 ई0 के बीच रहा। किन्तु चंदेल राजा विद्याधर के अधिकार में कन्नौज के आस-पास का क्षेत्र (लगभग 1019 ई0 में) रहा। विद्याधर के पश्चात् कलचुरियों का इतिहास मध्य देश में प्रारम्भ होता है, और इस बात के अन्य साक्ष्य भी उपलब्ध हैं कि गांगेयदेव (लगभग 1030-141 ई0) और उसके पुत्र कर्ण (लगभग 1041-1070 ई0) के अधिकार में 11वीं शताब्दी में प्रयाग एवं वाराणसी विद्यमान थे किन्तु कन्नौज पर कोई अन्य सत्ता ही शासन कर रही थी।

कर्ण की मृत्यु के 20 वर्ष पश्चात् गंगा-यमुना के दोआब में अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गई, इसी परिस्थिति में एक नई राज्य शक्ति का उत्थान प्रारम्भ हुआ जिसने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए कन्नौज एवं काशी पर अपना आधिपत्य जमायें रखा। **डॉ0 मोतीचन्द्र** के मतानुसार ये कोई अन्य शक्ति नहीं, अपितु काशी के शासक गाहडवाल थे।[42]

कन्नौज में प्रतिहारों की शक्ति शिथिल हो चुकी थी। अपनी शक्ति को विस्तृत करने में त्रिपुरि के कलचुरि एवं बुन्देलखण्ड के चन्देल लगे हुए थे। ऐसी परिस्थिति में अराजकता की चपेट में मध्य देश भी सम्मिलित हो चुका था। महमूद गजनवी का आक्रमण भी इन्हीं परिस्थितियों में हुआ। गाहडवालवंशीय शासक **'चन्द्रदेव'** नामक वीर अपनी वीरता एवं प्रताप से प्रजा के उपद्रवों का शमन (शान्त) कर दिया, जैसाकि उसके एक अभिलेख चन्द्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 में यह कथन उद्धृत है कि- **'येनोदारतर प्रताप शमिताशेष प्रजोपद्रवाः'**[43] उत्पन्न हुआ। काशी को राजधानी बनाकर 1700 वर्षों के पश्चात् उसे सांस्कृतिक महत्त्व गाहडवाल शासकों के समय प्राप्त हुई।

गाहडवाल शासकों के अभ्युदय के विषय में प्रत्यक्ष रूप से सूचना प्राप्त नहीं होती। अभिलेखों में गाहडवालों को सूर्यवंशीय अथवा चन्द्रवंशीय न कहकर केवल 'क्षत्रिय' सम्बोधित किया गया है। 'ग्रहवार' अथवा 'गिरिगह्वर' शब्द से ही गाहडवाल शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। गिरिगह्वर शब्द विष्णुपुराण में एक जाति के रूप में आया है।[44] गाहडवालों की परिचर्चा समकालीन साहित्य में कहीं भी ज्ञात नहीं होती, किन्तु मिर्जापुर में स्थित कंतित रियासत का क्षत्रिय कुल स्वयं को गाहडवाल सम्बोधित करता है।[45] इतिहासकार इन्हें हिन्दू-धर्म स्वीकार करने वाले 'क्षत्रिय' बताते हैं, जो प्राचीन भारत के भिन्न-भिन्न राजवंश पाल, राष्ट्रकूट एवं विन्ध्याचल के आस-पास में बसी जातियों से सम्बन्धित थे। देवदास नामक प्रतिभाशाली राजा जो ययाति वंश से सम्बन्धित थे, जिन्होंने वि.सं. 1200 के लगभग काशी के समीप एक छोटे से राज्य की स्थापना की थी। इसी राज्य का धीमी गति से विस्तारित होने के कारण कन्नौज एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत् हो गया। देवदास के बारे में यह कहा जाता है कि शनि ग्रह से पीड़ित होने के कारण, शनि आराधना के फलस्वरूप देवदास ने इस ग्रह पर विजय प्राप्त की थी। इस कारण से ही उसका वंश ग्रहवार (ग्रहों का निर्माण करने वाला) कहलाया। आगे चलकर यहीं 'ग्रहवार' गाहडवाल राजवंश के नाम से प्रचलित हो गया।[46] **विशुद्धानन्द पाठक**[47] यह मानते हैं कि गाहडवाल शासकों ने प्रारम्भ में मिर्जापुर की पहाड़ियों में काशी के समीप राज्य का निर्माण प्रारम्भ किया एवं कालान्तर में कन्नौज पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया एवं इतिहास में गाहडवाल वंश के रूप में प्रतिष्ठित हुए। पहले ये एक पहाड़ी जनजाति थे। वहीं **आर.एस. त्रिपाठी**[48] यह मत प्रकट करते हैं कि यह एक अज्ञात गण जाति थी, जो कालान्तर में कन्नौज पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। ये धर्मरक्षक के रूप में प्रसिद्ध हुए। गाहडवाल शासक स्वयं को अभिलेखों में **'केवल क्षत्रिय'** सम्बोधित करते हैं।[49] उनके अभिलेख उन्हें हमारे सम्मुख एक स्वतन्त्र शासक के रूप में प्रकट करते हैं।[50]

यशोविग्रह गाहडवाल वंश का प्रारम्भिक शासक था।[51] इसके पश्चात् उसका पुत्र महीचन्द्र हुआ। इन दोनों का प्रारम्भिक राज्य कहाँ था, यह ज्ञात नहीं हैं। साधारण शासक के रूप में यशोविग्रह ने अपना शासन स्थापित किया, किन्तु महीचन्द्र के पास कुछ सैन्य बल अधिकृत थे। इन्हीं सैन्य बल की सहायता से उन्होंने अपना एक छोटा सा राज्य स्थापित कर लिया होगा, ऐसा अनुमानित किया जा सकता है। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि.सं. 1150) अभिलेख में यह उल्लिखित है कि 'चन्द्रदेव के पितामह यशोविग्रह ने पृथ्वी को छीनकर अपनी दंड प्रणायिनी बनाया। जिससे यह स्पष्ट होता है कि यशोविग्रह ने प्रारम्भ में कुछ एक विजय प्राप्त की होगी।

महीचन्द्र का पुत्र **चन्द्रदेव** (चंद्रादित्य) गाहडवाल वंश का वास्तविक संस्थापक हुआ, जो 1091-1104 ई0 तक शासन किया।[52] काशी-क्षेत्र से इनके तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं। चन्द्रावती से (वि.सं. 1148, 1150, 1156) मिले अभिलेख, चन्द्रदेव के दान-मात्र की चर्चा करते हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि काशी और अयोध्या जैसे प्रमुख नगरों सहित गंगा एवं सरयू (घाघरा) नदियों के किनारों के प्रदेश उसके अधिकार क्षेत्रों का निर्माण करते थे। इसके पौत्र गोविन्दचन्द्र के बसही अभिलेख[53] में यह वर्णित है कि ''परमार भोज के दिवंगत एवं कलचुरि कर्ण की कीर्ति मात्र शेष रह जाने पर जब पृथ्वी विपत्ति में पड़ी तो उसने चन्द्रदेव नामक राजा को विश्वासपूर्वक अपने रक्षक के रूप में चुना।'' यह घटना 1080 से 1085 ई0 के बीच घटी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रदेव को अपने राज्य का सीमा-विस्तार करने का अवसर कलचुरि शासक कर्ण की मृत्यु के उपरान्त मिला। इसके पश्चात् चन्द्रदेव ने अपनी सामरिक राजधानी कन्नौज को बनाई। किन्तु ऐसा लगता है कि इसकी राजधानी कन्नौज न होकर काशी थी, क्योंकि गाहडवाल शासकों के अभी तक जितने भी ताम्रपत्र ज्ञात हुए हैं उनमें से अधिकांशतः काशी से ही प्राप्त हुए हैं। गाहडवालों को काशी का शासक मुस्लिम

इतिहासकार भी स्पष्टतया मानते हैं।[54] चन्देलों के लेखों में भी इन्हें **'काशी का राजा'** स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मीधर ने अपनी प्रशस्ति **'कृत्यकल्पतरु'** में गोविन्दचन्द्र को 'काशी का राजा' माना है।[55] चन्द्रदेव को स्कन्दपुराण के अन्तर्गत 'काशिराज चन्द्रदेव' सम्बोधित किया गया है। सामरिक दृष्टि से काशी को राजधानी बनाने में गाहडवालों को इसलिए सुविधा थी, क्योंकि कन्नौज उस समय तक मुसलमानों की दृष्टि में आ चुका था एवं उस पर यदा-कदा उनके आक्रमण होते रहते थे।

चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रदेव ने काशी, कुशिक, उत्तर-कोशल, इन्द्रस्थनीय के सभी पार्श्ववर्त्ती क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लिया।[56] चन्द्रदेव ने नरपति, गजपति, गिरिपति एवं त्रिशंकुपति जो कलचुरि शासकों की उपाधियाँ थी, पर विजय प्राप्त की, ऐसा वर्णन उसके चन्द्रावती ताम्रपत्र 1093 ई0 में मिलता है।[57] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने लक्ष्मी कर्ण के पुत्र यशः कर्ण को विजित किया। चन्द्रदेव से संघर्ष हेतु अपने पिता के अन्तर्वेदि वाले विजित क्षेत्रों पर अधिकार के लिए यशः कर्ण को पराजय का सामना करना पड़ा। किन्तु गिरिपति एवं त्रिशंकुपति उपाधि से आशय स्पष्ट नहीं है। चन्द्रदेव ने कन्नौज किससे विजित किया, यह भी स्पष्ट नहीं हैं। बावन पत्तला जो काशी क्षेत्र के अन्तर्गत था, चन्द्रदेव के राज्य में सम्मिलित था, ऐसी सूचना चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र से ज्ञात होता है।[58] चन्द्रदेव का संघर्ष पूर्व दिशा में पालों एवं सेन शासकों से भी हुआ। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 एवं वि.सं. 1156 के दोनों अभिलेखों में यह सूचना मिलती है कि उसने पूर्व-दिशा की ओर अपनी विजय-यात्रा की, किन्तु इसमें किसी निश्चित विजय घोषणा की चर्चा नहीं की गई हैं। अन्य साक्ष्य भी इस विजय-अभियान के विषय में मौन है।

मदनपाल नामक शासक जिसका समय 1104 से 1114 ई0 तक है, चन्द्रदेव का पुत्र था।[59] मदनपाल वि.सं. 1161 में सिंहासन पर आसीन हुआ, जबकि चन्द्रदेव के

शासन की अंतिम तिथि वि.सं. 1156 का है। अतः 1099-1104 (ई0) के मध्य ही मदनपाल सिंहासन पर आसीन हुआ।[60] अभिलेखों में मदनपाल को **'मदनदेव'**[61] एवं **'मदनचन्द्र'**[62] के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसके समय का एक ताम्रपत्र काशी से प्राप्त हुआ है। महाराजाधिराज के रूप में अपने पिता के समय में राज्य के सभी कार्यों का दायित्त्व गोविन्दचन्द्र के हाथों में था। गोविन्दचन्द्र अपनी माताओं (राल्हण देवी एवं पृथ्वी श्री) के नाम पर दान पत्र जारी करते थे। संभवतः इसका प्रधान कारण गोविन्दचन्द्र का प्रधान-व्यक्तित्व रहा हो। एक मुख्य कारण मदनपाल के बीमार होने से है। इसी अवस्था में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् मदनपाल ने **'मदनविनोदनिघंटु'** नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। इसी ग्रंथ में मदनपाल को 'काशी का मदन नामक राजा' सम्बोधित किया गया है। इसके काल में ही गोविन्दचन्द्र ने अनेक सामरिक विजय प्राप्त किये।[63] राहन ताम्रपत्र में गौड़ों की गजघटा एवं हम्मीर पर विजय का श्रेय गोविन्दचन्द्र को ही प्राप्त हैं।[64] गौड़ों की सेना का संचालन संभवतः रामपाल (1084-1126 ई0 लगभग) कर रहे थे। हम्मीर का सम्बन्ध लाहौर की यामिनी सल्तनत के आक्रमण से ज्ञात होता है। संभवतः महमूद गजनवी के पश्चात् उसके अन्य सेनानायकों ने निरन्तर लूटपाट हेतु आक्रमण जारी रखे। तबकात-ए-नासिरी के विवरण में महमूद तृतीय के शासनकाल में इसी प्रकार के आक्रमण का उल्लेख है।[65] इस विवरण के अनुसार हाजी तुगतिगिन ने गंगा पार करके भारत में जिहाद बोल दिया एवं उसी जगह आ पहुँचा जहाँ महमूद की सेना के सिवाय अन्य कोई नहीं पहुँच पाया था। मसूद तृतीय का दरबारी कवि, जिसने दीवान-ए-सल्मा को रचित किया, में यह वर्णन है कि मसूद की सेना ने अभागे राजा मल्ही को युद्ध में पकड़ लिया।[66] यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि युद्ध में मसूद तृतीय के द्वारा पकड़ा गया 'मल्ही' कौन था? गोविन्दचन्द्र के 1104 ई0 के बसही अभिलेख[67] से ज्ञात होता है कि वह (मदनपाल) उस समय तक कन्नौज से राज्य का शासन एवं संचालन करता था। इस विवरण से यह संदर्भित होता है कि मदनपाल कन्नौज का ही गाहडवालवंशीय शासक था। उसे

तुर्क-आक्रमणकारियों द्वारा पकड़े जाने के पश्चात् गोविन्दचन्द्र ने कठोर संघर्ष के पश्चात् छुड़ाया। 1109 ई0 के राहन-ताम्रपत्र अभिलेख से यह विवरण मिलता है कि ''गोविन्दचन्द्र ने अपने बार-बार प्रदर्शित रणकौशल से 'हम्मीर' को शत्रुता त्याग देने के लिए विवश किया।''[68] अरबी भाषा के 'अमीर' शब्द को हमीर के लिए प्रयुक्त किया गया है जिसे मसूद तृतीय के किसी सेनापति एवं उत्तराधिकारी से सम्बन्धित किया जाता है। अभिलेख में वर्णित 'बार-बार' (मुहर्मुहः) गोविन्दचन्द्र के वीरता एवं रण-कौशल का प्रदर्शन करता है, एवं यह भी प्रतीत होता है कि उसका तुर्क-आक्रमणकारियों के साथ काफी लम्बा संघर्ष चला। रोमा नियोगी[69] का यह मत है कि मदनपाल के अभिलेखों में वर्णित उपलब्धि 'उसने पृथ्वी में एकछत्र शासन स्थापित कर अपने तेजबल से इन्द्र को भी मात दे दिया' व्यर्थ ही वर्णित हैं क्योंकि 'दीवान-ए-सल्मा' में उल्लिखित मल्ही की पराजय ही मदनपाल की पराजय थी। इस विषय में मजूमदार[70] का यह मानना है कि आक्रमणकारियों से छुटकारा प्राप्त करने हेतु मदनपाल को कुछ धन-आदि का लोभ देना पड़ा। अतः मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा वर्णित मसूद तृतीय की विजय पूर्णतया सत्य प्रतीत होती है।

गाहडवाल वंश का उत्कर्ष **गोविन्दचन्द्र** (1114 ई0-1154 ई0) के समय में पूर्णतया हुआ। सिंहासन की गद्दी पर विराजमान गोविन्दचन्द्र 1109 और 1114 ई0 के बीच हुए। इनका अन्य नाम अभिलेख में **'गोविन्दपाल'**[71] भी आया है। मदनपाल एवं पत्नी राल्हणदेवी का पुत्र गोविन्दचन्द्र एक स्वतन्त्र शासक के रूप में हमें कमौली अभिलेख से दर्शित होता है।[72] काशी से गोविन्दचन्द्र के कुल **28** अभिलेख (कमौली से) प्राप्त हुए हैं। मुसलमानों का धावा इनके राज्य की प्रमुख घटना है। गोविन्दचन्द्र को तुर्कों के आक्रमण को विफल करने हेतु 'विष्णु का अवतार' उपाधि से विभूषित किया गया है क्योंकि वे तुर्कों से युद्ध करने हेतु सदैव तत्पर एवं सन्नध (तटस्थ) रहे। गोविन्दचन्द्र द्वारा वाराणसी की रक्षा का विवरण कुमारदेवी (गोविन्दचन्द्र की पत्नी) के सारनाथ अभिलेख में उल्लिखित है।[73] भट्ट लक्ष्मीधर ने (गोविन्दचन्द्र का महासंधिविग्रहिक) अपने ग्रन्थ 'कृत्यकल्पतरु' में कहा है

कि ''असमसमरसम्पल्लंपटः शौर्य भाजामवारि वधिर युद्धे येन हम्मीर वीर'' अर्थात् गोविन्दचन्द्र ने उस हम्मीर वीर को, जो शूरता का भाजन, एवं असमसमर में विजय की इच्छा रखने वाला था, को मार डाला।[74] इससे यह स्पष्ट है कि गोविन्दचन्द्र द्वारा युद्ध में हम्मीर मारा गया।

गाहडवाल लेखों में 'तुरुष्कदण्ड' का उल्लेख गोविन्दचन्द्र के विजय से ही सम्बन्धित है। महमूद के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय हिन्दू प्रजा दुःखी एवं क्षुब्ध थी, प्रतिकार की भावना भी उनमें निहित थी। संभवतः गोविन्दचन्द्र ने प्रजा के संताप को दूर करने हेतु महमूद के अन्य साथियों पर जो उत्तर-प्रदेश में बसे हुए थे, जजिया की तरह ही 'तुरुष्कदण्ड' नामक कर लगाया। कुछ मुसलमान गाहडवालों के राज्य में पहले से ही बसे हुए थे, ऐसा वर्णन ***कामिलउत्तवारीख*** से ज्ञात होता है।[75] वाराणसी में गोविन्द चन्द्र के समय गोविन्दपुरा कलाँ नामक मुहल्ला दलेल खाँ ने बसाया था, ऐसा प्रतीत होता है कि गाहडवालों के समय से ही मुसलमान वाराणसी में बसे थे। दलेल खाँ के पुत्र हुसैन खाँ को विजयचन्द्र के राज्य में हुसैनपुरा नामक मुहल्ला को बसाने की इच्छा हुई। विद्वानों ने तुरुष्क दण्ड का तात्पर्य एक सुगंधित द्रव्य विशेष पर कर, जजिया आदि से किया है।[76] यह भी संभव है कि तुरुष्कों से लड़ने के लिए किसी विशेष कर की ओर (तुरुष्क) के लिए संकेत हो। जो भी हो यह संभावना व्यक्त की जाती है कि जजियाकर (हिन्दुओं पर लगने वाला कर) के प्रत्युत्तर में मुसलमानों पर यह कर लगता था।

पाल शासक रामपाल के (लगभग 1084-1126 ई0) मामा की लड़की कुमारदेवी का विवाह गोविन्दचन्द्र से होने के पश्चात् पालों एवं गाहडवालों में संधि हो गई। किन्तु गोविन्दचन्द्र के राहन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसका गौड़ों से युद्ध उस समय हुआ जब विजयसेन उसे युद्ध की चुनौती देकर तंग कर रहे थे।[77] मगध की भूमि पर भी गोविन्दचन्द्र ने अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय पालवंश अवनति

की दशा में पहुँच चुका था। लगभग 1125 ई0 तक गोविन्दचन्द्र ने मगध पर अपना आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, ऐसा पटना के पश्चिमी भाग से मिले एक ताम्रपत्र जिसका समय 1126 ई0 है, से सूचित होता है।[78]

लक्ष्मीधर ने गोविन्दचन्द्र की प्रशंसा में अपने ग्रंथ 'कृत्यकल्पतरु' में लिखा है कि 'उनके द्वारा हंसी-खेल में डराने के कारण गौड़ों को भय सताने लगा।'[79]

गोविन्दचन्द्र ने कलचुरियों पर भी अपनी विजय प्राप्त की, इसी क्रम में उन्होंने दक्षिण में अपना विस्तार प्रारम्भ किया जाजल्लदेव के 1114 ई0 का एक लेख यह प्रमाणित करता है कि अपने शासनकाल के प्रारम्भ में गोविन्दचन्द्र का कलचुरियों से सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था।[80] कालान्तर में समय की गति के साथ ही उनकी यह मित्रता शत्रुता में परिवर्तित हो गई। 1120 ई0 के एक ताम्रपत्र से यह ज्ञात होता है कि गोविन्दचन्द्र ने यशकर्ण द्वारा दिये गये गाँव को पुनः ठक्कुर वशिष्ठ नामक दूसरे ब्राह्मण को दान में उसी गाँव को दिया।[81] संभवतः कलचुरियों को पराजित कर गोविन्दचन्द्र ने अश्वपति, गजपति, नरपति (जो कलचुरियों के विरुद थे) आदि उपाधियों को धारण किया। गोविन्दचन्द्र का चंदेलों से भी सम्पर्क था, क्योंकि सल्लक्षवर्मन के अभिलेखों में गोविन्दचन्द्र की चर्चा की गई है।[82] राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि गोविन्दचन्द्र की मित्रता कश्मीर के राजा से भी थी। श्रीकंठचरित (25/102) में यह वर्णन है कि कश्मीरी पंडितों एवं राजकर्मचारियों की सभा में गोविन्दचन्द्र ने अपने योग्य विद्वान् **सुहल** को अलंकार से सुसज्जित कर भेजा।[83] इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान से कश्मीर एवं वाराणसी की मित्रता एवं ख्याति अवश्य बढ़ी होगी। प्रबन्धचिन्तामणि में यह वर्णन है कि[84] पाटण के सिद्धराज जयसिंह ने काशिराज गोविन्दचन्द्र के पास एक दूत भेजा था, इस प्रकार के उल्लेख से यह पता चलता है कि राजनैतिक सम्बन्ध इन दोनों शासकों के बीच था। कवि आनन्दधर ने अपने 'माधवानलाख्यान' नामक ग्रंथ में 'पुष्पावती' (वाराणसी) के राजा गोविन्दचन्द्र की प्रंशसा

की है।[85] जो भी हो गोविन्दचन्द्र की वीरता उन्हें बारहवीं शती के विख्यात् राजाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिला दिया। अपने विजय पराक्रम से उन्होंने अपने साम्राज्य की रक्षा की। भट्ट लक्ष्मीधर की प्रशस्ति में उन्हें आत्मजित्, रामभृत, विजयी आदि विभूषणों से सम्बोधित किया गया है।

लक्ष्मीधर ने अपनी आलंकारिक भाषा में गोविन्दचन्द्र की इस प्रकार प्रशंसा की हैः- असम समर के समारंध में भेरी झंकार से द्रवित कर्णज्वर से मानों जिनकी आँखे नाच रही हों, जिस भेरी की टंकार दुर्गों, पर्वतों से टकराकर पुरो में गूंज रही हो, उसे सुनकर शास्त्र वेश अपने खजानों को अपने घरों में, करि तुरंगों को रास्ते में और अपने बांधवों को आधे रास्ते में छोड़ देते थे। लक्ष्मीधर के अनुसार गोविन्दचन्द्र पराक्रमी होने के साथ-साथ ज्ञान एवं पराक्रम दोनों के निवास-स्थान थे। माया एवं अवनीश दोनों से मुक्त होकर वे कुछ ही दिनों में अद्वैतावस्था को प्राप्त हुए।[86] उनके राज्य में गो एवं ब्राह्मणों का प्रति पालन एवं सत्कार हुआ।

गोविन्दचन्द्र की प्रशंसा में ***उक्तिव्यक्तिप्रकरण*** के लेखक ने कहा है कि गोविन्दचन्द्र ने अपने शौर्य से कीर्त्ति को अर्जित की। वे प्रतापी, धनवान एवं बुद्धिमान भी थे।[87]

गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र (1155-69 ई0) जिन्हें विजयपाल एवं मल्लदेव भी कहा गया है, गद्दी पर विराजमान हुए। सासाराम से प्राप्त 1161 ई0 के एक लेख से ज्ञात होता है कि विजयचन्द्र ने मगध के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था।[88] संभवतः उन्हें किसी मुसलमानी आक्रमण का सामना करना पड़ा। फिरोजशाह के कोटला के दिल्ली-शिवालिक स्तम्भ (1164 ई0) लेख से यह ज्ञात होता है कि शाकभरी के चाहमान राजा विग्रहराज से भी विजयचन्द्र का युद्ध हुआ।[89] लेख में यह वर्णित है कि विग्रहराज ने विन्ध्य एवं हिमालय की भूमि को विजित किया। काशी-क्षेत्र से इसके दो अभिलेख (कमौली

ताम्रपत्र वि.सं. 1167, विजयचन्द्र एवं युवराज जयचन्द्र का) दूसरा 1168 ई0 का जौनपुर स्तम्भ लेख) प्राप्त हुए हैं।

विजयचन्द्र के पश्चात् उनके पुत्र जयचन्द्र (1170-1194 ई0) गद्दी पर आसीन हुए। युवराज का पद जयचन्द्र को अपने पिता के द्वारा 16 जून, 1168 को दिया गया[90] और उनका विधिवत् राज्याभिषेक 21 जून, 1170 को हुआ।[91] जयचन्द्र के अभिलेख 1170 से 1189 ई0 के बीच प्राप्त हुए हैं। विजयचन्द्र के ताराचंडी लेख (1169 ई0) और जयचन्द्र के वाराणसी के लेख (1175 ई0) से यह दृष्टिगत होता है कि जयचन्द्र का शासन पटना, गया और शाहाबाद पर 1175 ई0 तक था। पृथ्वीराजरासों में यह वर्णन है कि जयचन्द्र की चंदेलों से मित्रता होने के कारण युद्ध में पृथ्वीराज द्वितीय (करीब 1177-1192 ई0) के विरुद्ध उसने चंदेल शासक परमर्दि (लगभग 1167-1202 ई0) को सहायता प्रदान की।

पृथ्वीराजरासों में संयोगिता एवं पृथ्वीराज के प्रेम-कथा का वर्णन मिलता है, किन्तु ये सब कहानियाँ अधिकतर कपोलकल्पित हैं। किन्तु इस प्रसंग से हम यह आधार लगा सकते हैं कि 12वीं सदी के चौथे चरण में चाहमान, गाहडवाल एवं चंदेल आपस में छोटी-मोटी लड़ाईयाँ लड़ रहे थे। किन्तु इन सभी का पतन शीघ्र ही मुहम्मद गोरी के हाथों हुआ।[92]

जयचन्द्र-प्रबन्ध में यह विवरण भी मिलता है कि लक्ष्मणसेन की राजधानी लक्ष्मणावती अभेद थी, फलतः जयचन्द्र ने यह निश्चय किया कि युद्ध में इसे विजित किया जाये।[93] लक्ष्मणसेन को जयचन्द्र ने युद्ध में हरा दिया किन्तु बाद में उन्हें मुक्त करके उनका देश उन्हें वापस लौटा दिया। इसी क्रम में पृथ्वीराज चौहान का मुहम्मद गोरी के साथ दो युद्ध हुआ। प्रथम तराईन के युद्ध में (1191 ई0) पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को पराजित किया, किन्तु तराईन के दूसरे युद्ध में (1192) मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान को

हराकर दिल्ली में प्रवेश किया। इस क्रम में जयचन्द्र केवल चुपचाप देखते ही रहे, उन्होंने पृथ्वीराज चौहान की कोई सहायता नहीं की। कालान्तर में मुहम्मद गोरी ने जयचन्द्र को घेर लिया और 1194 ई0 में एक बड़ी फौज के साथ जयचन्द्र को इटावा के पास चन्दावर में युद्ध के पश्चात् मार डाला। मुहम्मद गोरी ने असनी किला को विजित करते हुए वाराणसी पर भी आक्रमण का आदेश दिया, जिसके परिणामस्वरूप वाराणसी के अनेक मंदिर एवं मूर्तियों को नष्ट कर दिया गया।

यह भी विवरण मिलता है कि जयचन्द्र को, अपनी सेना एवं हाथियों पर गर्व होने के कारण मुहम्मद गोरी से युद्ध के लिए तैयार हुए। किन्तु युद्ध में हाथी का संचालन करते हुए, उन्हें एक तीर आँख में लगा और वे अपनी ऊँची जगह से भूमि पर गिर पड़े। मुस्लिम सेनापति ने भाले की नोंक पर उनका सिर ले आया। 300 हाथी जयचन्द्र की सेना में उपस्थित थे। इस लड़ाई के पश्चात् असनी के किलें पर, जिसमें जयचन्द्र का खजाना था, मुहम्मद गोरी ने दखल कर लिया। इस युद्ध में मुस्लिम सेना को अपार धन और सौ हाथी भी मिले।

हरिश्चन्द्र नामक राजा जयचन्द्र के पश्चात् हुआ। इसका एक दानपत्र **मछली शहर**[94] (जौनपुर) से 1196 ई0 का एवं दूसरा **बेलखारा** (मिर्जापुर) से 1196 ई0 का मिलता है।[95] गाहडवालों का साम्राज्य हरिश्चन्द्र के बाद तक भी चला, ऐसा उल्लेख **रणक विजयकर्ण** के **मिर्जापुर के लेख** से ज्ञात होता हैं।[96] यह हरिश्चन्द्र के अधीन सामन्तीय शासक था।

हरिश्चन्द्र के पश्चात् उसके किसी उत्तराधिकारी अथवा गाहडवालों की मुख्य शाखा के किसी राजा के विषय में कोई सूचना ज्ञात नहीं होती। फिर भी ऐसा अनुमानित होता है कि उनके द्वारा नियुक्त उनके वंशज स्थानीय शासक के रूप में कुछ वर्षों तक शासन करते रहे।

द्वितीय खण्ड

इस अध्याय का द्वितीय खण्ड **'काशी की प्रशासनिक व्यवस्था'** है, जिसे अभिलेखों एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। किसी क्षेत्र में विशिष्ट शासन या मानव- प्रबन्धन गतिविधियों को **'प्रशासन'** कहा जाता है। 'यदि कोई मनुष्य ऐसा है, जो समाज में न रह सकता हो या जिसे समाज की आवश्यकता नहीं है, तो वह अवश्य ही एक जंगली जानवर या देवता होगा। प्रत्येक समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए कोई न कोई निकाय या संस्था होती है, चाहे उसे नगर राज्य कहें अथवा राष्ट्र-राज्य। राज्य के उद्देश्य और नीतियाँ कितनी भी प्रभावशाली, आकर्षक और उपयोगी क्यों न हो, उनसे उस समय तक कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक कि उनको प्रशासन के द्वारा कार्य रूप में परिगणित नहीं किया जाये।' ऐसा कथन **अरस्तू** का है।

प्राचीन काशी के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक उसके प्रशासन की एक सामान्य रूपरेखा न खींची जाय। काशी की अवस्थिति विभिन्न युगों में विविध रूप में रही है। उत्तर-भारत में तृतीय शताब्दी ई0पू0 (मौर्य काल) से बारहवीं शती ई0 (गाहडवाल वंश) तक जिन शासकों ने राज्य किया उनका साम्राज्य काशी से जुडा था। यहाँ इन शासकों के पर्याप्त मात्रा में अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो उनके काशी पर आधिपत्य एवं प्रशासनिक व्यवस्था की सूचना देते हैं। यदि अभिलेख एवं साहित्य का समग्र अध्ययन किया जाय तो काशी के प्रशासनिक व्यवस्था को रेखांकित किया जा सकता है।

विविध कालों में काशी की प्रशासनिक-व्यवस्था का विवरण निम्नवत् है :-

1. मौर्यकालीन काशी की प्रशासनिक व्यवस्था-

मौर्य शासकों ने लगभग सम्पूर्ण भारत पर एकछत्र शासन करते हुए अपने साम्राज्य को बनाये रखा। मौर्यों के काल में भारतवर्ष ने सर्वप्रथम राजनीतिक केन्द्रीकरण के दर्शन

किये थे तथा चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा को व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया। प्रत्येक स्थिति में प्रजा का हित सुख इस शासन-व्यवस्था का चरम लक्ष्य था। मौर्यों की शासन-व्यवस्था का स्वरूप राजतंत्रात्मक था। राज्य की सुस्पष्ट परिभाषा **अर्थशास्त्र** में व्यवहृत है, जिसे सात प्रकृतियों की समष्टि कहा गया है। राज्य के सात अंग माने गये- राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष दंड एवं मित्र। इनमें सम्राट की स्थिति कूटस्थनीय होती थी। सभी अधिकार एवं शक्तियाँ राजा में निहित थी। सम्राट अपनी दैवीय उत्पत्ति में विश्वास नहीं करता था, किन्तु वह ईश्वर का प्रिय माना जाता था। उसे न्याय का प्रधान न्यायधीश, कानूनों का निर्माता तथा धर्मप्रवर्तक, सेना का प्रमुख सेनापति एवं दण्ड का नियामक माना गया। अपने कार्यों में सहायता प्राप्त करने हेतु मौर्य सम्राट अमात्यों, मंत्रियों एवं अधिकारियों को आदेश देता था। ये सभी अधिकारी सार्वजनिक कार्यों में उसकी सहायता करने हेतु तत्पर रहते थे। अर्थशास्त्र में मंत्रिपरिषद् को एक वैधानिक आवश्यकता स्वीकार किया गया है। **अर्थशास्त्र**[९७] में यह उद्धृत है कि- ''राजत्त्व केवल सबकी सहायता से ही संभव है, सिर्फ एक पहिया नहीं चल सकती। अतः राजा को सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए और उनसे मंत्रणा लेनी चाहिए।'' विस्तृत होने के कारण मौर्य साम्राज्य प्रान्तीय भागों में विभाजित था, अतः शासन की नियुक्ति सम्राट के द्वारा ही होती थी। प्रादेशिक विभागों और उपविभागों के लिए मौर्यकाल में किस शब्द का प्रयोग होता था, यह ज्ञात नहीं है किन्तु प्रतीत होता है कि जिले का शासक राजा द्वारा नियुक्त न होकर प्रान्त के अधिपति द्वारा नियुक्त किया जाता था। काशी के सारनाथ से प्राप्त शिलालेख से इस विवरण की पुष्टि हो जाती है।

सारनाथ स्तम्भ लेख[९८] अशोक का राजकीय प्रज्ञापन है, जिस पर अशोक का राजकीय घोषणा अंकित है। अभिलेख में अशोक के लिए **'देवानपियं'** (देवताओं का प्रिय अथवा देखने में सुन्दर) तथा **'राजा'** आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। सारनाथ लघु स्तम्भ लेख में अशोक अपने महामात्रों को संघभेद रोकने का आदेश देता है। यहीं बात साँची, कौशाम्बी के स्तम्भ लेखों से भी ज्ञात होती है।

मौर्यकाल में **'महामात्र'** एक प्रशासनिक अधिकारी था, जिसकी पुष्टि सारनाथ अभिलेख से होती है। ये महामात्र कौन थे? यह प्रश्न स्वाभाविक है। अभिलेखों से यह विदित होता है कि इन महामात्रों की कई कोटियाँ थी। कुछ महामात्र प्रशासन के उच्च पदों से सम्बन्धित थे और कुछ विभिन्न विभागों के अधिकारी थे, जैसे सारनाथ एवं कौशाम्बी के महामात्र। डॉ0 हरपद चक्रवर्ती के अनुसार 'अपने प्रतिनिधि के रूप में नए अधिकारियों में धर्म महामात्रों की नियुक्ति की गई थी।' स्मिथ ने इसका अनुवाद सेंसर्स (नियन्त्रक) से किया है। अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि इन महामात्रों के निम्न कार्य थे- 1. धार्मिक सम्प्रदायों की अभिवृद्धि और संरक्षण 2. राज्य-परिवार के कर्त्तव्य, उनके द्वारा प्रदत्त दान, धार्मिक सहायता के लिए प्रेरणा देना तथा उनमें धर्म की भावना की स्थापना, यह देखना कि प्रशासन के लोग अपने पद का दुरुपयोग न करें।

मौर्यकालीन प्रशासनिक-व्यवस्था के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि मौर्य कालीन अफसर अपने कार्य संपादन के लिए यात्रा करते थे, जिसकी पुष्टि **अहरौरा लघु शिलालेख**[99] से होती है। अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट अशोक ने स्थानीय महामात्रों को अपने क्षेत्राधिकार के अंत तक यात्रा करने का आदेश दिया।[100] दौरे पर गये हुए महामात्रों या अफसरों से यह आशा की जाती थी कि वे उपोसथ, अर्थात् उपवास के दिन, बारी-बारी जिला मुख्यालय पर लौट जाए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मौर्यकालीन काशी की प्रशासनिक व्यवस्था महामात्रों एवं राज्य के प्रान्तपति के अनुसार नियंत्रित होता था। किन्तु उनका शासन सीधा सम्राट के अधीन था।

2. मौर्योत्तरकालीन काशी की प्रशासनिक व्यवस्था-

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तर भारत की राजनीतिक एकता के विघटन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई वह दो सौ वर्षों से अधिक समय तक विद्यमान रही। अंततः कुषाण शासकों ने उस एकता को पुनः प्रतिष्ठित करते हुए एक सदी से अधिक समय तक बनाये

रखा। मौर्यों के शासन तन्त्र की जो विशेषता थी, वह कुषाणों के राजनीतिक संगठन में सहायक हुई। कुषाणकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के अध्ययन के प्रमुख स्त्रोतों में अभिलेख, सिक्कें एवं साहित्य महत्त्वपूर्ण हैं। मौर्य एवं कुषाण शासकों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि कुषाणों ने बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण उपाधियाँ धारण की। कालान्तर में जब कुषाणों का प्रभुत्त्व बढ़ा तब उनके उत्तराधिकारी महाराज और राजाधिराज जैसी उपाधियाँ धारण करने लगे। बड़ी-बड़ी उपाधियाँ जैसाकि कुछ विद्वानों का विचार है- 'यह राजसत्ता के उत्कर्ष की नहीं, वरन् विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति की द्योतक हैं।' निःसंदेह, अशोक का साम्राज्य कुषाणों से विस्तृत था एवं उसकी सत्ता भी उनसे बहुत अधिक सुदृढ़ थी, फिर भी वह राजा की उपाधि से ही संतुष्ट रहा। कुषाण शासकों के इन उपाधियों से छोटे-छोटे राजाओं एवं सरदारों के अस्तित्व का संकेत प्राप्त होता है, जिसकी हैसियत सर्वोच्च सत्ताधारी राजा के सामंतों की थी।

कनिष्क प्रथम के शासनकाल के तीसरे वर्ष (81 ई0) के सारनाथ बोधिसत्त्व प्रतिमा लेख[101] में क्षत्रप वनस्फर एवं महाक्षत्रप खरपल्लाण नामक दो अधिकारियों का उल्लेख हुआ है, जो कनिष्क के साम्राज्य के पूर्वी प्रांत अर्थात् वाराणसी के आस-पास के क्षेत्रों में शासन करते थे। स्पष्ट प्रतीत होता है कि कनिष्क के काल में काशी की प्रशासनिक व्यवस्था की देख रेख इन्हीं अधिकारियों के द्वारा होती थी।

क्षत्रपों के कार्यों के विषय में अभिलेखों से पूरी तरह सूचना नहीं प्राप्त होती। व्यक्ति के रूप में वे बुद्ध की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करते थे, या क्षत्रप वैश्पसि की तरह बुद्ध के बहुत से स्मारक स्थापित करते थे।

3. गुप्तकालीन काशी की प्रशासनिक व्यवस्था-

गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। मौर्य शासकों के विपरीत गुप्तवंशीय शासक दैवीय उत्पत्ति में विश्वास करते हुए महाराजाधिराज, परमभट्टारक, एकराट,

परमेश्वर जैसी विस्तृत उपाधियों को धारण करते थे, जिसकी पुष्टि अभिलेखों से होती है। प्रशासन का मुख्य स्रोत सम्राट था, जिसके अधिकार और शक्तियाँ असीमित थी। स्कन्दगुप्त के **भीतरी स्तम्भ लेख**[102] से यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त सभी राजाओं का उन्मूलक, पृथ्वी पर अप्रतिरथ (जिसके समान पृथ्वी पर अन्य कोई न हो); चारों समुद्र के जल से आस्वादित कीर्ति वाले, कुबेर (धनद), वरुण, इन्द्र तथा यम (अन्तक) के समान, कृतान्त के परशु तुल्य अश्वमेध यज्ञकर्त्ता था। स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों के युद्ध के समय स्वयं सेनापति का कार्य संभाला था।[103] सम्राट के द्वारा ही प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी और वे सभी पदाधिकारी सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। सम्राट अपने शासन कार्य में अमात्यों, मंत्रियों एवं अधिकारियों से सहायता प्राप्त करता था। सामान्य रूप से राजा का पुत्र (ज्येष्ठ) ही उत्तराधिकारी नियुक्त किया जाता था, किन्तु यदा-कदा दूसरे योग्य राजकुमारों को भी इस पद हेतु चुना जाता था। इस प्रकार के उद्धरणों में समुद्रगुप्त एवं स्कन्दगुप्त को लिया जा सकता है। अपने पिता के जीवनकाल में ही युवराज प्रशासनिक कार्यों में उसकी सहायता करता था। इस प्रकार के उदाहरण में स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख[104] को लिया जा सकता है, जिसमें यह उल्लेख है कि- स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के प्रशासनिक कार्यों में सहायता की थी। गुप्तकाल में युवराज की अधीनता में एक पृथक सैनिक विभाग हुआ करता था। सम्राट के वयोवृद्ध होने के उपरान्त प्रशासनिक कार्यों का समस्त उत्तरदायित्व युवराज पर ही था। स्कन्दगुप्त ने अपने पिता (कुमारगुप्त) के काल में सैनिक अभियानों में प्रमुख रूप से भाग लिया था।[105]

नगरों के शासन के लिए 'पुरपाल' नामक कर्मचारी नियुक्त किया जाता था। इसकी स्थिति 'कुमारामात्य' जैसी थी। पुरपाल केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नियुक्त किए जाते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासनकार्य में परामर्श देते थे। गुप्तकाल में भी पुरों की निगम-संस्थाएँ विद्यमान थीं, और इनके कारण जनता अपने बहुत से मामलों की व्यवस्था स्वयं

ही किया करती थी। संभवतः काशी में भी 'पुरपाल' नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की गई हो जो वहाँ का प्रशासन चलाता हो।

4. गुप्तोत्तरकालीन काशी की प्रशासनिक व्यवस्था-

गुप्तों के पश्चात् उत्तर-भारत में यदि किसी स्थायी राजवंश का शासन हुआ तो वह था वर्धन वंश का। हर्ष को **'सकलोत्तरपथनाथ'**[106] सम्बोधित किया गया है। एक महान विजेता होने के साथ ही हर्ष एक कुशल प्रशासक भी था। उसके शासनकाल में काशी सम्मिलित थी। ह्वेनसांग के यात्रा विवरण से ही हमें हर्ष के शासनकाल के विषय में सूचना प्राप्त होती है। हर्ष ने किसी नवीन शासन-प्रणाली को जन्म नहीं दिया, अपितु उसने गुप्त शासन प्रणाली को ही कुछ संशोधन एवं परिवर्तनों के साथ अपना लिया। इसके समय प्रशासनिक व्यवस्था मृदु सिद्धान्तों पर आधारित थी।

ह्वेनसांग काशी (वाराणसी) के विषय में बताते हुए कहता है कि यह जिला 4000 ली (800 मील) के गिर्द में था। गंगा तक इसका पश्चिमी किनारा पहुँचता था। शहर 11 ली. (3-3/5 मील) लम्बा और 6 ली. (1¼ मील) चौड़ा था। शहर के मुहल्ले सटे हुए थे। वाराणसी की आबादी घनी थी, लोग धनवान थे जिसके कारण उनके गृह बहुमूल्य वस्तुओं से सुशोभित होते थे। इस प्रकार के विवरण से यह ज्ञात होता है कि काशी में प्रशासनिक व्यवस्था सुदृढ़ थी। हॉलाकि काशी से हर्षयुगीन कोई अभिलेख नहीं मिलता किन्तु हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत काशी का प्रशासन अत्यन्त सुचारु रूप से किसी 'विषयपति'[107] अथवा 'पुरपाल' के अधीन चलता रहा होगा। सांतवी शताब्दी ई0 में काशी पर प्रकटादित्य का शासन हुआ, जिसकी पुष्टि **'प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख'**[108] से होती है। इस लेख में प्रकटादित्य को काशी का स्थानीय शासक कहा गया है।

पूर्व मध्ययुगीन काशी की प्रशासनिक व्यवस्था-

सांतवी शताब्दी ई0 के पश्चात् काशी पर पालवंशीय शासकों का शासन हुआ। धर्मपाल के पश्चात् काशी में यदि कोई महत्त्वपूर्ण शासक हुआ, तो वह था- महीपाल। महीपाल के शासनकाल में काशी का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से पुनर्रुत्थान हुआ। अपने शासनकाल में काशी के मंदिरों, स्थापत्य आदि का निर्माण कराने हेतु महीपाल ने स्थिरपाल एवं बसन्तपाल नामक अपने भाईयों को लगाया।[109] संभवतः काशी की प्रशासनिक व्यवस्था इन्हीं के अधीन रही हो, ऐसा अनुमानित किया जा सकता है। यह लेख सारनाथ से (1026 ई0) प्राप्त है।[110] सम्राट का सीधा प्रशासनिक नियंत्रण वाराणसी पर था।

पाल वंश के पश्चात् कलचुरि वंश का शासन काशी पर हुआ। काशी का सांस्कृतिक उन्नयन कर्ण के शासन काल में हुआ। कलचुरि राजवंश का सबसे बड़ा शासक गांगेयदेव विक्रमादित्य का पुत्र और उत्तराधिकारी कर्ण अथवा लक्ष्मीकर्ण (लगभग 1041-1072 ई0) हुआ। **सारनाथ से प्राप्त अभिलेख**[111] (810 क0सं0) में उसे 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर के अतिरिक्त त्रिकलिंगाधिपति और निजभुजोपार्जितअश्वपतिनरपति गजपतिराजत्रियाधिपति' के विरूद प्रदान किए गये हैं।

कर्ण अपने सांस्कृतिक कार्यों के लिए भी अनुश्रुत है। वाराणसी के **कर्णमेरू** नामक शिवमंदिर, प्रयाग में गंगा के किनारे **कर्णतीर्थ** नामक घाट और **कर्णावती** नामक नगर का निर्माण उसके द्वारा करवाया गया। साथ ही, उसके समय सारनाथ के बौद्ध विहारों में बौद्धों को अन्य धर्मावलम्बियों के समान ही सुविधाएँ प्राप्त थीं और उन्हें अपने साहित्य की रक्षा और विकास का पूरा अवसर प्राप्त था। उसके प्रिय नगर वाराणसी एवं प्रयाग थे, जहाँ वह प्रायः धार्मिक कार्यों का सम्पादन और अपने पिता के श्राद्ध आदि कर्म किया करता था तथा ब्राह्मणों को दान देता था।

कर्ण के बनारस पीतल पत्र[112] (क0सं0 793) से ज्ञात होता है कि उसका साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभाजित था। दानपत्र में उल्लेख है कि कर्ण ने 'विश्वपुत्र' नामक ब्राह्मण को काशी के एक ग्राम 'सुरसी' को दान में दिया था। ग्राम का शासन संचालन तो पहले की तरह 'ग्रामिक' ही करता था। किन्तु दान में दी गई भूमि का स्वामी स्वयं दान प्राप्तकर्त्ता ही होता था। केन्द्रीय शासन के द्वारा ही ग्राम प्रधान की नियुक्ति होती थी एवं उसके कार्यों पर नियंत्रण रखा जाता था।

कलचुरियों के पश्चात् काशी का प्रशासन सीधा गाहडवालों के अधीन हुआ। गाहडवाल शासकों की सांस्कृतिक राजधानी काशी के शासन-व्यवस्था की सूचना हमें अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों से होती है। गाहडवाल शासकों की शासन-व्यवस्था संघात्मक न होकर **राजतन्त्रात्मक** थी।[113] इनका राज्य विषय (जिला), पत्तलाओं (परगना) तथा ग्रामों में विभाजित था। राज्य की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। सम्पूर्ण राज्य का संचालन केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन-व्यवस्था द्वारा होता था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त किए गए थे। राजा का स्थान केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सर्वोच्च था और उसकी आज्ञा का पालन सभी के लिए अनिवार्य थी। प्रशासन सम्बन्धी अनेक प्रकार के कार्य राजा अपने अधिकारीगण यथा; युवराज, मंत्री, अमात्य, पुरोहित, सेनापति तथा भाण्डागारिक की सहायता से करता था। गाहडवाल अभिलेखों में राजा को विभिन्न उपाधियों से सम्बोधित किया जाता था, जैसे-परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, त्रियाधिपति, विद्याविचार वाचस्पति, क्षितिपाल, नरपति, गजपति, त्रिशंकुपति, आदि। इन उपाधियों से उसकी शक्ति एवं सम्प्रभुता का पता चलता है।

युवराज का पद राजा के पश्चात् महत्त्वपूर्ण था। किसी विशेष कारणवश अपने जीवन काल में ही राजा राजकार्य से विरक्ति प्राप्त कर शासन का भार युवराज को सौंप देता था। जैसे मदनपाल ने युवराज का पद गोविन्दचन्द्र को और गोविन्दचन्द्र ने विजयचन्द्र को राज्य

का उत्तराधिकारी नियुक्त किया।[114] प्रशासनिक कार्यों में रानियों की भी सहभागिता होती थी। **कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख**[115] में युवराज के साथ रानी का भी नाम आया है। अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है कि गोविन्द्रचन्द्र की रानी कुमारदेवी के अतिरिक्त नयनकेलिदेवी एवं गोसल्लदेवी ने तीन बार करमुक्त ग्रामों का दान राजा की आज्ञा से किया था।[116] इनसे स्वयं के भण्डागार (कोष) भी होते थे, जिसकी पुष्टि अभिलेखों से होती है। **हरिश्चन्द्र के मछली शहर ताम्रपत्र लेख** [117]में 'महारानी समन्दरी' की चर्चा है, जो प्रशासनिक कार्यों में सहयोग करती थी।

महामात्यः शब्द का उल्लेख गाहडवालकालीन अभिलेखों में मंत्रिमण्डल के अस्तित्व की सूचना देता है। इस विषय में **लक्ष्मीधर**[118] का विचार है कि राजा को मंत्रियों की गतिविधियों की पूरी जानकारी रखनी चाहिए। मंत्रिमण्डल का उल्लेख चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र [119]में हुआ है। लक्ष्मीधर[120] का विचार है कि अच्छी मंत्रणा पर ही राजा की सफलता निर्भर होती है। लक्ष्मीधर स्वयं गोविन्दचन्द्र का प्रधानमंत्री (मंत्रीश्वर) था।[121] यह अधिकारी शांति तथा संधि से सम्बन्धित कार्यों में राजा को कूटनीतिक एवं सामयिक परामर्श देता था, जिसे 'संधिविग्रहिक' नाम से सम्बोधित किया जाता था। चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र लेख[122] से यह ज्ञात होता है कि गाहडवाल काल में इनके दो वर्ग हो चुके थे- पुरोहित एवं महापुरोहित। गोविन्दचन्द्र के वि.सं. 1182 के कमौली अभिलेख[123] में महापुरोहित जागूशर्मन को दान दिए जाने का विवरण मिलता है। पुरोहित का कार्य राजा की कुशलता हेतु वेद, यज्ञ, पाठ आदि था। इन्हीं के द्वारा राजकुमारों का राज्याभिषेक सम्पन्न किया जाता था। इन पुरोहितों का पद सामन्त की तरह ही था, क्योंकि सामन्तों को मिलने वाली अनेक सुविधाएँ इन्हें भी प्राप्त थे।

'भाण्डागारिक' नामक अधिकारी संभवतः कोष से सम्बन्धित था। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र[124] में इनका उल्लेख हुआ है। कौटिल्य ने इसे 'समाहर्त्ता'[125] एवं शुक्र

ने 'सुमंत'[126] सम्बोधित किया है। भाण्डागारिक का प्रमुख कार्य एक वर्ष में राजकीय कोष में कितना धन आया, कितना निकाला गया तथा कितना शेष बचा, इन सभी का लेखा-जोखा आदि का विवरण रखना था।

गाहडवाल अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि सरकारी लेखों के प्रधान निरीक्षक को 'अक्षपटलिक' या 'महाक्षपटलिक'[127] कहा गया है। यदा-कदा महाक्षपटलिक भी ताम्रपत्र अंकित करता था, जिसका उल्लेख जयचन्द्र के कमौली अभिलेख[128] (वि.सं0 1231) में हुआ है। इस अभिलेख में ठक्कुर विवेक अक्षपटलिक के द्वारा अनुदान अंकित किए जाने का विवरण है। 'प्रतिहार'[129] राज दरबार का प्रधान रक्षक होता था, इसका उल्लेख गाहडवाल अभिलेखों में हुआ है। लक्ष्मीधर[130] कहते हैं कि राजा को प्रतिहार के पद पर उन्नत, दक्ष, मृदुभाषी व्यक्ति को ही नियुक्त करना चाहिए।

गाहडवाल अभिलेखों में 'भिषक'[131] का उल्लेख हुआ है, इससे तात्पर्य वैद्य से है। लक्ष्मीधर ने इसे 'प्राणाचार्य'[132] सम्बोधित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा का व्यक्तिगत चिकित्सक होने के साथ-साथ वह स्वास्थ्य विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। गोविन्दचन्द्र के समय प्रधान वैद्य खोणशर्मन् थे।[133]

'गोकुलिक'[134] शब्द पशुओं या चारागाहों के प्रधान के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'गोकुलिक' शब्द चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र[135] में व्यवहृत हुआ है।

पुलिस विभाग के लिए 'स्थान'[136] शब्द अभिलेखों में प्रयुक्त किया गया है। अल्तेकर[137] कहते है कि इसका प्रमुख कार्य यह देखना था कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय-व्यवस्था ठीक रहे और राजद्रोहियों को तुरंत दण्ड मिले। खानों के अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष'[138] कहा गया। खानों पर राजा का सम्पूर्ण अधिकार था, इसे राज्य की सम्पत्ति माना जाता था। इसके लिए एक विभाग भी था, जिसमें कि 'भूगर्भशास्त्री' (जियोलॉजिस्ट) रखे जाते थे, जो कि खान आदि का पता लगाते थे।[139] 'पत्तनाधिकार पुरुष'[140] की नियुक्ति

केन्द्रीय सरकार के द्वारा होती थी। यह नगर का प्रधान अधिकारी होता था। इन्ही के ऊपर नगर का प्रशासन होता था। 'तुरगाधिकार पुरुष'[141] अस्तबल का प्रधान अधिकारी होता था। 'धुरोधिकारी'[142] नामक अधिकारी की सूचना गाहडवाल अभिलेखों में दुर्ग के अध्यक्ष हेतु प्रयुक्त हुआ है। राज्य की ओर से दुर्गों की रक्षा एवं निरीक्षण हेतु यह नियुक्त किया गया था। 'विषयाधिपति' जिले का प्रमुख प्रशासन अधिकारी था। इसके नाम का उल्लेख चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र[143] में हुआ है। इसका प्रमुख कार्य जिले की देखभाल एवं निरीक्षण करना था।

राज्य के सप्तांग सिद्धान्तों में भी 'सेनापति'[144] का स्थान महत्त्वपूर्ण था। गाहडवाल अभिलेखों में सेनापति शब्द कई बार प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र के अनुसार सेनापति को सेना के चारों अंगों के प्रत्येक कार्यों में निपुण होना चाहिए।[145] युद्ध में उसका कार्य अपनी सेना पर नियंत्रण रखने के साथ ही शत्रु की सेना को भी नियंत्रित करना था।

'दूत' केन्द्रीय प्रशासन का अभिन्न अंग था। अनेक गाहडवाल अभिलेखों में 'दूत' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[146] कौटिल्य ने राजा का गुप्त सलाहकार 'दूत' को ही माना है। लक्ष्मीधर[147] ने दूत के लिए कुशल, बुद्धिमान, प्रतिभाशाली तथा वाक्पटु होना अनिवार्य माना है।

गाहडवाल राज्य की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि राज्य प्रान्तों में विभाजित न होकर विषयों (जिलों) में और विषय परगने (पत्तला) में विभक्त था। गाहडवाल अभिलेखों में काशी के निम्न परगनों के नाम ज्ञात होते हैं -

कटेहली-आधुनिक कटेहर परगने से इसकी पहचान की जाती है।[148] (यह बनारस-तहसील के उत्तर-पूर्व में स्थित है।) अभिलेखों में इसकी सीमा कोल्लक-नंदिवार, गोमती, भागीरथी एवं वरुणा नदी तक निर्धारित की गई हैं। कोल्लक- (इससे तात्पर्य बनारस के उत्तर-पश्चिम कोल असला से है।) इसकी प्राचीन सीमाओं का विवरण ज्ञात नहीं है। चंदौली

तहसील का यह ठेठ उत्तरी परगना प्रतीत होता है, जिसके पश्चिम एवं उत्तर में गंगा नदी है। वृहड्टहेवंकाण, वंकाणई, वृहड्टदेवरठ पत्तला, काटी, वृहड्गृहेवरठपत्तला, उधंटेर-होतरपत्तला, कोठोतकोटिआवर, नेउलसताविसिका, कच्छोह, आदि पत्तलाओं के विषय में पूर्णरूपेण सूचना ज्ञात नहीं है। जंबुकी पत्तला (इसकी पहचान जमुई से की जा सकती है; इसी पत्तला में सारनाथ स्थित था। कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख[149] से यह ज्ञात होता है कि जमुई के लोगों ने कुमारदेवी को धर्मचक्रजिन विहार की मरम्मत के लिए आवेदन किया था और उसे स्वीकार करके कुमारदेवी ने इसकी मरम्मत करवाई थी। अन्य पत्तलाओं में जियावई पत्तला, उनवीस पत्तला, वजयनिहाच्छा साठ पत्तला का नाम प्रमुख है; परन्तु अभी तक कुछ पत्तलाओं की पहचान नहीं हो पाई है।

शासन की सबसे सूक्ष्म इकाई ग्राम थी। राज्य विषयों (जिले) में एवं विषय पत्तला (परगना) में तथा पत्तला ग्रामों में विभाजित था। हरिश्चन्द्र के मछलीशहर ताम्रपत्र[150] से यह विदित होता है कि ग्राम कई भागों में विभाजित था, जिसे 'पाटक' सम्बोधित किया जाता था। कम आबादी ग्राम वाले क्षेत्रों को गाहडवालकालीन दानपत्रों में 'पुरवा'[151] कहा गया। बड़े गाँव हेतु 'बाजा'[152] शब्द प्रयुक्त किया जाता था। चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र[153] में विविध ग्रामों का उल्लेख हुआ है- भंडदह, उडेलडी, पाणिहलो, खजुरी, तलभाग, भाई, लघुवडवीडी, मलेडी, दुड़ा, उन्धरौहा, भागम-ग्रामाद, चठथरा, सोणक, अधिव, कुण्डाम, द्विजग्राम, द्वादशक तलहुति, विकरग्राम, वडपला, दीवाकक्ष, चिलाड आदि। महत्तक[154] शब्द ग्राम के मुखिया के लिए प्रयुक्त किया जाता था। ग्राम की रक्षा करना मुखिया का प्रथम कर्त्तव्य था।

न्याय-व्यवस्था प्रणाली गाहडवालों के शासनकाल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य-प्रणाली थी। मनु कहते है कि-[155] हिन्दू शासक स्वयं प्रजा के न्याय की व्यवस्था करते थे।

प्रातःकालीन न्यायालय में बैठकर अभियोग सुनते हुए प्रतिदिन न्याय किया जाता था। अंतिम निर्णय राजा का ही होता था।

समाज में प्रचलित कुछ अपराधों एवं इन अपराधों के लिए दण्ड के विधान के विषय में 'गाहडवालकालीन लाहडपुरा अभिलेख'[156] से सूचना प्राप्त होती है। अभिलेख से ज्ञात होता है कि[157] लाहडपुरा तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में डकैतों का एक समूह सक्रिय था। इन डकैतों के लिए **'लुन्टा'**[158] शब्द प्रयुक्त हुआ है। **'परिवादा'**[159] शब्द कुख्यात अपराधी के लिए अभिलेख में प्रयुक्त हुआ है। इसी अभिलेख में अपराध के लिए **'द्रोह'**[160] शब्द मिलता है। अभिलेख में यह उल्लेख है कि पशुओं की चोरी एक प्रमुख अपराध है।[161] गाय की चोरी इस काल में प्रमुख अपराध माना गया।

अपराधी व्यक्ति को अपमानित करते हुए उसे यातनाएँ दी जाती थी। कभी-कभी उसे मार भी दिया जाता था। लाहडपुरा ग्राम में 'द्विज'[162] (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एक निश्चित तिथि को एकत्रित होते थे। इस प्रकार अपराधी को प्रेरित करने वाले को गाँव या नगर से निष्कासित कर दिया जाता था। किन्तु उसके सलाहकार को गाँव में रहने की अनुमति दे दी जाती थी, और कोई उसे बातचीत नहीं कर सकता था। अपराधी की सामाजिक एवं जातीय स्थिति के आधार पर दण्ड देने का विधान लक्ष्मीधर ने[163] भी स्वीकार किया है। लक्ष्मीधर[164] ने यह भी बताया है कि गाहडवाल राजाओं का न्याय और दंड प्राचीन सिद्धान्तों के अनुरूप ही था। गाहडवालकालीन लाहडपुरा अभिलेख से एक और बात ज्ञात होती है कि प्रारम्भिक मध्यकाल में यह समझा जाता था कि कुछ बड़े अपराधों (जैसे हत्या, आदि) के लिए दण्ड का निर्णय राजा स्वयं अथवा अपने निर्णायक मंडल द्वारा करता था। किन्तु लाहडपुरा अभिलेख में यह उल्लेख है कि इस प्रकार के अपराध हेतु निर्णय का अधिकार वहाँ की स्थानीय जनता ने 'प्रमुख' को दे दिया था। जिसमें प्रायः विद्वान् ब्राह्मण हुआ करते थे। लाहडपुरा के ब्राह्मणों का मानना था कि लोग इस अपराध (चोरी, डकैती, हत्या) को तब तक नहीं छोड़ेंगे जब तक कोई ऐसा कानून न बन जाये जो उनके लिए कष्टकारी हो।

इसी कारण ग्रामवासियों को यह शक्तियाँ प्रदान की गई कि वे लुटेरों या पशु चुराने वालों को जान से मार दे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काशी का प्रशासन राजतंत्रात्मक प्रणाली से संचालित होता था। राजा प्रमुख होता था एवं उसकी सहायता करने हेतु विभिन्न अधिकारी गण नियुक्त किए गए थे। काशी सभी शासकों के साम्राज्य का अभिन्न अंग रही है, अतः प्रशासन का सम्पूर्ण भार केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत ही संचालित होता था।

संदर्भ ग्रन्थ-

1 *शतपथ ब्राह्मण*- 1/4/1/10-17.
2 हैवेल, ई.बी. 1905. बेनारस दि सैक्रेड सिटी, लन्दन, पृ0सं0 141.
3 *जातक* - 2/403.
4 *संयुक्त निकाय*- 1, पृ0सं0 85.
5 *दीर्घनिकाय*- 1/228-9.
6 हुल्श, ई.1925, *कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम्*, भाग- प्रथम, पृ0सं0- XXI.
7 मोतीचन्द्र, 2010, *काशी का इतिहास,* पृ0सं0-43
8 पाण्डेय, राजबली, *अशोक के अभिलेख,* संवत् 2020, पृ0सं0- 14.
9 मोतीचन्द्र, 2010, *काशी का इतिहास*, पृ0सं0 44.
10 वही, पृ0सं0 45.
11 वही, पृ0सं0 46.
12 अग्रवाल, वासुदेव शरण, 1984, *वाराणसी सील्स एण्ड सीलिंग्स*, एवं मोतीचन्द्र, पृ0-47
13 मोतीचन्द्र, वही, पृ0सं0 53.
14 एपि. इण्डि. 8/171.
15 ए0एस0आर0, 10, 4.
16 जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी, 4, पृ0- 14.
17 एपि. इण्डि. खण्ड- 8/176.
18 एपि. इण्डि. खण्ड- 8/176.
19 संस्कृति साधना, न्र्दत.ेंघ्, पृ0सं0- 258-260.
20 एपि. इण्डि. खण्ड- 9, पृ0सं0 291, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
21 गोयल, श्रीराम, 2005,द *इम्पीरियल गुप्ताज,* जोधपुर, पृ0- 66 तथा आगे।
22 फ्लीट, जे0 एफ., अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, *भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3,* पृ0सं0- 66.
23 वहीं।
24 गुप्त, परमेश्वरी लाल, 1983, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख (गुप्तकाल 319 ई0 543 ई0),* पृ0सं0 44-47.
25 वही, पृ0-157-173.
26 वही, पृ0- 176-177.
27 फ्लीट, जे0एफ0, अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, *भारतीय अभिलेख संग्रह,* भाग-3, पृ0सं0- 286.
28 वाटर्स, युवान च्वाङ्; भाग-2, पृ0- 46-47.

29 मोतीचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0सं0- 99.
30 वाटर्स, युवान च्वांग, भाग-2, पृ0सं0 47.
31 फ्लीट, जे0एफ0, अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, *भारतीय अभिलेख संग्रह खण्ड-3*, पृ0सं0- 367-369.
32 वही, पृ0सं0 311.
33 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास*, पृ0सं0- 103.
34 एपि. इण्डि.- 18/225.
35 एपि. इण्डि.- 7/89.
36 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 14, पृ0- 139-140, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
37 त्रिपाठी, आर0एस0, 1937,*हिस्ट्री ऑफ कन्नौज*, पृ0- 197-198, बनारस.
38 मोतीचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0सं- 103.
39 ईलियट और डाउसन, भाग-2, पृ0सं0 123-24.
40 का.इ.इ., खण्ड- 4 पृ0- 236, एवं पृ0सं0 275, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
41 एपि. इण्डि. खण्ड- 2/11.
42 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास*, पृ0- 112.
43 इंडियन एण्टीक्वेरी, भाग- 18, पृ0-16/18, पृ0-4.
44 विल्सन, *विष्णु पुराण*, पृ0 196.
45 मित्तल, ए.के., *भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भाग-2*, पृ0- 580.
46 पाण्डेय, राजबली, *गोरखपुर जनपद व उसके क्षत्रिय जातियों का इतिहास*, पृ0- 217-218.
47 पाठक, विशुद्धानन्द, *उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास*, पृ0- 345.
48 त्रिपाठी, आर.एस., *हिस्ट्री ऑफ कन्नौज*, पृ0- 297-298.
49 चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र अभिलेख, वि0सं0 1150 एवं 1156.
50 कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, एपि.इण्डि. खण्ड-9, पृ0सं0 324-327.
51 इण्डियन एण्टीक्वेरी, 18/11, पृ0सं0 1.
52 एपि. इण्डि. खण्ड- 9/324.
53 इण्डियन एण्टीक्वेरी, 18/58, पृ0सं0- 102.
54 इलियट एण्ड डाउसन, *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खण्ड- 2*, पृ0सं0- 250.
55 मोतीचन्द्र, पृ0सं0- 114.
56 चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1148, एपि.इण्डि. खण्ड-9, पृ0सं0- 302-305, स्टेनकोनोव द्वारा प्रकाशित।
57 वही।
58 वही।

59 चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1156, इपि.इण्डि. खण्ड-14, पृ0सं0- 197-209, दयाराम साहनी द्वारा प्रकाशित।
60 डी.सी. सरकार, चन्द्रदेव एवं मदनपाल का ताम्रपत्र अभिलेख, वि.सं. 1154, इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0 9-14.
61 वही।
62 कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड-9, पृ0सं0 319-328.
63 मोतीचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0-115.
64 इण्डियन एण्टीक्वेरी, 18/16, पृ0सं0 8-10.
65 रेवर्टी, *तबकात-ए-नसीरी,* भाग-1, पृ0- 101.
66 इलियट एण्ड डाउसन, वही, खण्ड-4, पृ0सं0 525-527.
67 सरकार, डी.सी., गोविन्दचन्द्र का बसही ताम्रपत्र अभिलेख वि.सं. 1104, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, भाग-2*, पृ0सं0 279-281.
68 इण्डियन एण्टिक्वेरी, खण्ड-18, पृ0सं0- 14-19.
69 नियोगी, रोमा, 1959, *हिस्ट्री ऑफ गाहडवाल डायनेस्टी,* कलकत्ता, पृ0- 59.
70 मजूमदार, आर.सी. *स्ट्रगल फॉर इम्पायर; हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल्स, भाग-5*, पृ0सं0 52.
71 कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, एपि.इण्डि, खण्ड-9, पृ0- 319-28.
72 एपि.इण्डि. खण्ड-4, पृ0सं0- 101-103.
73 एपि.इण्डि. खण्ड-9, पृ0सं0- 319-324.
74 सकिल सकलदृप्तक्षत्रन क्षत्रलक्ष्मी हरणकिरण माली कस्य न स्यानमस्य असमसमरसम्पल्लम्पट : शौर्य भाजमर्वाधावधि युद्धे येन हम्मीर वीरः।। *कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारी काण्ड,* पृ0- 2, श्लोक-7.
75 इलियट एवं डाउसन, भाग-7, पृ0सं0- 251.
76 जे.ए.एस.बी., 56, भाग-1, पृ0सं0- 113.
77 इण्डि. एण्टि. भाग-18, पृ0सं0 16-18.
78 जे.बी. ओर.आर.एस., 1916, पृ0सं0- 441-447.
79 *कृत्यकल्पतरु,* पृ0सं0- 48-49, श्लोक-17.
80 एपि.इण्डि., 1/35,38, श्लोक- 21.
81 जे.ए.एस.बी., 31 पृ0सं0 124.
82 एपि.इण्डि., 1/201-26, श्लोक-38.
83 *श्रीकंठ चरित,* 25/102.
84 *प्रबन्धचिन्तामणि,* जिनविजय द्वारा संपादित, 111, 121, पृ0सं0- 74.
85 मजूमदार, एम.आर, *माधवालाख्यायन प्रबन्ध,* पृ0सं0- 341, बड़ौदा 1941.

86 कृत्यकल्पतरु, दंडखण्ड, पृ0सं0 9-15.
87 भट्ट दामोदर, *उक्तिव्यक्तिप्रकरण,* पृ0सं0- 25, बम्बई, 1953.
88 आर.एस. त्रिपाठी, उल्लिखित, पृ0सं0- 318.
89 *प्राचीन प्रबंध संग्रह,* पृ0सं0- 90, कलकत्ता, 1936.
90 एपि. इण्डि., खण्ड- 4/118-19.
91 एपि. इण्डि., खण्ड- 4/120-21.
92 उल्लिखित, *काशी का इतिहास,* पृ0- 121.
93 प्राचीन प्रबन्ध संग्रह, पृ0सं0- 88.
94 पं0 हीरानन्द, मछली शहर कॉपर प्लेट ऑफ हरिश्चन्द्र देव ऑफ कन्नौज, वि0सं0 1253, एपि. इण्डि. खण्ड-10, पृ0सं0- 93-100.
95 जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (1911), पृ0सं0- 763-65.
96 वही।
97 *अर्थशास्त्र,* 1, 13.
98 का0इ0इ0, खण्ड-1, पृ0-116, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
99 *भारती,* अंक-5, पृ0- 135, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
100 वही।
101 एपि0इण्डि0 खण्ड-8, पृ0 171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।
102 जे0एफ0 फ्लीट (अनुवादक- गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र), *भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-3*, पृ0सं0- 66.
103 वही।
104 वही।
105 वही।
106 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0सं0- 81.
107 जे0एफ0 फ्लीट (अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र), *भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-3*, पृ0- 367-369.
108 वही।
109 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 14, पृ0-139-140, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
110 वही।
111 का0इ0इ0, खण्ड-4 पृ0-275, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
112 का0इ0इ0, खण्ड-4, पृ0-236, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
113 कश्यप, प्रशान्त, 2006, *गाहडवालों का इतिहास,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी पृ0- 46.
114 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-14, पृ0- 101-104.
115 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-9, पृ0-319-328.

116 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-101.
117 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-10, पृ0-93-100.
118 मजूमदार, बी0पी0, *सोशियो इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया,* पृ0-362.
119 चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र, वि0सं0 1150 व 1156, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 14, पृ0 192-209.
120 *कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड,* पृ0- 89 व 48.
121 *कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,* पृ0- 22 व 30.
122 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0 194.
123 डी0सी0 सरकार, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, भाग-2,* पृ0- 283-286.
124 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 14, पृ0-194.
125 *अर्थशास्त्र,* 2/35.
126 *शुक्रनीतिसार,* 2/71.
127 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.
128 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-124-126.
129 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.
130 *कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,* पृ0- 25.
131 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0-17.
132 *कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,* पृ0-28-30.
133 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-8, पृ0-153.
134 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.
135 वही।
136 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-319-328.
137 अल्टेकर, ए0एस0,1959, *प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति,* पृ0- 142.
138 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.
139 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 128.
140 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.
141 आर0एस0 त्रिपाठी, वही, पृ0- 342-43, मोतीचन्द्र, वही, पृ0-128.
142 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14 पृ0-194.
143 वही।
144 वही।
145 *अर्थशास्त्र,* पृ0-293.
146 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.
147 कृत्यकल्पतरु, राज्यधर्मकाण्ड, पृ0- 28-33.
148 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-194.

149 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-109-111.
150 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-5, पृ0-115-116.
151 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-104-106.
152 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-11, पृ0-20-26.
153 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-192-209.
154 बाम्बे गजेटियर, खण्ड-1, पृ0- 476-477. व 480-488.
155 मनु, 8/41.
156 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-32, पृ0-305-309.
157 वही।
158 वही।
159 वही।
160 वही।
161 वही।
162 वही।
163 *कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड,* पृ0- 778.
164 कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड- पृ0-91-99.

चतुर्थ अध्याय

काशी का सामाजिक जीवन

चतुर्थ अध्याय

काशी का सामाजिक-जीवन

किसी भी देश की सभ्यता एवं संस्कृति को समझने हेतु यह अनिवार्य है कि उससे सम्बन्धित सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाए। इस दृष्टि से काशी के इतिहास को अपने सर्वांगीण रूप में तथा सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक एवं प्रशासनिक इतिहास के साथ-साथ सामाजिक इतिहास का भी अध्ययन हो। मनुष्य ही उन समस्त उपादानों का केन्द्र-बिन्दु है, जहाँ से सभी उत्प्रेरक क्रियाओं का सूत्रपात होता है। सृष्टि के सर्जन से लेकर विसर्जन तक समस्त मानवीय क्रियाओं का कर्त्ता मनुष्य है।

सामाजिक इतिहास देश में रहने वाले लोगों के सर्वांगीण-जीवन का चित्रण करता है तथा समस्त जन-समुदाय के विभिन्न क्रियाकलापों; यथा- वर्णाश्रम व्यवस्था, जाति-प्रथा, पुरुषार्थ, संस्कार, विवाह, परिवार, स्त्रियों की दशा जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। ये सभी तत्त्व समाज के संचालन में सहायक प्रतीत होते हैं।

इन्हीं अवयवों को दृष्टि में रखकर प्राचीन काशी एवं उसकी राजधानी वाराणसी के सामाजिक इतिहास की एक झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास इस अध्याय में किया जा रहा है। प्राचीन काल में काशी आज से भिन्न किन्तु आधारभूत उपर्युक्त अवयवों के परिप्रेक्ष्य में कतिपय विकसित अवश्य थी, जिसकी अंशतः पुष्टि पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है। पुरातात्त्विक संदर्भ में प्रत्यक्ष सूचनाएँ ज्ञात नहीं होती, किन्त परोक्ष रूप से विचार करने पर तत्सम्बन्धी सामग्रियाँ विचार करने योग्य है। प्राचीन काशी के उत्खनन के माध्यम से राजघाट, सारनाथ, अकथा, प्रहलादपुर, तकियापार, बैराट एवं गाजीपुर के मसोनडीह के उत्खनन से पुरातात्त्विक अवशेष विभिन्न कालों में हुए परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है। जैन

एवं बौद्ध ग्रंथों तथा चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण से भी सामाजिक इतिहास पर कतिपय प्रकाश पड़ता है।

चूँकि मेरे शोध विषय से सम्बन्धित यह अध्याय ''काशी का सामाजिक-जीवन'' आभिलेखिक एवं साहित्यिक स्रोतों पर विशेष रुप से आधारित है; फलतः उपर्युक्त सामाजिक तत्त्वों के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु अभिलेख ही है। किसी विशेष कालावधि की सामाजिक संरचना की सूचना प्राप्त करने के लिए अभिलेखों से प्राप्त सूचना महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इनको लिखवाने वाले शासक वर्ग तथा जिसके लिए लिखवाई जाती थी, वे सभी तत्त्कालीन समाज के ही अंग होते थे।

विविध कालों में काशी के सामाजिक जीवन का विवरण निम्नवत् हैं :-

1. मौर्ययुगीन काशी की सामाजिक दशा-

समाज में व्यापक परिवर्तन मौर्यकाल के प्रारम्भिक चरण में विद्यमान हो चुका था। आचरण एवं अनुशासन की व्यवस्था उसी के अनुरूप की गई थी। मौर्यकालीन काशी जिसे 'पुष्पवती' एवं 'मोलिनी' नाम से सम्बोधित किया जाता था, मगध-साम्राज्य की प्रशासनिक इकाई मात्र थी, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस नगर का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस काल में समाज से सम्बन्धित अवयवों यथा; वर्ण-व्यवस्था, आश्रम, पुरुषार्थ, विवाह, संस्कार, पारिवारिक जीवन, स्त्रियों की दशा वैदिक परम्परा के अनुरुप ही विद्यमान थे। किंचित परिवर्तनों के साथ इनका यथावत् रूप बना रहा। मौर्य काल में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख जैन आगम **'उत्तराध्ययनसूत्र'** से प्राप्त होता है।[1] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था का विरोध जैनों एवं बौद्धों ने ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों का प्रभुत्त्व स्वीकार करते हुए किया। उत्तराध्ययन सूत्र में चार वर्णों बंभण, खत्तिम, वइस्स और सुद्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] ब्राह्मण लोग अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्मप्रेमी थे इसलिए जब वे किसी को मारते-पीटते देखते तो कहते ''मत मारो'' (माहण), तभी से यह वर्ग

माहण (ब्राह्मण) कहा जाने लगा।[3] यद्यपि उपर्युक्त विवरण परवर्ती जैन सूत्रों से ज्ञात होते हैं किन्तु इनकी परम्परा मौर्यकालीन अनुमानित की जाती है। **अशोक के 5वें शिलालेख** में यह उद्धृत है कि ''**महामात्र**, भिक्षुओं ब्राह्मणों, इभ्यों और गृहस्थियों, अनाथों तथा धर्मगामियों की सुरक्षा तथा सुख के लिए नियुक्त किये गये हैं।[4] इससे स्पष्ट है कि समाज अनेक वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मण वर्ण का समाज में स्थान उसकी शुचिता, पवित्रता एवं विद्वता के कारण आदरणीय था। **अशोक अपने तृतीय शिलालेख**[5] में कहता है कि ''ब्राह्मणों एवं श्रमणों की सेवा करना उत्तम है।'' इन सभी के अतिरिक्त समाज में संन्यासियों की तरह ही बौद्ध धर्मानुयायी भिक्षु-भिक्षुणियाँ, श्रावक, श्राविका (उपासक, उपासिका) भी विद्यमान थे। काशी-क्षेत्र से मौर्यकालीन (2) अभिलेखों की प्राप्ति हुई है। सारनाथ से प्राप्त मौर्यकालीन कई पुरातात्त्विक अवशेषों की प्राप्ति हुई है, जिससे हम यहाँ के जन-जीवन के सांस्कृतिक तत्त्वों को ज्ञात कर सकते हैं।

मौर्यकालीन **'सारनाथ लघु स्तम्भ लेख'**[6] अशोक के राजाज्ञा का प्रतीक है, जिसके अध्ययन से यह अनुमानित होता है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका संघ में निवास करते थे। अभिलेख में यह निहित है कि 'जो कोई भिक्षु एवं भिक्षुणी संघ में विग्रह उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा। उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निष्कासित कर दिया जायेगा।[7] अभिलेख में प्रयुक्त शब्द 'संघ' आश्रम-व्यवस्था का ही परिचायक माना जाता है। जिस प्रकार हिन्दू समाज में मनुष्य आश्रम-व्यवस्था का पालन करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करता है, ठीक उसी प्रकार 'बौद्ध-संघ' में रहते हुए मनुष्य अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है एवं परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इसी संघ में रहकर व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करते हुए बौद्ध-धर्म का प्रचार-प्रसार करता था। अभिलेख में 'भिक्षुणी' शब्द से तात्पर्य स्त्री संन्यासी ही है, जो स्त्रियों की दशा से सम्बन्धित है। प्रायः संन्यासियों के लिए पीत वस्त्र (पीले, केसरी रंग) को धारण करना होता था किन्तु

दण्ड के फलस्वरूप उन्हें श्वेत वस्त्र भी पहनने का कठिन आदेश दिया गया था, जो समाज में प्रचलित 'वस्त्र' को भी इंगित करता है। इस शासन-पत्र की एक प्रति समाज में उस स्थान पर स्थापित की गई, जहाँ से इसे सामान्य जन वर्ग आसानी से देख सकें। निगम तत्कालीन समाज की एक सहायक संस्था रही होगी, जैसाकि **डी.आर. भण्डारकर** का अनुमान है।[8] अपने प्रायश्चित हेतु बौद्ध धर्मानुयायी भिन्न-भिन्न स्थानों से यहाँ एकत्रित होते रहे होंगे। राजाज्ञा के अनुसार धर्म-महामात्र उन्हें मार्ग बताते हुए यह स्मरण दिलाते थे कि समाज में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न न की जाये। निःसंदेह अशोक के काल में सामाजिक समता स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास हुए।

अहरौरा लघु शिलालेख में भी **'संघ'**, 'उपासक' शब्द का उल्लेख है, जिसका वर्णन उपुर्यक्त पंक्तियों में निहित है। इस लेख से यह विदित होता है कि परिश्रम करने से केवल बड़े लोगों को ही स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, अपितु जो छोटे एवं सामान्य जन है, वे भी परिश्रम के द्वारा सफलता एवं स्वर्ग की प्राप्ति कर सकते हैं।[9] स्वर्ग एवं नरक की भावना तत्कालीन समाज में भी व्याप्त थी। इसके भय से लोग सदैव अच्छे कर्मों को करने के लिए प्रोत्साहित रहते थे।

समाज में अन्य वर्ग भी विद्यमान थे, जिनमें प्रमुख कारीगर शिल्पीकार, लौहकार, (लुहार), कर्मकार एवं लेखक गण भी सम्मिलित थे। इनका प्रमुख कार्य पत्थर से सम्बन्धित (मूर्त्ति बनाना, अभिलेख-निर्माण आदि में प्रयोजन) कृत्य को करना था। इनके सम्मिलित योगदान से ही अभिलेख निर्माण की प्रक्रिया पूरी होती थी, जिसे हम आज सरलतापूर्वक देख सकते हैं।

1. मौर्योत्तरकालीन काशी का सामाजिक जीवन-

मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् काशी पर शुंगों का आधिपत्य हुआ। राजघाट की खुदाई से प्राप्त अवशेष शुंगों के सामाजिक जन-जीवन पर प्रकाश डालते हैं। शुंग

शासक पुष्यमित्र को ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया का प्रतीक माना जा सकता है। पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक यज्ञ-परिपाटी को पुनः जगाया और अपनी विजय के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ को सम्पादित किया।[10] शुंगकाल में सारनाथ से वेदिका की प्राप्ति हुई है, जो वैदिक धर्म के प्रतीक स्वरूप यज्ञ हेतु निर्मित किये गये थे। शुंगों ने सनातन धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए कोई कट्टर आन्दोलन तो नहीं चलाया, किन्तु सनातन धर्म के उत्थान का कुछ प्रभाव काशी के जन-जीवन पर भी पड़ा होगा। शुंगों को बौद्ध-धर्म का कट्टर विरोधी बताया जाना तत्कालीन बौद्ध-साहित्य के विवरणकारों का स्वार्थी दुष्प्रचार प्रतीत होता है, जिसे ब्राह्मण-मतावलम्बियों ने स्वार्थवश प्रचारित किया। सारनाथ से मिले अवशेषों से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि शुंगकाल में यहाँ कुछ विशेष हस्तक्षेप नहीं किया गया था, क्योंकि वहाँ की सामान्य जनता बौद्ध-धर्म की ओर उन्मुख थी। भारत कला-भवन (वाराणसी) में कुछ शुंगकालीन व्यक्तियों की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे वाराणसी के कुछ नागरिकों के यथा; गोपसेन, खुदपठ, के नाम प्रकट होते हैं, जो काशी के स्थानीय निवासी थे।[11]

शुंगकाल में राजघाट से प्राप्त (भारत कला भवन में विद्यमान) स्फटिक की एक स्त्री का सिर, हाथी दाँत की बनी एक कंघी, शंख एवं हाथी दाँत की चूड़ियाँ यह दर्शाती है कि शुंग युग में पत्थर काटने, हाथी दाँत के काम करने वाले शिल्पी काशी में विद्यमान थे। ये सभी कार्य उनके व्यवसाय को दर्शाता है। उनके व्यवसाय से ही उनके वर्ण अथवा जाति के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है; संभवतः ये निम्न वर्ग के रहे हों।

काशी अपने वस्त्रोद्योग के लिए शुंगकाल में भी प्रसिद्ध थी। काशिक वस्त्र की जातकों में कई बार चर्चा हुई है जिसे अनुवादकों ने सदैव रेशमी वस्त्र का तात्पर्य माना है। पाणिनी के एक सूत्र पर (5/3/55) पर भाष्य करते हुए (कीलहॉर्न, 2/4/3)

पतंजलि कहते हैं- **'एवं हि दृश्यते इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्घो भवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य',** अर्थात् ऐसा देखा जाता है कि लम्बाई एवं चौड़ाई में बराबर होने पर भी काशिक वस्त्र का मूल्य कुछ और होता है और मथुरा के बने हुए वस्त्र का कुछ और।[12] वस्त्र-व्यवसाय का कार्य तन्तुवाय वर्ग के लोग करते थे, जो तत्कालीन, समाज का ही हिस्सा होते थे। काशी के वस्त्रों का मूल्य काशी के कारीगरों पर निर्भर होता था। सारनाथ से प्राप्त कोर की हुई स्त्री की एक खंडित मूर्त्ति कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर प्रतीत होती है। स्त्री बैठी हुई है और उसका दाहिना पैर मुड़ा हुआ है। उसकी कमर में एक भारी करधनी और उसके हाथों में कंकण है। इस प्रकार के दृश्यों से समाज का आकलन हो जाता है।

शुंगकाल के पश्चात् भारतीय समाज के कमजोर वर्गों के जीवन-स्तर एवं स्थिति में एक नवीन परिवर्तन का विकास उत्पन्न होने लगा। इन परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में भारतीय भू-भागों पर विदेशी आक्रान्ताओं ने समय-समय पर आक्रमण किया एवं अपना शासन स्थापित करने में सफल रहे। इन विदेशी जातियों में यवन, शक, पह्लव और कुषाण प्रमुख थे। भारतीय समाज में इन जातियों के सम्मिश्रण की प्रारम्भिक प्रक्रिया बहुत सुखद नहीं थी। इन विदेशी जातियों के क्रियाकलापों का जो वर्णन प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होता है, ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में इनके आक्रमण बड़े विध्वंसक और घातक थे। जिसके परिणामस्वरूप समाज के कुलीन वर्गों में विरोधात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और उन्होंने समाज में उनके सम्मिश्रण की प्रक्रिया का बहिष्कार किया। किन्तु उनके बीच यह शत्रुता अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी। सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं एवं भारतीय रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि को इन विदेशी जातियों ने आत्मसात् करते हुए ग्रहण करना शुरू किया। इनके साथ सामंजस्य बनाये रखने हेतु ब्राह्मण वर्ग ने भी उनकी बहुत सी बातों को मानते हुए उनके लिए समाज में उन्हें समाहित करने हेतु कुछेक विधान बनाए। इन सबके सम्मिश्रण और उससे उत्पन्न हुई सामाजिक ढाँचे में पुनर्निर्माण

से भारतीय एक बार नये सिरे से संक्रमण के दौर में पहुँच गया। जहाँ से इसका पुनः निर्धारण प्रारम्भ हुआ। इसमें कई नई जातियों का उद्भव, पुरानी जातीय परम्परा में परिवर्द्धन, परिवर्तन आदि सम्मिलित हो चुके थे। सर्वप्रथम गार्गी संहिता में हमें यवन, शक, कुषाण जातियों के आगमन से भारतीय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में व्यतिक्रम के उत्पन्न होने का प्रमाण प्राप्त होता है। **युगपुराण खण्ड**[13] के अनुसार यवनों और शकों के आक्रमण के कारण भारतीय समाज में आर्य-अनार्यों, वैश्य-शूद्रों, आस्तिक और नास्तिक के बीच कोई अन्तर नहीं रहेगा। स्त्रियों के अपने सभी मानदण्डों से विचलित होने के कारण पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जायेगा।

सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन **कनिष्क का बोधिसत्त्व मूर्त्तिलेख, वर्ष-3** में यह उल्लेख है कि वाराणसी का क्षत्रिय (क्षत्रप) शासक कनिष्क के अधीन था।[14] ब्रह्मपुराण में यह उल्लिखित है कि 'वनस्फर ने सम्पूर्ण आबादी को ब्राह्मण रहित करते हुए निम्न जातियों के प्रभुत्त्व को स्थापित किया एवं शूद्रों को ऊपर उठाया।' के.पी. जायसवाल का मत है कि वनस्फर ने केवट (कैवर्त्त), पुचक (शूद्रों की निम्न जाति) शक और पुलिन्दों को विभिन्न पदों पर बैठाकर एक नये शासक वर्ग का निर्माण किया।[15] ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय समाज में दलित एवं पिछली जातियों के लिए विदेशी शासक त्राता (उद्धारक) के रूप में आये। कुषाण साम्राज्य के प्रारम्भिक काल से हम इनके जीवन स्तर में एक प्रकार का विकास पातें हैं। इनके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति में विकास हुआ देखते हैं। संभवतः इन विदेशियों ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को जान-बूझकर नष्ट नहीं किया। गार्गी संहिता में यह कहा गया है कि इनके समाज में अपनी कोई वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा नहीं थी और न ही वे भारतीयों की इस विचित्रता को समझ पाते थे। विष्णु धर्मसूत्र से यह ज्ञात होता है कि उनके समाज में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी।[16] उन्होंने मात्र उन लोगों की नियुक्ति की थी, जिन्हें वे उस योग्य समझते, जानते थे और वे जिनसे परिचित थे।

काशी से प्राप्त कुषाण कालीन कनिष्क का बोधिसत्त्व मूर्तिलेख, वर्ष-3 से ज्ञात होता है कि कला एवं शिल्प के क्षेत्र में सामाजिक वातावरण और उसके प्रति झुकाव में भी परिवर्तन हुआ।[17] लेख का अभिप्राय यह है कि महाराज कनिष्क के तृतीय राज्य संवत्सर में त्रिपिटज्ञ भिक्षु बल ने बोधिसत्त्व की प्रतिमा एवं छत्र यष्टि की वाराणसी में उस जगह स्थापना की जहाँ बुद्ध चंक्रमण करते थे। इस प्रतिमा की स्थापना का उद्देश्य भिक्षु बल के माता-पिता, उपाध्याय, आचार्य, अन्तेवासी (शिष्या), त्रिपिटज्ञा बुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्फर एवं खरपल्लाण एवं चतुर्परिषद् के साथ सर्वसत्त्वों का हित-सुख था। इस अभिलेख से तत्कालीन समाज की एक झाँकी प्रस्तुत हो जाती है, जिसमें माता-पिता, (परिवार के संचालन कर्ता) उपाध्याय, (ब्राह्मण जो वेदों एवं वेदांगों को अपनी जीविका के लिए पढ़ाता था) आचार्य, (वह ब्राह्मण गुरु जो अपने शिष्यों को आचार या चारित्र्य की भी शिक्षा प्रदान करता था), त्रिपिटज्ञा (त्रिपिटकों की विशेषज्ञ स्त्री) बुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्फर एवं महाक्षत्रप खरपल्लाण सभी स्पष्टतया दृष्टिगत होते हैं। जिन्होंने सामाजिक संरचना के विकास में अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। त्रिपिटज्ञा बुद्धमित्रा धार्मिक विद्या में निपुण एवं त्रिपिटकाचार्या थी, जो तत्कालीन समाज में स्त्रियों की उच्च दशा को दर्शाता है। क्षत्रप वनस्फर एवं महाक्षत्रप खरपल्लाण संभवतः बौद्ध थे और कम से कम बौद्धों में ऊँच-नीच एवं जातिवाद का स्थान नहीं था। यह ध्यान देने योग्य है कि कनिष्क के लेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है; जो एक आम जनता में बोली जाने वाली एक सामान्य भाषा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण शासकों का भारतीय समाज में आत्मसातीकरण हो रहा था। काशी-क्षेत्र में भी इस प्रकार की सामाजिक-व्यवस्था रही होगी।

3. गुप्तकाल से गुप्तोत्तरकालीन काशी का सामाजिक जीवन-

मौर्य युग के अन्त तथा गुप्त साम्राज्य के प्रारम्भ के बीच लगभग चार सौ वर्षों का अन्तर है, जिसमें विभिन्न विदेशी आक्रमण, देश में राजनीतिक अस्थिरता अनेक विदेशी कबीलों और भारतीय कबीलों के बीच मतभेद, धार्मिक सिद्धान्तों का परस्पर विरोध तथा

सामाजिक गतिरोध हुआ। परिणामस्वरूप देश में सामाजिक, धार्मिक प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ हुई।

गुप्त सम्राट वस्तुतः वैष्णव धर्मानुयायी थे, किन्तु अन्य मतों को उन्होंने प्रोत्साहित किया। गुप्तों के काल में बौद्ध, जैन एवं सनातन जैसे विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित देव-पीठों का निर्माण हुआ। सभी विचारों वाले लोग एवं मतावलम्बी स्वच्छन्द रूप से अपने कार्यों में संलग्न थे, जो गुप्तकालीन समाज में नये परिवर्तन का प्रतीक था। हजारों वर्ष पूर्व वैदिक काल में इस नवीन गुप्त समाज की पृष्ठभूमि विकसित हो चुकी थी। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैदिककालीन समाज का स्वरूप ग्रामीण था, किन्तु गुप्तकाल में समाज का ग्रामीण एवं नगरीय स्वरूप दोनों देखने को मिलता है। गुप्तों के पूर्व भारतीय समाज में अनेक विदेशी आक्रमण एवं राजनीतिक परिवर्तन हुए, जिसके फलस्वरूप समाज में रीति-रिवाज, खान-पान एवं रहन-सहन पर निश्चितरूपेण प्रभाव पड़ा होगा।

गुप्तकालीन सामाजिक जीवन के रूप में तत्कालीन साहित्यिक ग्रंथों को मुख्य रूप से प्रामाणिक माना जाता है; क्योंकि अभिलेख एवं सिक्कों से तत्कालीन समाज की विस्तृत सूचना की अपेक्षा नहीं की जा सकती। काशी-क्षेत्र से गुप्तों के (8) अभिलेख एवं कुछ मुहरें प्राप्त हुए हैं। मुख्यतः इन्हीं स्रोतों के संतुलित अध्ययन के माध्यम से काशी के तत्कालीन समाज की झाँकी प्रस्तुत करना समाचीन होगा।

प्रायः यह दृष्टव्य होता है कि गुप्तों के काल में वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में सामाजिक वर्गीकरण की आधारभूत परम्परा पुनः बद्धमूल दिखाई देती है। पूर्ववर्ती कालों की भाँति इस काल में भी चारों वर्णों का स्तरगत भेद स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भ में वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण एवं कर्म निर्धारित किया गया था, किन्तु कालान्तर में इसने जाति का स्वरूप ग्रहण कर लिया एवं वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म से माना गया।

काशी-क्षेत्र से **स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ लेख**[18] (सैदपुर, गाजीपुर) प्राप्त हुआ है। इस लेख में यह निहित है कि स्कन्दगुप्त द्वारा अपने पिता (कुमारगुप्त प्रथम) की कीर्त्ति एवं पुण्य के निमित्त मंदिर का निर्माण कराकर विष्णु अथवा राम की प्रतिमा को स्थापित करने एवं उसके निमित्त ग्राम दान देने की विज्ञप्ति हैं। लेख की अंतिम 3-4 पंक्तियाँ क्षतिग्रस्त और अस्पष्ट हैं जिसके कारण इस मंदिर तथा उसे दिये गये ग्राम-दान सम्बन्धी सूचना अधिक उपलब्ध नहीं हो पाती हैं।

लेख के अध्ययन से यह विदित होता है कि दान ग्रहण करने की परम्परा ब्राह्मण वर्ग में विद्यमान थी। तृतीय शती ई0पू0 में अशोक ने अपने धर्म लेखों में ब्राह्मण को श्रेष्ठ मानकर ब्राह्मण दर्शन को श्रेयस्कर कहा है। यह विदित है कि ब्राह्मण षटकर्मी थे। अपनी प्रकांड विद्वता, शुचिता, आचरण, विशाल ह्रदयता एवं लोकोत्तर व्यवहार कुशलता के कारण ब्राह्मण समाज में श्रेष्ठ समझे जाते थे।

समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति लेख से भी यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्ग को दान-दक्षिणा देने के लिए समुद्रगुप्त ने अश्वमेध प्रकार के स्वर्ण-सिक्कें निर्मित करवाया था एवं हजार गायों को दान में दिया था। स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख से भी यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ संपादित किया था। इस अश्वमेध यज्ञ को संपादित करने के पश्चात् गायों एवं सुवर्णों का दान करने की परम्परा थी।[19]

फाह्यान ने गुप्तकालीन ब्राह्मण राजाओं का विवरण दिया है। असाधारण समाज में घटनाओं के लिए आपद्धर्म (संकट पड़ने पर अपने धर्म को छोड़कर किसी दूसरे का पेशा अपनाया जाना) का विधान है। शूद्रक यह वर्णन करता है कि चारूदत्त ब्राह्मण होते हुए भी वणिक का कार्य करता था (मृच्छकटिकम्)।[20] इस विवेच्य युग में ब्राह्मणों की उपजातियाँ भी विकसित हो गई। देश, धर्म, निरामिष भोजन एवं वैदिक शाखाएँ उपविभाजन के कारण थे।

वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय वर्ग का समाज में द्वितीय स्थान था, जो समाज में उच्च होने के कारण प्रतिष्ठित था। क्षत्रिय वर्ग का प्रधान कर्त्तव्य प्रजा पालन एवं राष्ट्र की सुरक्षा विष्णु स्मृति में निर्धारित किया गया है।[21] गुप्त शासक क्षत्रिय थे अतएव शास्त्रानुकूल उनका आचरण था। प्रायः क्षत्रिय शासक ही सेनापति एवं योद्धा होते थे और शिक्षा भी उसी के अनुकूल होती थी। गुप्तकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि राजकुमार प्रायः प्रांतीय राज्यपाल का कार्य करते थे। स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि 'स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का वीर है, जिसका यश दूर-दूर तक फैला हुआ था।[22] वह विमल आत्मा वाला था, संगीत के तानों को समझने में निष्णात्, सुचरित्रवान व्यक्ति के समान उसका आचरण था।' इसी अभिलेख के पंक्ति संख्या 10 में यह उल्लेख है कि ''स्कन्दगुप्त अपने कुल की विचलित लक्ष्मी को स्थिर करने के लिए उद्यत हुए एक (सम्पूर्ण) रात्रि पृथ्वी तल रूपी शैय्या पर व्यतीत की तथा उसके पश्चात् शक्ति तथा धन में पर्याप्त बढ़े हुए पुष्यमित्रों को जीतकर उन्होंने (उसी जनजाति के) राजा रूपी पादपीठ पर (अपना) बाँया कदम रखा।''[23] पंक्ति संख्या 12 में यह उल्लेख है कि अपने पिता के स्वर्गवासी (कुमारगुप्त के) हो जाने पर (अपने) भुजबल से (अपने) शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया।[24] इन सभी वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त क्षत्रिय था एवं क्षात्रधर्म का पालन करते हुए राष्ट्र एवं समाज के रक्षा का संचालन कर रहा था।

समाज में तीसरा स्थान वैश्य वर्ग का निर्धारित किया गया था, जिसका प्रधान कर्म व्यापार एवं वाणिज्य था। वैश्य वर्ग छोटी-छोटी समितियाँ (निगम) बनाकर व्यवसाय करते थे, जिसका गुप्तकालीन अभिलेखों में वर्णन मिलता है। समितियों के लिए कुलिक, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। व्यापारी समूह का प्रधान **'सार्थवाह'** के नाम से सम्बोधित किया जाता था। गुप्तकाल में व्यापार उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था, इसमें काशी का योगदान महत्त्वपूर्ण था। व्यापार वस्तुतः स्थलीय मार्ग

एवं जल मार्ग द्वारा होते थे। काशी का जलीय मार्ग तट (नदियों के किनारे) व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। भारत के पूर्वी भाग (बंग्लादेश) में तामलुक (समतट) नामक बन्दरगाह से भारतीय जहाज दक्षिण पूर्व एशिया में जाते थे। काशी का जलीय एवं स्थलीय मार्ग इन रास्तों से जुड़ा हुआ था। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में यह वर्णित किया है कि तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का था जो पदार्थों का विनियम कर लाभान्वित होते रहे।[25] वैश्य पूर्णरुपेण एक सामाजिक संरचना में योगदान देने वाला वर्ग था तथापि कृषक, व्यापारी, लुहार, बढ़ई, तेली, जुलाहे, पशुपालक एवं माली ने अपनी पृथक-पृथक उपजातियाँ निर्मित कर ली थी।

द्विजों की सेवा करने का कर्त्तव्य अंतिम वर्ण शूद्र वर्ग के लिए निहित था। शूद्रों के लिए स्मृतिकारों ने मंत्र रहित यज्ञ करने का विधान निर्धारित किया है। सिद्धान्ततः जो भी वर्णन किया गया हो, किन्तु शूद्र, व्यापारी, शिल्पी तथा कृषक हुआ करते थे। हिन्दू समाज में अश्पृश्यता का विचार न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान था, जिसे फाह्यान ने भी वर्णन किया है।

संक्षेप में, यह कहना उचित होगा कि जातियों के कार्य ही समाज में उनके स्थान के प्रमुख कारण थे। अर्थात् व्यवसाय से ही उनके जाति का निर्धारण होता था। विभिन्न जातियों के सीमित शास्त्र-सम्मत कार्य होते हुए भी परिस्थिति एवं आपत्ति के समय वृत्ति का परिवर्तन आवश्यक था। उसी के अनुरूप समाज में सम्मान प्राप्त होता था। स्मृतिकार समय की गतिशीलता को समझते थे, तद्नुसार उन्होंने हिन्दू समाज को खंडित होने से बचाने में अपनी अहम् भूमिका प्रस्तुत की।

आश्रम प्रणाली-

गुप्तकालीन समाज के अध्ययन एवं विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि किसी न किसी रूप में आश्रम-व्यवस्था का पालन होता रहा। प्रारम्भिक शिक्षा का अनुमान व्यक्ति

के सामाजिक कार्यों को देखकर लगाया जा सकता है। आचार्य एवं शिष्य की वार्त्ता स्मृति ग्रंथों में निहित है। शिक्षा हेतु उपनयन संस्कार को सम्पन्न करने में गुरुकुल का प्रमुख योगदान था। जिसे आगे चलकर विद्यारम्भ संस्कार के नाम से सम्बोधित किया गया। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत ही शिक्षण-दीक्षण का कार्य किया जाता था। समाज के संचालन हेतु चार प्रकार के आश्रमों की परियोजना की गई थी, जिनमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास मुख्यतः थे।

ब्राह्मणों के लिए वेद-वेदांग पठन-पाठन के मुख्य विषय थे, क्षत्रिय वर्ग के लिए राजनीति के साथ-साथ आयुध (अस्त्र-शस्त्र) के प्रयोग की शिक्षा दी जाती थी। वैश्य वर्ग के लिए व्यापार-एवं वाणिज्य से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन कराया जाता था। इनके अध्ययन का प्रयोजन आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत् ही होता था। समुद्रगुप्त नाना प्रकार के आयुधों का प्रशिक्षण ले चुका था। जिनके नाम प्रयाग-प्रशस्ति में मिलते हैं- परशु, शंकु, शक्ति, प्रसासि, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच, वैतस्तिक आदि।

काशी के भीतरी स्तम्भलेख (स्कन्दगुप्त) से यह ज्ञात होता है कि 'स्कन्दगुप्त सुचरित्रवान, व्यक्ति, विमल आत्मा वाला एवं संगीत के तानों को समझने में निष्णात् है।'[26] अभिलेख के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि स्कन्दगुप्त की शिक्षा-दीक्षा आश्रम-व्यवस्था के अनुरुप हुई होगी।

आश्रम-व्यवस्था प्रणाली की चर्चा करें तो महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि **वासुदेव शरण अग्रवाल महोदय**[27] को गुप्तकालीन मृण्मुद्रा काशी-क्षेत्र (राजघाट) से प्राप्त हुई है; जिस पर 'बह्वृच' चरण शब्द अंकित है। 'चातुर्विद्य' वाली गुप्तकालीन मुद्रा (मुहर) से यह ज्ञात होता है कि उस काल में काशी में चारों वेदों को पढ़ाने के लिए पाठशाला अथवा आश्रम-व्यवस्था की परियोजना की गई थी। यह भी संभव है कि इस पाठशाला में चार विद्याएँ आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता, दंडनीति और शाश्वती पढाई जाती रही हो।

इन मुद्राओं पर पाठशाला (आश्रम) का सुन्दर चित्रण हुआ है। इनमें बने एक आश्रम में एक जटाजूट धारी अध्यापक और दोनों तरफ एक-एक दण्डधारी शिष्य खड़े दिखलाये गये हैं। अध्यापक के बाएँ हाथ में करवा है जिससे वे बायीं ओर एक वृक्ष पर पानी डाल रहे हैं। आश्रम दो घने पेड़ों के बीच है। ऐसा प्रतीत होता है कि काशी में प्रत्येक मंदिर के साथ आश्रम-व्यवस्था एवं पाठशाला होती थी, जिसमें अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य सुचारू रूप से चलता था।[28] कुछ आश्रम नदियों के तट पर भी बसे होते थे, इसका मुख्य कारण प्रकृति के नैसर्गिक सुन्दरता एवं सुखद वातावरण का होना था, जिससे गुरु एवं शिष्य पठन-पाठन का कार्य कर सकें। केदारमठ (वाराणसी में विद्यमान) का नाम इसमें मुख्य रूप से है।

श्री सर्वत्रैविद्यस्य लेखवाली राजघाट से मिली गुप्तकालीन मुहर के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काशी में संभवतः त्रैविद्य नाम के किसी मंदिर के साथ पाठशाला (आश्रम-व्यवस्था) में तीनों वेदों के पढ़ाने का प्रबन्ध था।[29]

गुप्तों के काल में भी बौद्ध-शिक्षा प्रणाली के निमित्त मठों का निर्माण हो गया था, जहाँ फाह्यान जैसे विदेशी चीनी यात्री ने भी शिक्षा ग्रहण की। ऐसी अवस्था में भी वैदिक प्रणाली समाप्त न हो पाई। यज्ञ, वैदिक-प्रणाली एवं वेदों का अध्ययन गुप्तयुग में प्रगति पर था। गुप्त लेखों में भी वैदिक शाखाओं के नाम का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन साहित्य की प्रगति से शिक्षा-क्रम एवं विद्याध्ययन का परिज्ञान हो जाता है। गुप्त लेखों में संन्यासियों के समान ही बौद्ध-भिक्षुओं के उल्लेख मिलते है, जिनसे संन्यास आश्रम का अनुमान लगाया जा सकता है। काशी के सारनाथ से प्राप्त एक मूर्त्ति फलक पर लिखने वाली तख्ती लिए एक बालक का चित्रण है।[30] बुद्धगुप्त कालीन सारनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख में बौद्ध भिक्षु अभयमित्र का उल्लेख है।[31] जो बौद्ध संघ का निश्चय ही देख-रेख करता रहा होगा। गुप्तकाल में स्त्री शिक्षा पर भी बल दिया गया था। आदर्श पत्नी तथा

विदुषी बनने हेतु स्त्री-शिक्षा की नितांत आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री एवं दक्षिण के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय की पत्नी प्रभावती गुप्ता उच्च श्रेणी की शिक्षिता महिला एवं विदुषी स्त्री थी, जिसने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अपने पुत्रों के बाल्यकाल में राज्यकार्य का संचालन करती रही। स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त की माँ देवकी (कृष्ण) के समान थी।

गुप्तकालीन समाज में गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत विवाह की परियोजना की गई थी। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का विवाह ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त करने अर्थात् 25 वर्ष की अवस्था के पश्चात् ही होता था। **मनु** के 8 प्रकार के विवाहों की चर्चा की है, जिनमें ब्रह्म दैव, आर्ष, प्रजापात्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस एवं पैशाच उल्लेखनीय है।[32] काशी से प्राप्त गुप्तकालीन लेखों से सभी प्रकार के विवाहों का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है, फिर भी कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होता है। हिन्दू समाज में स्वयंवर विवाह प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है, जिसमें कन्या स्वयं अपना वर चुनती थी। स्कन्दगुप्त के भीतरी लेख से ज्ञात होता है कि अपने कुल की विचलित लक्ष्मी को स्थिर करने के लिए स्कन्दगुप्त ने एक सम्पूर्ण रात्रि पृथ्वी तल रूपी शैय्या पर व्यतीत की।[33] इसकी प्रतिपुष्टि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख से भी होती है, जिसमें यह वर्णन है कि लक्ष्मी ने सभी राजपुत्रों को त्यागकर स्कन्दगुप्त को स्वयं चुना। अभिलेख में राज्यलक्ष्मी एवं राजा का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, उसकी आलंकारिक तुलना कवियों ने स्वयंवर के प्रस्तुत विधान से की है जो अधिक स्पष्ट भावों को लेकर साकार हो उठा है। संभवतः समाज में स्वयंवर विवाह होते थे।

स्कन्दगुप्त के ही भीतरी शिलालेख में समुद्रगुप्त की पत्नी (दत्तदेवी) का उल्लेख है।[34] साहित्य में यह वर्णन मिलता है कि समुद्रगुप्त ने पौरुष और पराक्रमरुपी शुल्क देकर दत्तदेवी को प्राप्त किया था, जिसे 'आसुर विवाह' के नाम से सम्बोधित किया जाता

है। गुप्तकाल में भी अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह समाज में प्रचलित थे। स्कन्दगुप्त के भीतरी पाषाण लेख से यह परिज्ञात होता है कि उस समय समाज में उच्चवर्ग के लोग बहु विवाह करते थे। इस लेख में एवं अन्य परवर्ती गुप्त लेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की महिषी का नाम महादेवी ध्रुवदेवी मिलता है, किन्तु प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र लेख से यह ज्ञात होता है कि प्रभावती गुप्ता चन्द्रगुप्त की दूसरी महिषी महादेवी कुबेरनागा से उत्पन्न हुई थी। इन उद्धरणों से यह अनुमानित होता है कि हिन्दू समाज में विवाह-प्रणाली गुप्तों के समय भी वैदिक प्रक्रिया के अनुरूप ही थी।

वैवाहिक प्रक्रिया पूर्ण करने के पश्चात् मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन को पूर्ण एवं स्थायी बनाने तथा उसे सुखमय स्वरूप देने के लिए जिन संस्थाओं की संरचना की, उनमें परिवार का स्थान सर्वोपरि है। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन एवं पुत्र-पुत्री के संयोग से परिवार का निर्माण होता है। काशी से प्राप्त गुप्तकालीन लेखों से यह सूचना प्राप्त होती है कि पूर्ववर्ती कालों के समान ही गुप्तकाल में संयुक्त परिवार व्यवस्था प्रणाली समाज में प्रचलित थी। स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि गुप्त वंशावली में प्रपितामह, पितामह, माता-पिता, प्रपौत्र, पौत्र, पुत्र, पत्नी आदि सम्मिलित थे, जिससे संयुक्त परिवार प्रणाली का अनुमान लगाया जा सकता है।[35]

संयुक्त परिवार प्रणाली में परिवार का सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति या पिता ही पूरे परिवार का सर्वेसर्वा एवं मुखिया होता था। परिवार में पिता को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। काशी-क्षेत्र से प्राप्त भीतरी शिलालेख (स्कन्दगुप्त) में **स्कन्दगुप्त को सर्वदा पिता के चरण-कमलों में आश्रय ग्रहण करने वाला बताया गया है।**[36]

इन सभी विवरणों के साथ ही समाज में निवास हेतु अनेक आवास, गृह एवं महलों का निर्माण हुआ था, जिसका विवरण शूद्रक ने अपने कृति **'मृच्छकटिकम्'** में सविस्तार दिया है। वस्त्राभूषण के सम्बन्ध में साहित्यिक कृतियों के साथ-साथ कला का

साक्ष्य भी लेना पड़ता है। काशी के सारनाथ स्थल से अनेक पाषाण मूत्तियाँ प्राप्त हुई है, जिन पर वस्त्र एवं आभूषण अंकित किये गये हैं। गुप्तकाल में भी काशी के रेशमी वस्त्र विश्व-विख्यात् थे। पुरुष एवं स्त्री के लिए भिन्न-भिन्न वस्त्रों का प्रयोग गुप्तकाल में भी होता था। अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय (चादर) का व्यवहार पुरुष किया करते थे। किन्तु गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्राओं पर राजा लम्बे कोट को पहने भी दर्शाया गया है। जैन, बौद्ध एवं साधु क्रमशः श्वेत, लाल (गेरुआ) वस्त्र का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थी, जो गुप्त मुद्राओं से स्पष्ट हो जाता है। शरीर को रमणीय बनाने के लिए आभूषण का प्रयोग गुप्त-काल में होता था। स्त्री-पुरुष दोनों आभूषणों के प्रेमी थे। कान की बालियाँ एवं मोतियों के कंठाहार आश्चर्यजनक आभूषण थे। सामाजिक जीवन में आनन्द लाभ हेतु उत्सव मनाये जाते थे। काशी में भी सामूहिक उत्सव मनाया जाता था। **काशी में आठ बार एवं नौं त्यौहार की उक्ति काफी प्रसिद्ध थी।**[37]

गुप्त साम्राज्य का पतन ईसा की छठी शताब्दी के मध्य हो चुका था। गुप्त-साम्राज्य के पतन ने एक बार पुनः भारतीय राजनीति में विकेन्द्रीकरण एवं समाज में विभाजन की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। इस काल तक आते-आते समाज में एक नये आयाम का उत्थान होने लगा था। इस युग का समाज, समाज में रहने वाले वर्णों एवं जातियों की प्रस्थिति, धार्मिक आस्थायें, रीति-रिवाज, छुआ छुत की भावना, और अधिक दृढ़ होना, बाल-विवाह, बहु विवाह, विधवा विवाह का न होना, बढ़ती हुई सती प्रथा का प्रचलन, अस्पृश्य जनों को समाज से बहिष्कृत कर देना, पर्दा-प्रथा, दहेज प्रथा आदि सारी परम्परायें इतनी परिपुष्ट हो चुकी थी कि आगामी पीढ़ी में किसी आमूल परिवर्तन की संभावना कम ही रह गई थी। स्मृतिकारों ने इस नयी परिस्थिति को श्रृंखलाबद्ध करने हेतु नूतन परिवर्तनों को; धार्मिक नियमों का सहारा लेकर मान्यता प्रदान करते हुए विभिन्न विभेदों का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित किया। इस काल में हुए सामाजिक परिवर्तन की साम्यता आर्थिक परिवर्तनों के साथ की जा सकती है। इस काल की मुख्य आर्थिक

शक्तियाँ व्यापक स्तर पर भूमि अनुदान, व्यापार का ह्रास, कृषि का प्रचार, धन की कमी, उत्पादन एवं उपभोग की अपेक्षाकृत बन्द स्थानीय इकाईयों की उपज थी। इसी आधार पर तत्त्कालीन समाज का ढाँचा तैयार हुआ, जिसके अन्तर्गत समाज के संचालन में सहायक बड़ी संख्या में शासक वर्ग, कुलीन जमींनदार, बिचौलिए एवं बहुसंख्यक किसान एवं शिल्पी सम्मिलित थे। पदानुक्रम के स्तरों में समाज विभाजित हो चुका था। इनमें नवीन जातियो की उत्पत्ति एवं संवृद्धि, जाति-सम्बन्धों का अत्यधिक कठोर होना एवं कबीलों के द्वारा सनातन संस्कृति को स्वीकार करना मुख्य रूप से था। अनेक परिवर्तनों एवं निषेधों का आविष्कार उच्च वर्ग ने सामाजिक असमानता बनाये रखने हेतु किया।

भूमि-अनुदान एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसके फलस्वरूप सामन्तवाद के प्रमुख तत्त्व भारतवर्ष में प्रत्यक्ष दिखाई देते थे। गुप्त एवं गुप्तोत्तर कालों की स्मृतियों से यह स्पष्ट होता है कि राजा का सर्वप्रथम अधिकार भूमि पर था, उसके पश्चात् स्वामी एवं उसके बाद क्षेत्रिक या कर्षक का और कहीं-कहीं उपकर्षक का भी होता था। इस प्रकार समाज भूमि के आधार पर तीन या चार वर्गों में विभाजित था।[38]

4. पूर्व मध्यकालीन काशी का सामाजिक जीवन-

भारतीय इतिहास में पूर्व मध्यकालीन सामाजिक प्रगति एवं उपलब्धियों का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। वर्तमान में उत्तर भारतीय समाज की प्रवृत्तियों का मूल भले ही हमें ऋग्वैदिक, उत्तर-वैदिक या सूत्रकाल में प्राप्त हुआ, किन्तु उनकी विस्तृत शाखाओं एवं प्रशाखाओं का उदय विवेच्य काल (750-1200 ई0) में ही निर्धारित हुआ। भारतीय समाज में परिवर्तन की पृष्ठभूमि गुप्तोत्तर काल से ही तैयार होने लगी थी। यह परिवर्तन सामन्तवादी प्रवृत्तियों की तरफ बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। भूमिदान की प्रथा को युगजनित परिस्थितियों ने प्रोत्साहित करते हुए समाज के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया।

निरन्तर भूमि अनुदानों के फलस्वरूप सामन्तवाद के प्रमुख लक्षण भारत में प्रमुख रूप से दिखाई देते है। सामन्ती समाज के विकास के कारण जातियों की अत्यन्त वृद्धि हुई एवं उन्हें शुद्धता-अशुद्धता और ऊँच-नीच के आधार पर सुव्यवस्थित किया गया।

विवेच्यकालीन समाज में चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का अस्तित्व तो पूर्ववत् ही था, किन्तु इनकी रूढ़िवादिता में गतिशीलता के साथ परिवर्तन हुआ। प्रत्येक वर्ण एवं जाति में अनेक शाखाएँ उत्पन्न हो गयी थी। उपजातियों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण जीविकोपार्जन एवं आवश्यकता थी, जिसे मनुष्य ने प्राप्त करने हेतु अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह को सम्पन्न किया।[39]

चारों वर्णों में ब्राह्मण वर्ण को समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। इस वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका धर्म एवं प्रशासन के क्षेत्र में अत्यधिक थी, जिसका वह धर्म एवं कर्मपूर्वक निर्वहन कर रहा था। ब्राह्मण वर्ग ने अपने विद्वता एवं शुचिता के आधार पर इस काल में अत्यधिक भूमि अनुदान को ग्रहण किये। वेदज्ञ, पवित्र, निर्मल, सत्यवादी, संतोषी (लोभ रहित) एवं अहिंसा में विश्वास रखने वाले ब्राह्मणों को ही भूमि अनुदान में प्राप्त होती थी। वे धर्म-कर्म, शिक्षा-दीक्षा, शासन आदि में समाज का पथ प्रदर्शन करते थे। अतः यह स्वाभाविक है कि ब्राह्मण पूर्व मध्यकालीन शासकों के प्रियभाजन एवं विश्वासपात्र थे। इस काल में भी काशी में अत्यधिक ब्राह्मण निवास करते थे। पूर्व-मध्यकालीन शासकों ने ब्राह्मणों के संरक्षण के रूप में धन एवं भूमिदान में दिया, जिससे दूर-दराज के क्षेत्रों से ब्राह्मण वर्ग आकर्षित होकर काशी में आ बसे। इसका एक अभिलेखीय प्रमाण यशःकर्ण का ब्राह्मणों के लिए **कर्णावती** नामक विख्यात् आवास स्थल (ग्राम) का निर्माण किया जाना था।[40] ये ब्राह्मण अपने नामों के पहले भट्टिक अथवा ब्राह्मण जोड़ते हुए पाये गये हैं। कुछ ब्राह्मणों के नामों के पूर्व स्वामिन्,[41] ठक्कुर[42], भट्ट[43], दीक्षित[44], पंडित[45], उपाध्याय[46], अग्निहोत्री[47], आदि प्राप्त हुए हैं।

कलचुरि शासक अपने अभिलेखों में स्वयं को प्रसिद्ध चंद्रवंशीय कार्तवीर्य सहस्त्रार्जुन का वंशज बताते हैं, जिसकी पुष्टि काशी के राजघाट से प्राप्त कर्ण के अभिलेख से भी होती है।[48] जो निश्चय ही क्षत्रिय वंश से सम्बन्धित रहे होंगे। इनका वैवाहिक सम्बन्ध अन्य शक्ति सम्पन्न उत्तरी भारत के प्रमुख राजवंशों के साथ था, जिनमें राष्ट्रकूट, चंदेल, पाल आदि सम्मिलित थे। नागरिक एवं सैनिक, प्रशासन के दोनों पक्षों से सम्बन्धित होने के कारण क्षत्रिय शासकों की स्थिति काफी सुदृढ़ थी। जिसका उल्लेख कलचुरि शासक कर्ण के राजघाट पीतल दानपत्र (क.सं. 733) से भी होता है। वैश्य एवं शूद्र वर्ण भी समाज में सम्मिलित थे, हाँलाकि इनकी स्थितियों में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनका प्रभाव अत्यन्त मुखर प्रतीत होता है।

कलचुरि शासकों के शासन-काल में अन्तर्वर्ण अथवा अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न हुआ करते थे। इस प्रकार का उदाहरण कलचुरि नरेश कर्ण के वैवाहिक प्रक्रिया को माना जा सकता है, जिसने हूण राजकुमारी आवल्लदेवी के साथ विवाह किया था। इस विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न उसका पुत्र यशःकर्ण कालान्तर में अपने पिता की गद्दी पर विराजमान हुआ। कलचुरियों एवं राष्ट्रकूटों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों के विश्लेषण की पुष्टि कर्ण के सारनाथ शिलालेख (क0सं0 810)[49] एवं बनारस पीतल दानपत्र (क0सं0 793) से भी होती है।[50]

इन अभिलेखों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि दान धार्मिक अभिवृद्धि एवं माता-पिता की गौरवपूर्ण स्मृति में उनके पुण्य हेतु दिये जाते थे।

कर्ण के सारनाथ शिलालेख (क0स0 810) में स्त्रियों की शिक्षा के प्रति प्रेम का संकेत प्राप्त होता है, जिसमें यह उल्लिखित है कि महायान बौद्ध धर्म की अनुयायी मामका ने '**अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता**' की एक प्रति महाबोधि महाविहार के प्रतिष्ठित भिक्षुओं को प्रदान करने के लिए लिखवाई (अर्थात् एक प्रतिलिपि की नकल करवाई)।[51]

राजशेखर के कथन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा एवं ललित कला में प्रशिक्षण की सुविधा सभी वर्ग की स्त्रियों के लिए उपलब्ध थी।[52]

कलचुरि शासकों के पश्चात् काशी पर गाहडवाल शासकों का शासन स्थापित हुआ। गाहडवालों के शासन काल में काशी की सांस्कृतिक एवं सामाजिक दशा पूर्ववर्ती कालों की अपेक्षा अत्यन्त समृद्ध थी। गाहडवालों ने काशी पर शासन कर इसे लगभग 100 वर्षों तक भारतवर्ष का अग्रणी राज्य बनाये रखा। गाहडवालकालीन काशी में समाज को छोटे-छोटे विविध वर्गों में विभक्त किया गया था। वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक मान्यताएँ काशी में आदर्श रूप में प्रचलित थीं। इसकी पुष्टि काशी के गाहडवाल अभिलेखों से भी होती है, जिनमें विभिन्न प्रसंगों के साथ वर्ण चतुष्टय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख हुआ है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए अभिलेखों में व्यवहृत हुआ है। इस काल में काशी के ब्राह्मण प्रतिष्ठित एवं उच्च सम्मान के अधिकारी होते थे। ब्राह्मणों को समाज का सुयोग्य प्राणी स्वयं लक्ष्मीधर ने अपने ग्रंथ **'कृत्यकल्पतरु'** में बताया है।[53] इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि अग्निहोत्र (यज्ञ-होम सम्बन्धित कृत्य) उनका नित्य-प्रतिदिन का कर्त्तव्य था।[54] ब्राह्मण केवल यज्ञ-अनुष्ठान तक ही सीमित नहीं थे, अपितु शिक्षा, दान भी उनके मुख्य कर्त्तव्य थे और साथ ही साथ विद्यालयों का संचालन कर्त्ता ब्राह्मण ही थे। ब्राह्मण पुरोहित का भी कर्त्तव्य-संवहन करते थे, जिसका उल्लेख काशी से प्राप्त गाहडवाल ताम्रपत्रों में अनेकशः हुआ है। जागूशर्मन[55] एवं उनके पुत्र प्रहराजशर्मन[56] जो गाहडवाल शासकों के पुरोहित थे, उन्हें भूमिदान दिया गया, जिससे वे अपनी जीविका चला सकें। जटाशर्मन नामक एक ब्राह्मण भी पुरोहित था, जिसका गाहडवाल ताम्रपत्रों में नाम आया है।[57] इन ब्राह्मणों की मुख्य विशेषता अपना गोत्र, प्रवर एवं शाखा का वर्णन करना है, जिसके आधार पर समाज में इनकी प्रतिष्ठा बनी हुई थी।[58] गाहडवाल अभिलेखों में एक, तीन एवं पाँच प्रवर वाले ब्राह्मण विद्वानों का विवरण मिलता है। 40 गोत्र एवं 26 प्रवरों का विवरण

अभिलेखों में ब्राह्मणों के लिए मिलता है। 'गोत्र' शब्द से तात्पर्य ऋग्वेद में 'गोशाला' से लिया जाता है। किन्तु गोत्र से अभिप्राय एक परिवार से है जिसके सभी सदस्य तथा उनके उत्तराधिकारी जो पीढ़ियों से चले आ रहे हैं अपने को एक पूर्वज ऋषि की संतान बताते हैं। प्रायः आज के प्रचलन में जब किसी का गोत्र पूछा जाता है तो वह किसी भी ऋषि का नाम लेकर कहता है कि मैं अमूल गोत्र का हूँ। पैतृक पक्ष के लिए ही 'गोत्र' शब्द का प्रयोग होता था। 'प्रवर' का सम्बन्ध ऋषियों के दूरस्थ पूर्वज से होता है। प्रवर शब्द का शाब्दिक अर्थ है- **आह्वाहन** अथवा **बुलाना**। प्रवर शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई है, इसका अर्थ है- चुनना। परन्तु 'प्र' शब्द का अर्थ है प्रमुख रूप से। इस प्रकार प्रवर से तात्पर्य उन ऋषियों से है जो प्रमुख रूप से परम्परागत रूप में यज्ञ हेतु चुने जाय। इसका एक अर्थ यह भी था कि हवन करने वाले पुरोहित, यज्ञ सम्पादित करने हेतु अग्नि का आह्वाहन करते हुए अपने प्रमुख पूर्वज-ऋषियों के नामों का उच्चारण करते थे, ताकि हवन की आहुति देवताओं को प्रदत्त की जाए। गोत्र एवं प्रवर सम्बन्धी ब्राह्मणों का उल्लेख गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों में अनेक बार हुआ है, जिन्हें भूमिदान किया गया था। महाभारत एवं बौधायन श्रौतसूत्र-वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि भारद्वाज, गौतम, अत्रि, अगस्त्य इत्यादि आठ गोत्र ऋषि की गणना करते हैं। गोत्रवंश के प्रमुख व्यक्ति द्वारा ही प्रचलित होता है। धर्मशास्त्र एवं श्रौतसूत्र हमें यह बताते हैं कि गोत्रों की संख्या असंख्य हो सकती है किन्तु प्रवर केवल **49** तक ही सीमित है।[59]

❖ **गाहडवालकालीन अभिलेखों में गोत्रों की संख्या चालीस है, जिसका उल्लेख निम्नवत् हैः-**

1. काश्यप	9. कुत्स	17. कौशिक	25. वत्स	33. जातुकर्ण
2. वंधुल	10. दक्ष	18. उपमन्यु	26. शर्कराक्ष	34. मौनेय
3. वशिष्ठ	11. गौण्य	19. जीवनत्यामन	27. कृष्णात्रेय	35. दर्भ
4. शांडिल्य	12. हरित	20. गांलव	28. कपिस्थल	36. अगस्त्य
5. सांस्कृत्य	13. कात्यायन	21. चन्द्रात्रेय	29. पराशर	37. अगस्त्य
6. कौण्डिन्य	14. गोमिल	22. पिपलाद	30. गर्ग	38. आत्रेय
7. भार्गव	15. पारावस	23. मौद्‌गल्य	31. सावर्ण	39. गर्ग्य
8. धौम्य	16. गौतम	24. भारद्वाज	32. सार्कर	40. सौश्रवस

➢ **इन ब्राह्मणों के प्रवरों का भी उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में मिलता है, इनकी संख्या लगभग 26 है। ये निम्नवत् है :-**

1. बंधुल	8. च्यवन	15. आवत्सार	22. देवराट
2. अधमर्षण	9. आप्नवान	16. नैध्रुव	23. गौतम
3. विश्वामित्र	10. और्ण्व	17. भारद्वाज	24. ऐतथ
4. गोमिल	11. जमदग्नि	18. कांकायन	25. अवितथ
5. अंगिरस	12. मौद्गल्य	19. कौशिक	26. बहिस्पत्य
6. अंबरीष	13. भारम्यस	20. धौम्य	
7. भार्गव	14. काश्यप	21. औडल्य	

भार्गव, च्यवन, आप्नवान, और्ण्व, जमदग्नि इन पाँच प्रवरों का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र एवं मत्स्यपुराण में 'वत्स' गोत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं पाँचों प्रवरों का विवरण गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों में भी मिलता है।

काशी के गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों में इन ब्राह्मणों के उपनाम भी उपलब्ध होते हैं, जो संभवतया उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा एवं वेदों के ज्ञाता होने के कारण मिला हो। इन उपाधियों में ठक्कुर, भट्ट, चतुर्वेदी, दीक्षित, अवस्थी, त्रिपाठी, शर्मा, पंडित, द्विवेदी, राउत आदि का उल्लेख मिलता है, इनका क्रमानुसार विवरण निम्नवत् हैः-

1. **ठक्कुर-** चालुक्य अभिलेखों में हमें सर्वप्रथम 'ठक्कुर' उपनाम का उल्लेख मिलता है। 'नागरिक' अथवा 'राजकीय अधिकारी' ही 'ठक्कुर' शब्द की अभिव्यक्ति करता है, जिसका अभिलेखों में प्रयोग हुआ है।

कालक्रम की दृष्टि से इस शब्द का अभिप्राय निरन्तर परिवर्तित होता रहा। प्रारम्भ में इसका तात्पर्य नागरिक अथवा राज्याधिकारी से था, किन्तु कालान्तर में इसका अर्थ गाँव के प्रधान या जमींनदार (जागीरदार) हो गया। ये जागीरदार अपनी भूमि की रक्षा करने में सक्षम थे चूँकि कुछ जमींनदार अथवा जागीरदार क्षत्रिय भी होते थे, अतः 'ठक्कुर' शब्द राजपूतों एवं क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा। किन्तु गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों में 'ठक्कुर' उपनाम क्षत्रियों[60] एवं ब्राह्मणों[61] दोनों के लिए ही प्रचलन में था। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि भूमिदान ग्रहणकर्त्ता चाहे वह क्षत्रिय हो अथवा ब्राह्मण दोनों भूमिकर्षण एवं रक्षण में लगे हुए थे। अतः उन्हें भूमि का स्वामी समझा गया। अतः दोनों को 'ठक्कुर' उपनाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इसका स्पष्ट प्रमाण अभिलेख है, जिनमें ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों के लिए 'ठक्कुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः 'ठक्कुर' शब्द जातिसूचक उप पद न होकर एक शासकीय पद था। गुजरात जैसे अन्य स्थानों में इस शब्द की उत्पत्ति का इतिहास 7वीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

2. **भट्ट-** 'भट्ट' शब्द का प्रयोग उपपद के रूप में सर्वप्रथम **गुप्तकाल** में ही हुआ है। इसका शाब्दिक अर्थ **'सम्माननीय'** अथवा **'विद्वान'** व्यक्ति होता है। गाहडवाल

अभिलेख में इस शब्द का उल्लेख हुआ है।[62] गोविन्दचन्द्र के राजघाट अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि गोविन्दचन्द्र ने 'ब्राह्मण भट्ट अन्तपाणिशर्मन्' को दान के स्वरूप में वाराणसी में स्थित आदि केशव घाट पर गंगा-स्नान के पश्चात् भादपा-नामदपा के गाँव को दिया एवं उसके साथ ही साथ पटकास गाँव भी, जो कि 'अमावली पत्तला' में स्थित था, उसे भी दान में दिया गया।[63]

3. **चतुर्वेदि-** यह उपाधि उस ब्राह्मण विद्वान् के लिए प्रयुक्त की जाती थी जो चारों वेदों ऋक्, यजु, साम एवं अथर्ववेद के अध्ययन में निपुण हो। काशी के राजघाट स्थल से एक मुहर उपलब्ध हुई है, इस मुहर पर नंदी के चित्र के साथ नीचे 'चातुर्विद्यस्य' शब्द अंकित है। इस पर डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने यह विचार प्रकट किया है कि काशी में इस नाम की संस्था थी, जहाँ चारों वेदों का अध्ययन-अध्यापन होता था।[64] चतुर्वेदी उपनाम का उल्लेख गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों में भी होता है।[65] कालान्तर में इस उपाधि का प्रयोग वंशानुगत होने लगा, जो अभी भी वर्तमान् तक प्रचलन में है। यह आवश्यक नहीं था कि चारों वेदों का ज्ञाता ही 'चतुर्वेदि' समझा जाय। पिता का पुत्र भी चतुर्वेदी उपनाम अपने नाम के साथ जोड़ सकता था।
4. **दीक्षित-** संभवतः उस व्यक्ति को 'दीक्षित' सम्बोधित किया जाता था, जो दीक्ष एवं इष्टि करता था अर्थात् हवन करते हुए अग्नि में एक विशिष्ट प्रकार की आहुति प्रदान करता था। 'दीक्षित' उपनाम गाहडवाल अभिलेखों के अतिरिक्त परमार एवं चंदेल अभिलेखों में भी द्रष्टव्य होता है।[66]
5. **अवस्थी-** अवस्थी का तात्पर्य है- वे ब्राह्मण जिन्होंने नियमित रुप से आवसथिक वन या होम किया हो।
6. **त्रिपाठी-** वे ब्राह्मण जो तीनों वेदों के ज्ञाता हो, वे 'त्रिपाठी' सम्बोधित किये जाते थे। 'त्रिपाठी' शब्द के स्थान पर 'त्रि' अक्षर गाहडवाल ताम्रपत्रों में प्रयुक्त हुआ है। त्रिपाठी उपनाम का उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में अनेक स्थानों में पर आया है।[67]जिस तरह

'ठ' अक्षर 'ठक्कुर' शब्द के लिए प्रयुक्त हुआ है, ठीक उसी प्रकार 'त्रि' अक्षर 'त्रिपाठी' शब्द का प्रतिनिधित्व गाहडवाल ताम्रपत्रों में करता है।[68]

7. **शर्मा-** शर्मा उपनाम भी गाहडवाल ताम्रपत्रों में प्रयुक्त हुआ है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण 'पंडित दामोदर शर्मा' का नाम है।[69]

8. **पंडित-** गोविन्दचन्द्र के मछलीशहर ताम्रपत्र में पिरोहा ग्राम, जो कि महासोया पत्तला में पड़ता था, को पंडित वामसधाराशर्मन्, जो पंडित भरत के पौत्र. एवं पंडित पदमनाभा के पुत्र थे, को दान दिया।[70]

9. **द्विवेदी-** जो ब्राह्मण दो वेदों के ज्ञाता होते थे, उन्हें 'द्विवेदी' उपनाम से संबोधित किया गया। इसका उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्र में मिलता है।[71]

10. **राउत-** यह उपनाम गाहडवाल ताम्रपत्रों में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जयचन्द्र के ताम्रपत्र राउत क्षत्रियों को दिए गए दान का उल्लेख करते हैं[72] तो वहीं कुछ ताम्रपत्रों में राउत ब्राह्मणों को दान दिए जाने का विवरण मिलता है।[73]

इन सभी के अतिरिक्त ब्राह्मणों के कई वैदिक-शाखाओं के भी उल्लेख मिलते हैं, जो उनकी वेदों के अध्ययन पर विद्वता को दर्शाती हैं। शांखायन तथा वाजसनेयी शाखाध्यायी ब्राह्मणों के नाम गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्र में मिलते हैं। उसके अन्य ताम्रपत्राभिलेख दानबुर्जुग (वि.सं. 1176) में वाजसनेयी, शांखायन एवं छान्दोग्य शाखाध्यायी ब्राह्मणों के नाम मिलते हैं। ये ब्राह्मण अपनी विद्वता एवं शुचिता के कारण गाहडवालों के शासनकाल में 'पुरोहित' एवं 'महापुरोहित' के पद पर नियुक्त किये जाते थे। जिनका प्रमुख कार्य पूजा-पाठ से सम्बन्धित यज्ञ-होम करना, वेदों का पाठ कराना, राजा के लिए यह प्रार्थना करना कि उसका राज्य धन-धान्य से पूर्ण हो, इत्यादि था। कृत्यकल्पतरु में यह उल्लिखित है कि पुरोहित उस व्यक्ति को चुना जाता था जो तपस्या एवं अनुष्ठान विधिपूर्वक करे, इतिहास, धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र एवं यज्ञ की विधि

पद्धतियों को जानने, वेदों का ज्ञाता एवं धार्मिक कार्यों को पूर्ण करने में कुशल हो।[74] गाहडवाल शासकों द्वारा अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा बील्हदीक्षित वंश के ब्राह्मणों को सर्वाधिक दान प्रदान किया गया है, इसके साक्षी अभिलेख हैं। गोविन्दचन्द्र के शासनकाल से ही पुरोहिती के कार्य का सम्पादन 'बील्ह दीक्षित' वंश ही करता था। इनके वंशजों को 'पुरोहित' एवं 'महापुरोहित' सम्बोधित किया गया है।[75] बील्ह के पुत्र 'जागूशर्मा' को 'महापुरोहित' गोविन्दचन्द्र के शासनकाल में सुशोभित किया गया। इसे अनेक ग्राम दान में दिये गये। गोविन्दचन्द्र के एक अभिलेख में उसे 'पुरोधा' कहा गया है।[76] वि.सं. 1178 में जागू के भाई को ग्राम दान में दिया गया था। प्रहराजशर्मा अथवा प्रह्लाद शर्मा, जागू शर्मा का पुत्र था, उसे जयचन्द्र का गुरु एवं पुरोहित दोनों नियुक्त किया गया।[77] जयचन्द्र के राज्याभिषेक संस्कार से लेकर उसके पुत्र हरिश्चन्द्र का जातकर्म एवं नामकरण संस्कार में प्रहराजशर्मा का विशेष योगदान था। 'महापुरोहित' राज्य का सबसे प्रमुख पण्डित होता था। 'वील्ह' के वंशज इस पद पर भी निरन्तर कार्यरत थे। इन सभी कृत्यों के साथ ही साथ 'पुरोहित' एवं 'महापुरोहित' राजकुमारों को उपदेश एवं शिक्षा-दीक्षा भी देते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि राज्य अथवा शासक पर इनका प्रमुख नियंत्रण होता था। राजा इनसे विचार-विमर्श करके ही अपनी योजना बनाता था।

1. **महत्तक एवं महामहत्तक-** इन दोनों अधिकारियों का सम्बन्ध ग्राम प्रशासन से था। इसका कार्य-क्षेत्र केवल एक ग्राम तक सीमित नहीं था वरन् पड़ोस के गाँवों का शासन-प्रबन्ध भी इन्हीं के द्वारा होता था। पूर्वमध्यकाल में जिस प्रकार ग्राम-प्रमुख का नाम 'ग्रामिक' से परिवर्तित होकर 'महत्तक' हो गया। ठीक उसी प्रकार ग्रामाध्यक्ष का नाम बदलकर 'महामत्तक' हो गया। महत्तक 'वाल्हण' का नाम गोविन्दचन्द्र के उत्कीर्ण ताम्रपत्र में आया है। एक अन्य महत्तक दयिन् शर्मा का उल्लेख गोविन्दचन्द्र के अभिलेख में मिलता है, जिसमें उसे वाराणसी में एक गृह (घर) दिये जाने का प्रमाण मिलता है।[78]

2. **क्षत्रिय-** क्षत्रिय वर्ण भी समाज में विद्यमान था। कुमारदेवी (गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र की पत्नी) के सारनाथ अभिलेख में 'क्षत्रिय' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[79] लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु में क्षत्रिय शब्द को 'क्षत्रातत्राणम्' से निःसृत बताया है।[80] जिसका प्रमुख कार्य अस्त्र-शस्त्र धारण करके राष्ट्र की रक्षा करने के साथ ही वर्ण एवं धर्म की भी रक्षा करना था। आपत्तिकाल में क्षत्रियों को कृषि-कार्य करने की सलाह मनु का उद्धरण देते हुए लक्ष्मीधर ने भी दिया है।[81] जयचन्द्र के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने वि.सं. 1233 में क्षत्रिय राउत राज्यधरवर्मन् को कई ग्राम दान में दिए।[82] क्षत्रियों के भी दो उपविभाग किये गए- 1. शासक वर्ग एवं 2. साधारण (सैनिक) क्षत्रिय वर्ग।

3. **वैश्य-** प्राचीन धर्मशास्त्रों में 'द्विज' के अन्तर्गत, ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीनों वर्ग सम्मिलित थे। 'द्विज' के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि समाज में वैश्य वर्ग विद्यमान था। जयचन्द्र के लाहडपुरा अभिलेख में साहूकार, महाजन, श्रेणी के सदस्यों की परिगणना की गई है, जिससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वैश्य वर्ण की समाज में भागीदारी थी।[83] अभिलेखों में इनके लिए वणिक् एवं श्रेष्ठि शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्रेणी अथवा निगम प्रायः गाँवों में कार्यरत् थी, इनका स्वयं का नियम-कानून होता था, जिसमें राजा हस्तक्षेप नहीं करता था। लाहडपुरा ताम्रपत्र[84] से यह ज्ञात होता है कि प्रायः आपसी झगड़ों का निपटारा इन्हीं के द्वारा होता था, किन्तु राजा का निर्णय अंतिम एवं सर्वोच्च होता था। कृषि एवं व्यवसाय का भार वैश्य वर्ण के ऊपर था।[85] इस विषय में अलबरुनी ने लिखा है कि- वैश्य का धर्म है कि वह खेती करे, भूमि को जोते, पशु पाले एवं ब्राह्मणों की आवश्यकता पूरी करे।[86] अलइदरीसी ने वैश्यों को कला कौशल में निपुण कारीगर बताया है।[87] 11-12वीं शताब्दी तक वैश्यों के कार्यों में काफी परिवर्तन हो चुका था।

4. शूद्र- मनु स्मृति में शूद्रों के कर्त्तव्यों में तीनों वर्णों की सेवा करना निर्धारित किया गया था। 'शूद्रक' शब्द गाहडवाल ताम्रपत्रों में आया है।[88] जयचन्द्र के लाहडपुरा ताम्रपत्र में चांडाल शब्द प्रयुक्त होते हुए यह कहा गया है कि 'अपराधी से बड़ा दोषी उसका सलाहकार (विमंत्री) होता है।[89] इस कारण उसके साथ कुत्ते, गधे एवं चांडाल जैसा आचरण करना चाहिए।' इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में चांडाल जाति भी विद्यमान थी। इस अभिलेख में 'दस्कार' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो कि संभवतः शूद्रों की तरफ ही इंगित करता हैं।[90] लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु में यह उल्लिखित है कि यदि शूद्र द्विजों की सेवा नहीं करता, तब भी उसे ब्राह्मणों का सेवा-सत्कार करना चाहिए, किन्तु इसके साथ ही लक्ष्मीधर ने शूद्रों को आततायी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से श्रेष्ठ माना है।[91] इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में कदाचित शूद्रों की स्थिति ठीक थी किन्तु अभिलेखीय साक्ष्य इस विषय में मौन हैं। अलबरुनी[92] इस विषय में यह कहता है कि शूद्र ब्राह्मण के सेवक की भाँति है, जो उनके कार्य-व्यापार की देखभाल करता है, साथ ही उनकी सेवा करता है। प्रत्येक ऐसा कृत्य जिस पर ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था; जैसे- ईश्वर भक्ति, वेद-अध्ययन, यज्ञ-हवन, शिक्षा आदि पर उसका अधिकार वर्जित था। यद्यपि वह ऐसा कार्य करता है तो ब्राह्मण राजा से उसकी जुबान काटने का निर्देश देता है। इब्दखुर्दाब्जा के अनुसार शूद्रों का प्रधान कार्य कृषि करना ही था।[93]

कायस्थ-

समाज में कायस्थ वर्ग भी विद्यमान था। कायस्थ एक व्यावसायिक वर्ग के रूप में गुप्तकालीन दामोदरपुर ताम्रपत्र में ज्ञात होता है।[94] याज्ञवल्क्य स्मृति में कायस्थ शब्द का उल्लेख मिलता है। किन्तु काल-परिवर्तन के साथ ही 'कायस्थ' नामक वर्ग एक जाति के रूप में विकसित होने लगी। गोविन्दचन्द्र के वि.सं. 1182 के ताम्रपत्र में हमें कायस्थ

नामक एक जाति का उल्लेख मिलता है।[95] कायस्थ जाति का विभाजन कई वर्गों में हो चुका था; जैसे- वास्तव्या (आधुनिक रूप श्रीवास्तव)। 'वास्तव्या' गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों के रचयिता थे अथवा श्रीवास्तव परिवार के कायस्थ 'उलहाना' के पुत्र 'किथना' का नाम आता है। 'ठाकुर' की उपाधि से भी कुछ गाहडवाल ताम्रपत्रों में इन्हें सम्बोधित किया गया है।[96]

आश्रम-व्यवस्था का प्रचलन इस काल तक भी बना रहा। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम समाज के सुदृढ़ मेरूदण्ड के समान थे। आश्रमों में सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में ही मनुष्य शिक्षा ग्रहण करता है। ब्रह्मचर्य का पालन नित्य-प्रतिदिन करते हुए वह अपने समस्त कृत्यों को करता था। वह गुरु-गृह में रहकर ही अध्ययन एवं अपने विशिष्ट कर्त्तव्यों को करता था।[97] गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करनें के पश्चात् ब्रह्मचारी धार्मिक-कार्य करते हुए जीवन का आनन्द लेता था एवं संतानोत्पत्ति करता था। मनु ने इस आश्रम को सभी आश्रमों का आधार माना है।[98] मनुस्मृति में यह वर्णित है कि यदि किसी राष्ट्र में अच्छे गृहस्थ न हों तो वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है।[99] संभवतः इसी को दृष्टि में रखकर मनु ने इस आश्रम को श्रेष्ठ माना है। गाहडवाल ताम्रपत्रों में 'होम', 'तर्पण' का उल्लेख आया है, जिसे गृहस्थ सम्पन्न किया करते थे।[100] **वानप्रस्थ आश्रम** में, गृहस्थ जीवन के समस्त कार्यों को सम्पन्न करने के पश्चात् प्रवेश किया जाता था। मनु के अनुसार, जब व्यक्ति यह देख ले कि उसके सिर के बाल पकने लगे हैं व शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं तब उसे 'वानप्रस्थ आश्रम' स्वीकार कर वन में चले जाना चाहिए।[101] 'वानप्रस्थी' को सपत्नी रखने की स्वीकृति मनु ने दी हैं।[102] **संन्यास आश्रम** में व्यक्ति पूर्णरुपेण ईश्वर भक्ति एवं मोक्ष पाने हेतु तत्पर था। सभी इच्छाओं का परित्याग कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए एक ही स्थान पर अधिक दिनों तक न रहने हेतु आत्मज्ञान में लीन व्यक्ति संन्यासी सम्बोधित किया गया।[103]

विवाह समाज का एक प्रमुख अंग थी। समाज का आधार कुटुम्ब होता है, जिससे विवाह बनता है। इसे समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तत्कालीन समाज में ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस, पैशाच सभी प्रकार के विवाह होते थे; किन्तु अभिलेख इस विषय में मौन है। गाहडवाल काल में राक्षस विवाह का एक उदाहरण साहित्य में मिलता है, जिसमें यह उल्लेख है कि राजा जयचन्द्र ने एक नागरिक की पत्नी 'सुहवा' का अपहरण करके उसे अपनी पटरानी बनाया।[104] इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण राजा जयचन्द्र की बहन संयोगिता एवं पृथ्वीराज चौहान का विवाह है, जिसमें कन्या का अपहरण करके पृथ्वीराज ने विवाह किया।[105] किन्तु यह पूर्णरूपेण राक्षस विवाह नहीं माना जा सकता क्योंकि संयोगिता की भी इसमें सहभागिता थी। अतः इसे 'गांधर्व विवाह' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

समाज में **बहुपत्नी प्रथा** का भी प्रचलन था। इसकी पुष्टि साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों दोनों में होती है। गोविन्द्रचन्द्र की चार रानियों के बारें में सूचना प्राप्त होती है- कुमारदेवी[106], नयनकेलिदेवी[107], गोसल्लदेवी[108], बसंतदेवी।[109] गोविन्दचन्द्र के पिता मदनपाल की भी दो रानियाँ थी- राल्हण देवी[110] (गोविन्दचन्द्र की माता), एवं पृथ्वीश्री।[111] जयचन्द्र की सोलह पत्नियाँ थी, ऐसी सूचना प्रबन्धचिन्तामणि से भी होती है।[112] किन्तु यह प्रथा राजघरानों में ही अत्यधिक प्रचलन में थी। अधिक संभव यहीं लगता है कि सामान्य जनसमुदाय इस प्रथा से दूर था। अतः राजपरिवारों में प्रचलित इस प्रथा के आधार पर इसे पूर्वमध्ययुगीन समाज में प्रचलित नहीं माना जा सकता।

पूर्वमध्यकालीन समाज में संस्कारों के अलग-अलग विधान थे। जो कि परवर्ती काल से ही चले आ रहे थे। भिन्न-भिन्न संस्कारों का वर्णन गाहडवालों के काल में भी होता है। गोविन्दचन्द्र के ताम्रपत्र वि.सं. 1174 से ज्ञात होता है कि अपने पिता के वार्षिक श्राद्ध (अंत्येष्टि संस्कार) के अवसर पर गोविन्दचन्द्र ने पुरोहित जागूशर्मन को

केसर पत्तला के सुनाही ग्राम का दान किया।[113] गोविन्दचन्द्र के अन्य ताम्रपत्र में यह उल्लिखित है कि ''वाराणसी के कपालमोचन घाट पर स्नान करने के पश्चात् गोविन्दचन्द्र ने अपने स्वर्गवासी पूर्वजों के श्राद्धकर्म या अंत्येष्टि क्रिया करने के पश्चात् 'नौलासताविसिका' में सुलतानी गाँव का दान किया।''[114] अन्य गाहडवाल शासक राजा जयचन्द्र के ताम्रपत्र वि.सं. 1232[115] में 'जातकर्म' एवं नामकरण संस्कार का उल्लेख मिलता है, जिसमें जयचन्द्र ने पुत्र जन्म के सुअवसर पर हरिश्चन्द्र (जयचन्द्र का पुत्र) का जातकर्म एवं नामकरण संस्कार किया।

पूर्वमध्यकालीन समाज में नगरों में वेश्यायें रहती थीं।[116] काशी में वेश्याओं का भी एक लम्बा इतिहास है। इन्हें 'गणिका' भी सम्बोधित किया जाता था। लक्ष्मीधर के 'कृत्यकल्पतरु' में यह वर्णित है कि ''इन्द्रध्वज के उत्सव के समय गणिकाओं ने, निगम को निमंत्रण भेजा था।[117] इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में वेश्याओं (गणिकाओं) का अपना एक निगम (संघ) होता था। देवदासियों के भी प्रमाण तत्कालीन समाज में परिदृश्य होते हैं। इनका मुख्य कार्य मंदिरों में गायन, वादन व नृत्य आदि था। गाहडवालों के काल में भी वेश्याएँ समाज में दृष्टिगत होती हैं। चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्राभिलेख वि.सं. 1150[118] में वेश्याओं के संदर्भ में यह सूचना ज्ञात होती है कि- ''**स्वार्थैकनिष्ठानि वेश्याविलसितानी**''। अर्थात् वेश्याएँ अच्छे एवं बुरे कार्यों में अपने नखरे प्रस्तुत करती हैं। अभिलेख में वर्णित है कि- ''अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु व्यक्ति जिस प्रकार अच्छे एवं बुरे कार्यों के बीच भेद नहीं कर पाता, ठीक उसी प्रकार वेश्या भी अच्छे एवं बुरे कार्यों का चोचला (दिखावा) व नखरा करती हैं लेकिन वह सिर्फ अपना स्वार्थ देखती है।'' आगे की पंक्तियों में अभिलेख में यह वर्णित है कि ''यह सिर्फ कुछ समय के लिए ही होता है जिस प्रकार से पानी के बुलबुले का जीवन कुछ समय के लिए ही होता है।''

पशुपालन भी समाज का एक अंग होता था। समाज में लोग पशुओं को अपने लाभ एवं अभिवृद्धि हेतु पालते थे। गाहडवाल राज्य गोधन में भी सम्पन्न था। क्योंकि दान देने के लिए गायों का भी उपयोग किया जाता था। 1186 ई० के जयचन्द्र के फैजाबाद ताम्रपत्र में लाखों गायों के दान का विवरण मिलता है।[119] गाय की महत्ता प्रत्येक काल में ही रही है। गाहडवालकालीन समाज में गाय की महत्ता सर्वाधिक थी, जिसकी पुष्टि जयचन्द्र के लाहडपुरा अभिलेख से भी होती है, इसमें पशुओं की चोरी के संदर्भ में 'गाय' का उल्लेख आया है।[120] अभिलेख में गाय को 'गो-महिषि' सम्बोधित किया गया हैं। इसी अभिलेख में कुत्ते, गधे आदि पशुओं का भी उल्लेख मिलता है। अभिलेखों में हाथी का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[121] गोविन्दचन्द्र के गगहा अभिलेख में हाथी के संदर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि- 'गोविन्दचन्द्र ने राजाओं के हाथियों को पकड़ा।' राजा जयचन्द्र भी हाथियों का अत्यन्त शौक रखता था। अश्वपति, गजपति उपाधियों से भी यह सूचना प्राप्त होती है कि अश्व एवं गज सेना के अंग होते थे एवं इनके पालन-पोषण पर अत्यधिक बल दिया जाता था।[122]

खाद्य-पदार्थ एवं वस्त्राभूषण-

पूर्वमध्ययुगीन काशी के समाज में शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार के लोग विद्यमान थे। जो केवल अन्न एवं वनस्पति का सेवन करते थे, उन्हें शाकाहारी वर्ग के अन्तर्गत रखा गया इसके विपरीत जो माँस के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों का सेवन करते थे, उन्हें मांसाहारी कहा गया। दान-बुर्जुग अभिलेख में दूध एवं चावल का उल्लेख आया है।[123] जिससे यह अनुमानित होता है कि चावल का प्रयोग एक प्रमुख खाद्य-सामग्री के रूप में होता था। मधु के गुच्छे, आम के पेड़, अंगूर की लता, मछली का भण्डार, पान के मैदान, नमक आदि का उल्लेख गाहडवाल अभिलेखों में मिलता है। कृत्यकल्पतरु[124] में गोधूम (गेहूँ) की चर्चा हुई है। जन्माष्टमी के अवसर पर गेहूँ से बने

पदार्थों का सेवन किया जाता था। उक्तिव्यक्तिप्रकरण[125] से ज्ञात होता है कि पूड़ी भी लोगों के खाद्य-पदार्थों में से स्वादिष्ट व्यंजन थी। इसे कढ़ाई में उलट-पुलट कर बनाया जाता था। ध्यातव्य है कि काशी के आस-पास अच्छी मिट्टी, जलवायु एवं पानी की सुलभता के कारण धान, जौ एवं गन्ने की अच्छी खेती होती थी। इसके अतिरिक्त खाद्यानों में चना, सरसों आदि का उल्लेख 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' से मिलता हैं। अवदान कल्पलता से यह विदित होता है कि काशी के लोग अधिकांशतः चावल ही खाते थे। सम्पूर्ण जिला गंगा की घाटी में अवस्थित होने के कारण यहाँ धान की खेती अच्छी होती थी।

इन सभी प्रकार के व्यंजनों में घी का भी सेवन किया जाता था। तिल एवं गुण की सुलभता थी। गाहडवालकालीन कृत्यकल्पतरु से यह विदित होता है कि इस काल में खाद्य-पदार्थ के रूप में मांस का प्रचलन अत्यधिक था।[126] मृग के मांस के लिए राजा जयचन्द्र के एक ताम्रपत्र वि.सं. 1228 में 'सजलसमत्सय' शब्द व्यवहृत हुआ है।[127] कृत्यकल्पतरु में वर्णित है कि ब्राह्मण भी मांस का सेवन देवताओं को अर्पण करने के पश्चात् कर सकते हैं।[128] काशी में इन सभी के साथ खाने में फलों का विशेष योगदान था। यहाँ आम, अमरुद, अंगूर, कटहल आदि फलों के वृक्षों की सघनता थी, जो तत्त्कालीन जन-जीवन की अभिरुचि एवं आहार पर प्रकाश डालते हैं। इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल से ही काशी धन-धान्य से परिपूर्ण था, इसलिए खान-पान की उत्तम व्यवस्था रहती थी।

प्रत्येक समाज में **वस्त्र एवं आभूषण** सर्वप्रिय तथा आवश्यक सामग्री समझे गयें हैं। साहित्य एवं पुरातत्त्व में यत्र-तत्र प्राचीन काशीवासियों के वेशभूषा एवं अलंकरण सम्बन्धी तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, जिसके आधार पर हम प्राचीन काल के मनुष्यों के रहन-सहन, पर प्रकाश डाल सकते हैं। गाहडवालकालीन अभिलेखों में इसका नितान्त अभाव मिलता हैं। 'नैषधियमचरित'[129] से यह ज्ञात होता है कि समाज में श्वेत-वस्त्रों का प्रचलन

था। 'उत्तरीय' नामक वस्त्र का उल्लेख भी नैषधियमचरित्र' में आया है, जो वक्षस्थल पर लपेटा जाता था। स्त्रियाँ साड़ी (दुकूल) धारण करती थीं, जो उत्तरीय एवं अधोवस्त्र का काम करता था। काशी के रेशमी वस्त्र सर्वाधिक विख्यात् थे, जिनका प्रयोग प्रत्येक काल से ही होता आ रहा था। इसके साथ ही आभूषणों का भी प्रचलन था। स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य एवं श्रृंगार के लिए आभूषणों का प्रयोग करती थी। शरीर के विभिन्न अंगों के लिए विभिन्न आभूषणों यथा- नुपुर, मुकुट, शिरोरत्न, शिरोमणि, चूड़ामणि, शेखर, कोटीर, किरीट, हार, वलय, कंकण का प्रयोग स्त्रियों द्वारा किया जाता था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काशी में सामाजिक अवयवों के रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था, जाति, परिवार, विवाह, संस्कार, खान-पान एवं वस्त्राभूषण, स्त्रियों की दशा आदि विशेष रूप से योगदान देते हैं, इसकी पूर्ति में सहायक साहित्यिक साक्ष्य के साथ-साथ विविध राजवंशों के अभिलेख अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ-

1 *उत्तराध्ययन सूत्र*, 25-31.
2 वही, पूर्वोक्त।
3 *आचारांग चूर्णि*, पृ0सं0- 5.
4 पाठक, रश्मि, 2008, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, दिल्ली, पृ0सं0- 220.
5 वही, पूर्वोक्त।
6 सारनाथ लघु शिलालेख, का0इ0इ0, खण्ड-1, पृ0सं0 116, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
7 वही, पूर्वोक्त।
8 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास*, पृ0सं0- 43.
9 अहरौरा लघु शिलोलख, वी.वी. मिराशी द्वारा *भारती*, अंक-5 में प्रकाशित, पृ0सं0- 135.
10 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास*, पृ0सं0- 48.
11 वही, पूर्वोक्त, पृ0सं0- 48.
12 वही, पूर्वोक्त, पृ0सं0- 49.
13 जायसवाल, के0पी0, *हिस्टोरिकल डाटा ऑफ गार्गी संहिता*, जे0बी0 ओ0आर0एस0, भाग-14, पृ0 402, श्लोक 28-31.
14 कनिष्क का सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख, वर्ष-3, एपि0इण्डि0 भाग-8, पृ0सं0- 171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।
15 जायसवाल, के0पी0,1990, *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया* (150-350 ई0), दिल्ली, लो प्राइम पब्लिकेशन, पृ0सं0- 4.
16 *विष्णुधर्मसूत्र*, 84.
17 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-8, पृ0सं0- 171.
18 स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ लेख, *भारतीय अभिलेख संग्रह भाग-3*, अनुवादक- गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, पृ0सं0- 66.
19 वही, पूर्वोक्त।
20 उपाध्याय, एस0एन0, 2007, *प्राचीन भारत में सामाजिक संरचना*, दिल्ली, पृ0- 87.
21 विष्णुस्मति, 5/3-4.
22 स्कन्दगुप्त भीतरी स्तम्भ लेख, पूर्वोक्त।
23 पूर्वोक्त।
24 पूर्वोक्त।
25 एस0एन0 उपाध्याय, पूर्वोक्त, पृ0सं- 104.

26 गुप्त, परमेश्वरी लाल, 2002 (घ्र) संस्करण, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख,* खण्ड-2, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0-153-162.
27 अग्रवाल, वासुदेव शरण, 1984, *वाराणसी सील्स एण्ड सीलिंग्स,* पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी.
28 मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृ0सं0- 77.
29 वही, पूर्वोक्त।
30 वही, पूर्वोक्त पृ0- 78
31 गुप्त, परमेश्वरी लाल, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख,* पूर्वोक्त, पृ0सं0- 172-173.
32 *मनुस्मृति,* (3/21) ''ब्राह्मो दैवस्त थैवार्षः प्रजापत्यस्तथाऽऽसुरः। गान्धर्वो रक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।''
33 भीतरी स्तम्भ लेख, पूर्वोक्त, पृ0सं0- 153-162.
34 वही, पूर्वोक्त।
35 वही, पूर्वोक्त।
36 वही, पूर्वोक्त।
37 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0सं0- 36.
38 सिंह, राघवेन्द्र प्रताप, 2008 (प्रथम संस्करण), *पूर्वमध्यकालीन उत्तर भारत का सामाजिक इतिहास,* वाराणसी, पृ0सं0- 18.
39 वही, पूर्वोक्त, पृ0-20.
40 का0इ0इ0, क्र0 56 श्लोक 14 (यशः कर्ण का खैरहा ताम्रपत्र)।
41 का0इ0इ0, क्र0 खण्ड-4, क्र0सं0 12 श्लोक 21.
42 वही, क्र0 62, श्लोक 6, क्र0 65 पंक्ति 81.
43 वही, क्र0 74, पंक्ति 36, क्र0 42 श्लोक 9, 16.
44 वही, क्र0 44, श्लोक 18, क्र0 74 पंक्ति 36.
45 वही, क्र0 48, पंक्ति 39, क्र0 50 पंक्ति 40.
46 वही, क्र0 50, पंक्ति 40, क्र0 76 पंक्ति 27.
47 वही, क्र0 74, पंक्ति 36.
48 का0इ0इ0, खण्ड-4 कर्ण का राजघाट (बनारस) दानपत्र अभिलेख, पृ0- 236.
49 का0इ0इ0, खण्ड- 4, वही, पृ0- 275.
50 का0इ0इ0, खण्ड- 4, वही, पृ0- 236.
51 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 275.
52 राजशेखर कृत *काव्यमीमांसा,* पृ0 68 पंक्ति 13-15.
53 *कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड,* पृ0 26-30, कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड, पृ0 17-19.
54 *कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड,* पृ0- 199-212.

55 डी0सी0 सरकार, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, भाग-2*, पृ0- 283 व आगे।
56 कीलहॉर्न, प्लेट ऑफ विजयचन्द्र एण्ड द युवराज जयचन्द्र वि.सं. 1224, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-116 व आगे।
57 वही, पृ0- 120 व आगे।
58 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 111 व आगे एवं चन्द्रदेव का चंद्रावती ताम्रपत्र, वि0सं0 1150 व 1156, एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड- 14, पृ0 195 व आगे।
59 काणे, पी0वी0, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, खण्ड-2, पृ0- 483-93.
60 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 18, पृ0- 134.
61 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-5, पृ0- 113.
62 गोविन्दचन्द्र का राजघाट ताम्रपत्र अभिलेख, वि0सं0 1197. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 26, पृ0-272-305.
63 वही, पूर्वोक्त।
64 जर्नल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, खण्ड 23, पृ0- 410.
65 एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 4, पृ0- 124-126.
66 एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 99.
67 कीलहॉर्न, प्लेट ऑफ जयचन्द्र, वि0सं0 1231, एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 124-126.
68 कीलहॉर्न, बनारस कॉपर प्लेट ऑफ गोविन्द्रचन्द्र एण्ड युवराज आस्फोटचन्द्र, वि0सं0 1190, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 8, 155-56.
69 एपीग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-91-101
70 गोविन्दचन्द्र का मछलीशहर ताम्रपत्र अभिलेख, वि0सं0 1201, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-5, पृ0- 155-116.
71 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 128.
72 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-18, पृ0- 134.
73 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 111-112.
74 *कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,* पृ0- 164.
75 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-2, पृ0- 358-363.
76 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 104-106.
77 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 120-121.
78 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 101-104.
79 कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-9, पृ0- 319-328, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
80 *कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,* पृ0- 252.

81 वही, *गृहस्थकाण्ड,* पृ0- 191.
82 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-8, पृ0-134.
83 सरकार, डी0सी0, लाहडपुरा इन्स्क्रिप्शन ऑफ द टाइम ऑफ जयचन्द्र, वि.सं. 1230, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-32, पृ0- 305-309.
84 वही, पूर्वोक्त।
85 वही, पूर्वोक्त।
86 *अलबरुनीज इण्डिया,* खण्ड-2, पृ0- 136.
87 इलियट एण्ड डाउसन, वही, खण्ड-2, पृ0-16-17.
88 टी0पी0 वर्मा व स्वराजप्रकाश गुप्त, *राम मंदिर : ऐतिहासिक पुरातात्त्विक साक्ष्य,* श्लोक 23, पृ0 46 'न सहसांकेन न शुद्रकेण तस्योपमान्'।
89 जयचन्द्र का लाहडपुरा अभिलेख, वि0सं0 1230, एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड-32, पृ0- 305-309.
90 वही, पूर्वोक्त।
91 *कृत्यकल्पतरु, गृहस्थकाण्ड,* पृ0- 86 एवं 427.
92 *अलबरुनीज इण्डिया, खण्ड-2,* पृ0- 136.
93 इलियट एण्ड डाउसन, खण्ड- 1, पृ0- 16.
94 बसाक, राधागोविन्द, द फाइव दामोदरपुर कॉपर प्लेट इन्स्क्रिप्शन ऑफ द गुप्ता पीरिएड, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-15, पृ0सं0- 128.
95 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 99-101.
96 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 103.
97 'वर्ण श्रमाचारपथात्प्रजाभिः'- *नैषधियम्चरितम्,* 14/45.
98 यथा वायु समाजित्य वर्तन्ते सर्वजन्तः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। *मनुस्मृति,* 3/77.।
99 वही, पूर्वोक्त।
100 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 4, पृ0 158.
101 *मनुस्मृति,* 6/1-2.
102 *मनुस्मृति,* 6/3.
103 *वामन पुराण,* पृ0- 14.
104 मेरुतुंग, *प्रबन्धचिन्तामणि* (अंग्रेजी अनुवाद-टानी), पृ0- 186.
105 *पृथ्वीराजरासो, जंगमकथा* समय, पृ0- 68, आर0एस0 त्रिपाठी, *हिस्ट्री ऑफ कन्नौज,* पृ0-325-326.
106 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-9, पृ0- 318-328.
107 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 107-108.
108 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-5, पृ0- 116.

109 रेऊ, विश्वेश्वरनाथ, *राष्ट्रकूटों का इतिहास,* पृ0 130-131.

110 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-2, पृ0- 359.

111 जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (1896, पृ0- 787-788.

112 मेरुतुंग, *प्रबन्धचिन्तामणि* (अंग्रेजी अनुवाद- टानी) 186.

113 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0- 104.

114 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 109.

115 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 4, पृ0 126-128.

116 ओमप्रकाश, *प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास,* पृ0- 151.

117 (कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड) वी0पी0 मजूमदार, *सोशियो रीलिजस कंडीशन इन नॉर्दर्न इण्डिया,* पृ0- 37. द्वारा उद्धत।

118 चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र अभिलेख वि.सं. 1150, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 14, पृ0- 194 व आगे।

119 मिश्र, आनन्दस्वरूप, *कन्नौज का इतिहास,* पृ0- 709.

120 जयचन्द्र का लाहडपुरा अभिलेख, वि0सं0- 1230,एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-32, पृ0- 307-08.

121 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-13, पृ0- 216-220.

122 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-11, पृ0- 20-26.

123 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-18, पृ0- 223.

124 *कृत्यकल्पतरु, नियतकाण्ड,* पृ0- 394-95.

125 *उक्तिव्यक्तिप्रकरण* एवं मोतीचन्द्र कृत *काशी का इतिहास,* पृ0- 134-134.

126 *कृत्यकल्पतरु, नियतकाण्ड,* पृ0- 311-317.

127 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-4, पृ0-122.

128 *कृत्यकल्पतरु, नैषधचरित्* ,15,48 वही, पृ0- 311-317.

129 *नैषधचरित्* ,15, 48

पञ्चम अध्याय

काशी की आर्थिक दशा

पंचम् अध्याय

काशी की आर्थिक दशा

किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति के सर्वतोमुखी विकास हेतु समाज के निवासियों का आर्थिक जीवन विकसित एवं समृद्ध होना अत्यन्त अनिवार्य माना गया है। भारतीय पुरुषार्थ में **'अर्थ'** की गणना श्रेष्ठ मानी गयी है। सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था के संचालन में सहायक 'कोष' (अर्थ) को प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने प्रमुख माना है। धर्म, अर्थ एवं काम की समुचित उपलब्धि हेतु कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में अर्थ की अनिवार्यता को स्वीकृत किया है।

अर्थव्यवस्था का संधि-विच्छेद करने पर यह दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है- अर्थ + व्यवस्था। अर्थ से तात्पर्य है- 'मुद्रा' (धन) एवं व्यवस्था का तात्पर्य है- 'एक स्थापित कार्य-प्रणाली।' कौटिल्य ने ही सर्वप्रथम 'अर्थव्यवस्था' शब्द का उल्लेख **'अर्थशास्त्र'** में किया है। समाज में जो कुछ भी घटित होता है, उनके पीछे आर्थिक शक्तियों का सक्रिय सहयोग होता है। इसीलिए समाज के मूल तत्त्वों को समझने के लिए इसके आर्थिक आधार को समझने की आवश्यकता है।

प्राचीन काशी की आर्थिक समृद्धि के द्योतक के रूप में चार प्रमुख स्रोत- कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य और उद्योग-धन्धे रहें होंगे। जातकों में काशी के प्रत्येक पक्ष की सूचना ज्ञात होती है, जिनमें अर्थ-व्यवस्था भी प्रमुख है। तत्त्कालीन अर्थ-व्यवस्था को समझते हुए उस काल में लिखित अन्य अभिलेखों को भी साधन बनाया गया है; क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र की एक मानक इकाई निर्धारित होती है, उसी के अनुरूप समाज का संचालन होता है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण मौर्यकालीन रुम्मिनदेई का अभिलेख है, जिसमें तत्त्कालीन अर्थ व्यवस्था की सूचना प्राप्त होती है। लेख में यह उद्धृत है कि लुम्बिनी ग्राम का कर (1/6) से घटाकर (1/8) कर दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि समाज

में मानक इकाई के रूप में (1/6) कर लिया जाता था। इन उद्धरणों के साथ ही काशी के आर्थिक-व्यवस्था को लिखने का प्रयास किया जा रहा है -

ऐसा स्वीकृत किया जाता है कि काशी जनपद एवं वाराणसी नगर की प्रसिद्धि में आर्थिक एवं भौगोलिक कारण सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। अच्छी भौगोलिक स्थिति के परिणामस्वरूप अच्छी कृषि, फसल, उद्योग-धन्धें, व्यापार-वाणिज्य एवं यातायात के मार्गों की उन्नति हुई जिसके फलस्वरूप इसका सम्बन्ध भारतवर्ष के समृद्ध एवं व्यापारिक नगरों से जुड़ता गया। इन्हीं भौगोलिक परिस्थितियों ने काशी को भूमि, जनसंख्या, वन-सम्पदा, खनिज, नदियाँ आदि को समृद्ध एवं उन्नत बनाने का प्रयास किया है। आर्थिक समृद्धि एवं रमणीयता के कारण ही संभवतः काशी को जातकों में विभिन्न उपनामों से सम्बोधित किया गया, जैसे- **जित्त्वरी**[1], **रम्यनगर**[2], **सुरंधन**[3], **ब्रह्मवर्धन**[4], **सुदर्शन**[5], **पुष्पवती**[6], **मोलिनी**[7] आदि। महाहंस जातक[8] में काशिराज के गृह-भवन में विद्यमान बहुमूल्य सामग्रियों जैसे-रत्न, सोना, चाँदी, मोती, बिल्लोर, शंख, मणि, हरितवर्ण, वस्त्र, मृगचर्म, चंदन, लोहा, ताँबा एवं हाथी दाँत के बर्तन का उल्लेख मिलता है। जातकों[9] में अनेकशः यह वर्णन प्राप्त होता है कि ब्रह्मदत्त के शासन काल में 80 करोड़ वाले ब्राह्मण, गृहपतियों एवं सेठों की स्थिति उच्चतम् थी। सुधाभोजन जातक[10] में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। महावस्तु[11] नामक बौद्ध-ग्रंथ में काशी जनपद के शासक सुबन्धु का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें राजा के पास साठ हजार हाथी, साठ हजार गायें, साठ हजार स्त्रियाँ जिनके कर्णाभूषण विभिन्न बहुमूल्य रत्नों से जटित थे, साठ हजार सैंधव घोड़े, सिंहों के चर्म से सुसज्जित साठ हजार रथ, स्वर्ण, रजत और साठ हजार राजकोष, बीस हजार ब्राह्मण, नित्य उसके दरबार में उपस्थित रहते थे। कतिपय अतिशयोक्तिपूर्ण तथ्यों के अतिरिक्त उपर्युक्त कथानक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में काशी सुसमृद्ध एवं सुसम्पन्न था। दिव्यावदान में अनेक स्थलों पर वाराणसी (काशी) के सप्तरत्नमयी होने का विवरण मिलता है।[12] जातकों में वर्णित वाराणसी नगर के चतुर्दिक प्राकार एवं परिखा के

उल्लेख यह प्रस्तुत करते हैं कि प्राचीन वाराणसी नगरी आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से सुसमृद्ध थी, जिसकी सुरक्षा हेतु उत्तम-व्यवस्था की गई थी, जिसमें कोई आसानी से प्रवेश नहीं कर सकता था।

काशी जनपद की आर्थिक-समृद्धि का विवरण ह्वेनसांग[13] ने अपनी यात्रा-विवरण में दिया है। उसके यात्रा-विवरण में यह उल्लेख है कि शहर में मुहल्ले सटे हुए थे, आबादी घनी थी, लोग धनवान होने के कारण अपने गृहों को बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रखते थे। यह विवरण काशी के आर्थिक स्थिति, नगर की रचना एवं घनी आबादी के विषय में दर्शाता है।

इन साहित्यिक उद्धरणों के साथ ही काशी-क्षेत्र में विविध कालों में हुए आर्थिक क्रिया-कलापों का वर्णन आभिलेखिक साक्ष्यों के साथ करना इस अध्याय का मुख्य ध्येय है। विभिन्न कालों में हुए काशी के आर्थिक गतिविधियों का वर्णन निम्नवत् हैः-

1. मौर्य-कालीन काशी का आर्थिक जीवन-

महाजनपदकाल से ही काशी अपने आर्थिक समृद्धि के कारण षोडश महाजनपदों में परिगणित की जाती थी। मौर्य काल तक आते-आते काशी में व्यापार एवं वाणिज्य की प्रधानता बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप इसे मगध साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया। भारतवर्ष के आर्थिक जीवन में ईसापूर्व की छठी शताब्दी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में लोहे का विस्तृत उपयोग, कृषि कार्य में संलग्न लोहे के उपयोग के परिणामस्वरूप कृषि की उन्नति, पूर्वी भारत में अनेक व्यापारिक केन्द्रों व नगरों का उदय, व्यापारिक संघों का प्रभावकारी संगठन, प्रचुर मात्रा में आन्तरिक एवं वैदेशिक व्यापार एवं सिक्कों का प्रचलन आदि प्रमुख विशेषताएँ थी। इसी आर्थिक आधार को मौर्यों ने अत्यधिक विकसित किया। कृषि से लेकर व्यापार तक अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में मौर्य शासकों ने अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया। इस नियंत्रण को बनाये रखने के लिए मौर्य शासकों

ने अनेक राजकीय अधिकारी प्रत्येक क्षेत्र में नियुक्त किये, इनमें काशी भी सम्मिलित रही होगी। जिसका अभिलेखीय प्रमाण सारनाथ लघु शिलालेख है।[14] मौर्यकालीन काशी की अर्थव्यवस्था के स्रोत के रूप में अर्थशास्त्र, विदेशी विवरण, समकालीन अभिलेख, बौद्ध साहित्य विशेषकर जातक, आदि महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

कृषि का स्थान मौर्यकाल में सर्वप्रधान था। **मेगस्थनीज**[15] यह उल्लिखित करता है कि, ''भारतीयों की दूसरी जाति में किसान लोग हैं जो दूसरों की संख्या में कहीं अधिक प्रतीत होते हैं, पर युद्ध करने तथा अन्य राजकीय सेवाओं से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में ही लगाते हैं।'' कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कृषि के विषय में जो निर्देश प्राप्त हुए है, वे अधिक उपयोगी हैं। मौर्यकाल में किस फसल की अधिकता थी अथवा किस वस्तु की खेती की जाती थी, इस सम्बन्ध में **कौटिल्य** ने लिखा है कि- ''वर्षा ऋृतु के प्रारम्भ में शालि (एक प्रकार का धान), ब्रीहि (चावल), कोद्रव (कोदों का धान), तिल, प्रियङ्गु (कंगनी का चावल), दारक (संभवतः दाल) और वरक (मोठ) बोयें जाएँ। वर्षा के मध्य में मुद्ग (मूंग), माष (उड़द) और शैव्य (?) बोयें जाएँ। वर्षा ऋृतु की समाप्ति हो जाने पर कुसुम्भ (कुसुवा), मसूर, कुलत्थ (कुल्थी), यव (जौं), गोधूम (गेहूँ), कलाय (चना), अलसी, और सर्षप (सरसों) को बोया जाएँ।''[16] कौटिल्य ने जो उपर्युक्त अन्न एवं खाद्य-पदार्थ का वर्णन अर्थशास्त्र में किया है, ये भारत के विभिन्न क्षेत्रों में खरीफ एवं रबी की फसलों में बोये जाते हैं।

काशी-क्षेत्र में भी कपास, गन्ना, धान, गेहूँ, जौ, चना, सरसों, सोपारी आदि की विशेष रूप से खेती की जाती थी।[17] मध्य गंगा-घाटी में बसे होने के कारण यहाँ फसलों की उत्कृष्ट खेती होती थी, एवं प्रचुर मात्रा में खाद्यान्न प्राप्त होता था। कपास की खेती का उल्लेख हमें **तुण्डिल जातक**[18] से प्राप्त होता है, जिसमें वाराणसी के आस-पास कपास के खेतों का वर्णन मिलता है। काशी जनपद की मिट्टियों के विश्लेषण से यह विदित होता

है कि प्राचीन काल में चंदौली (काशी-क्षेत्र) कपास की काली मिट्टी का क्षेत्र था। काशी की भूमि में गन्ने की खेती का उल्लेख मिलता है। धम्मपद्ठकथा के अनुसार काशी में गन्ने की अच्छी खेती होती थी।[19] बौद्ध-ग्रन्थ में इसके लिए 'उच्छू' शब्द व्यवहृत हुआ है। कौटिल्य ने ईख (गन्ने) की खेती को अवर (निकृष्ट) कहा है, क्योंकि इसमें बहुत सी बांधाएँ उत्पन्न होती हैं, एवं उसमें परिश्रम एवं खर्च भी अत्यधिक पड़ता है। सीहचम्मजातक[20] से यह ज्ञात होता है कि काशी में जौ- गेहूँ की भी खेती होती थी इसके पुरातात्त्विक साक्ष्य प्रहलादपुर के उत्खनन से प्राप्त जौ एवं गेहूँ के दानों से होती है।[21] इसके अतिरिक्त मौर्यकाल में अन्य भी अनेक अन्न, शाक, कन्दमूल फल आदि का उल्लेख किया गया है। इनमें मरीच (मिर्च), शृङ्गि, फालसा, जामुन, कटहल एवं अनार उल्लेखनीय हैं। निःसंदेह मौर्य काल में विविध प्रकार के अन्न, फल एवं शाक-कन्द मूल फल आदि की खेती व्यापक रूप से होती थी, सम्प्रति काशी का भी योगदान इसमें निहित था। आर्थिक सहभागिता में पशुपालन का भी योगदान था। मौर्ययुगीन काशी में जनता का प्रधान व्यवसाय कृषि ही था पर साथ ही अनेक प्रकार के व्यवसाय एवं उद्योग भी उन्नत दशा में थे। आर्थिक भूगोल की ऐतिहासिक संरचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रगति भी दृष्टिगत् होती है। प्राचीन काल में काशी में विविध प्रकार के छोटे से लेकर बड़े व्यवसाय एवं उद्योग-धंधे प्रचलित थे, जिसके फलस्वरूप काशी में, आर्थिक सुसमृद्धता विद्यमान थी। मौर्ययुग में काशी के प्रधान उद्योग निम्नवत् थे-

1. **वस्त्र-उद्योग-** काशी के बने वस्त्रों का उल्लेख अर्थशास्त्र के साथ-साथ सम्पूर्ण बौद्ध-ग्रंथों में मिलता है। जातकों[22] में कपास की खेती का उल्लेख है। यह भी ज्ञात होता है कि बुद्ध-काल में एवं उसके बाद तक काशी के आस-पास कपास की अच्छी खेती होती थी। स्त्रियाँ इन खेतों की रखवाली करने के साथ-साथ कपास की महीन सूती कतवा कर गंडियाँ बनाती थी।[23] सूत काटने के लिए किस उपकरण का प्रयोग होता था, इसका विवरण कौटिल्य ने नहीं दिया है। राज्य की ओर से विधवा, विकलांग,

कन्या, प्रव्रजिता, राजदण्डित, वेश्याओं की बूढ़ी माता और वृद्ध राजदासी ही सूत कातने का कार्य करते थे। इससे यह अनुमानित किया जा सकता है कि चरखे के सदृश ही कोई सरल उपकरण सूत काटने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। प्राचीन काल में ख्याति प्राप्त काशी वस्त्रोद्योग का केन्द्र बनी हुई थी, इसमें सहायक स्थानीय कच्चा माल, जल एवं परिवहन आदि की सुविधा के साथ अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति भी सम्मिलित थे।

काशी के बने चिकने एवं मुलायम वस्त्रों के लिए 'कासिकुत्तम'[24], 'कासीय'[25], 'कासिकवत्थ'[26], 'कासिक्सुचिवत्य'[27], 'कासिकन्च मृदुं वत्थं'[28] शब्द व्यवहृत हुआ है। बौद्ध-ग्रंथ 'महापरिनिब्बानसुत्त'[29] का टीकाकार **'विहित'** कपास पर टीका करते हुए यह कहता है कि काशी का बना वस्त्र इतना सूक्ष्म एवं मुलायम था कि बुद्ध का मृत शरीर काशी के बने वस्त्रों से लपेटा गया था, वह इतना महीन तथा गठकर बुना गया था कि तेल तक नहीं सोख सकता था। काशी के वस्त्र नीले, पीले, लाल एवं सफेद रंग के बनते थे।[30] काशी के वस्त्र ऊपर एवं नीचे दोनों ओर मुलायम होते थे। सूती वस्त्रों के अतिरिक्त वाराणसी में क्षौम मिश्रित कम्बल भी निर्मित होते थे। रेशमी वस्त्र को लाख मूल्य के बराबर काशी का वस्त्र केवल एक जगह बताया गया है।[31] महावग्ग[32] में यह उद्धृत है कि एक समय काशी के राजा ने जीवक की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे अड्ढकासिक कम्बल उपहार में भेजा। अड्ढकासिकं के सम्बन्ध में मोतीचन्द्र ने यह विचार प्रकट किया है कि 'यह कोई बहुत बारीक कपड़ा रहा होगा, क्योंकि आज भी बारीक सूती कपड़े को 'अद्दी' कहते हैं।' अर्थशास्त्र से भी यह विदित होता है कि काशी और पुण्ड्र मौर्य युग में क्षौम वस्त्र के लिए विख्यात् थे। पतंजलि ने भी महाभाष्य में काशिक वस्त्र की चर्चा की है। पाणिनि के एक सूत्र (5/3/55) पर भाष्य करते हुए (कीलहॉर्न 2/413) पतंजलि कहते हैं- **'एवं हि दृश्यते इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्धो भवति काशिकस्यान्यो माथुरस्य'**, अर्थात् 'लम्बाई एवं चौड़ाई में बराबर होने पर भी काशिक वस्त्र का मूल्य

मथुरा के बने वस्त्र के मूल्य से भिन्न होता है।'[33] अर्थात् इनका मूल्य लम्बाई-चौड़ाई पर नहीं वरन् कारीगरी पर निर्भर होता था। इस विवरण से यह भली-भाँति प्रकट है कि मौर्य-युगीन काशी में वस्त्र-उद्योग अत्यन्त उन्नत दशा में था।

2. **काशिक चन्दन उद्योग-** भीमसेन जातक[34] में काशिक वस्त्रोद्योग के साथ-साथ काशिक चन्दन उद्योग का भी विवरण प्राप्त होता है। यह काशी का दूसरा प्रमुख उद्योग था। 'विलेपन' शब्द चन्दन के लिए व्यवहृत हुआ है। मज्झिमनिकाय[35], संयुक्त निकाय[36], कथावत्थु[37], सुत्तनिपात अट्ठकथा[38], एवं पण्डर जातक[39] में 'काशिक चन्दन' का माला गन्ध विलेपन के साथ प्रयोग हुआ है। काशी के श्रेष्ठ चन्दन का उल्लेख 'महावस्तु अवदान' में भी हुआ है।[40] इन सभी उद्धरणों से यह विदित होता है कि व्यापार एवं उद्योग हेतु चन्दन का प्रयोग किया जाता था। सुत्तनिपात अट्ठकथा[41] से यह ज्ञात होता है कि चन्दन (दक्षिण भारत) प्रत्यन्त देशों में आयात किया जाता था, जिसका विभिन्न प्रकार से सुगन्धित द्रव्य, इत्र आदि काशी में निर्माण किया जाता था।
3. **हस्तिदन्त-** हाथी दाँत का कार्य महाजनपदकाल से ही काशी में होता था। उद्योग-धंधों की दृष्टि से तीसरा उद्योग-धंधा हाथी दाँत का कार्य दृष्टिगत् होता है। सीलवनागराज जातक[42] एवं कासाव जातक[43] में वाराणसी के हाथी दाँत बाजार या दन्तकार गली में हाथी दाँत का कार्य करने वालों को चूड़ी आदि आभूषण बनाने के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। वाराणसी की चूड़ी गली में इसके प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं। इसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी होती है, जिसमें राजघाट की खुदाई से मिले सामाग्रियों में हाथी दाँत की बनी कंघी, शंख एवं हाथी दाँत की चूड़ियाँ उल्लेखनीय हैं।[44]
4. **मिट्टी के खिलौने एवं बर्तन-** काशी जनपद या वाराणसी के आस-पास कुम्भकारों की बस्ती के प्रमाण कुम्भकार जातक[45] एवं घटिकारसुत्त[46] में मिलते हैं। वाराणसी में कुम्भकारों की बस्ती थी जो मिट्टी के बर्तन एवं मिट्टी के सुन्दर खिलौने बनाने में निपुण

थे। इसकी पुष्टि पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी होती है, जिसमें राजघाट[47] एवं प्रहलादपुर[48], अकथा[49] आदि स्थलों से खुदाई में विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन, एवं खिलौने आदि वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं।

अन्य व्यवयाय-

इन उद्योगों के साथ-साथ मौर्यकालीन काशी में विविध प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे, जिनसे अर्थव्यवस्था में अभिवृद्धि होती है। इनका विवरण निम्नवत् है :-

बढ़ईगिरी-

जातक-कथाओं[50] से यह विदित होता है कि वाराणसी के समीप ही 500 एवं 1000 जनसंख्या वाले बढ़ईयों का महाग्राम था। अपनी आजीविका हेतु वे नाव द्वारा नदी को पार करते हुए जंगलों में प्रवेश कर गृह-निर्माण कार्य हेतु लकड़ी को काटते थे एवं तख्ते चीरते थे। उस लकड़ी को नाव पर लादकर शहर में ले आते थे, फिर लोगों के आज्ञानुसार गृह बनाते थे। 'कार्षापण' के रूप में उन्हें मजदूरी प्राप्त होती थी।

बढ़ईगिरी व्यवसाय के साहित्यिक उल्लेख की पुष्टि राजघाट के पुरातात्त्विक उत्खनन से भी होती थी। यद्यपि लकड़ियों के नष्ट होने का खतरा ज्यादा रहता है, इसलिए पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। किन्तु अप्रत्यक्ष प्रमाणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बढ़ईगिरी उन्नत दशा में रही होगी। राजघाट से प्राप्त मकानों के दरवाजें का संकेत यह सूचित करता है कि इनमें लकड़ी का प्रयोग हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त उद्योग-धंधों में स्वर्णकारी, रथकारी, चर्मकारी, बॉस का कार्य आदि उल्लेखनीय है, जो अर्थव्यवस्था में अपनी भूमिका का संवहन करते हैं। लौह-कर्म भी एक प्रमुख व्यवसाय था। राजघाट के उत्खनन से कुछ ऐसे लौह-उपकरण एवं धातुमल मिले हैं जो यह प्रमाणित करते है कि इनका निर्माण वाराणसी में ही होता था। ये उत्खनन में

प्रारम्भिक काल से ही मिलने लगते हैं। उत्खनन से प्राप्त उपकरणों में हंसियाँ, फावड़ा, (रसोई के उपकरण चम्मच, पौना, कलछुल इत्यादि), बढ़ईयों के उपकरण (रुखानी, वर्मी आदि) आदि उल्लेखनीय हैं।[51]

शिल्पी वर्ग-

समाज में व्यवसाय से सम्बन्धित शिल्पी वर्ग भी प्रमुख था। प्रस्तर एवं मूर्त्ति को तराशकर उसे सही प्रारूप देना शिल्पी वर्ग का ही मुख्य कर्म था। मौर्यकालीन काशी में सारनाथ से प्राप्त अवशेषों को देखकर यह प्रतीत होता है कि स्तूप, चैत्य, विहार, मूर्त्तियाँ, अभिलेख आदि इन्हीं के द्वारा निर्मित किये गये थे, जिन्हें सम्पूर्ण रूप से राज्याश्रय प्राप्त था। **सारनाथ से प्राप्त अभिलेख** एवं **अहरौरा लघु शिलालेख** को प्रारूप प्रदान करने में शिल्पी वर्ग की अहम् भूमिका थी, जो अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक-व्यवस्था में अपना योगदान प्रकट करते हैं।[52]

व्यापार-वाणिज्य-

प्राचीन काल में काशी का सर्वाधिक महत्त्व व्यापारिक कारणों से ही था। बौद्ध एवं जैन-ग्रंथों से यह विदित होता है कि वाराणसी में 'श्रेष्ठि'[53] (सेष्ठि) एवं सार्थवाहों[54] (सत्थवाह) के कुल थे, जो व्यापार करने के लिए प्रसिद्ध थे। काशी की आर्थिक स्थिति में सार्थवाहों की प्रभूत सम्पत्ति का योगदान अत्यधिक था। दिव्यावदान एवं अवदान-कल्पलता[55] में ब्रह्मदत्त नामक राजा के शासनकाल में 'प्रियसेन' नामक सार्थवाह का उल्लेख मिलता है। जिसकी प्रभूत सम्पत्ति के विशेषण स्वरूप ''आद्यो महाधनों महाभागों'' आदि शब्द व्यवहृत हैं। अवदान कल्पलता[56] में एक अन्य स्थल पर सार्थवाह 'महाधन' एवं उसकी पत्नी 'धनवती' का उल्लेख हुआ है। महावग्ग में 'यश' नामक श्रेष्ठि का उल्लेख प्राप्त होता है।[57] निर्यावलियाओं में वाराणसी नगर के भद्र (भद्द) नामक सार्थवाह एवं उसकी पत्नी सुभद्रा का विवरण है।[58]

बौद्ध-ग्रन्थों में व्यापार करने के निमित्त व्यापारियों का उल्लेख मिलता है, जो सुदूर देशों की यात्रा किया करते थे और यात्रा में उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता था। कूटवाणिजजातक में यह विवरण मिलता है कि वाराणसी का व्यापारी 500 गाड़ियों पर सामान लादकर देहात में गया और व्यापार करके लाभ कमाकर वाराणसी लौटा।[59]

सहिचम्मजातक से भी यह विदित होता है कि व्यापारी वर्ग गाड़ियों के अतिरिक्त गधों से भी व्यापार करते थे।[60] वाराणसी के व्यापारी व्यापार करने हेतु उज्जैन भी जाया करते थे, जिसका उल्लेख गुत्तिल जातक में भी मिलता है।[61] स्थल मार्ग के साथ-साथ समुद्र की यात्रा करने वाले व्यापारियों का विवरण बौद्ध-ग्रंथों में मिलता है। बावेरु जातक में वाराणसी के कुछ वणिक वर्गों का दिशाकाक लेकर जहाज से (बावेरु राष्ट्र बेबिलोन) जाने का विवरण मिलता है।[62] व्यापारी गण घोड़े, चन्दन, मिट्टी के बर्तन, वस्त्राभूषण, खाद्य एवं पेय पदार्थ (शराब) आदि का व्यापार वाराणसी से सुदूर, स्थानीय क्षेत्रों में किया करते थे। जिससे उनकी आजीविका पूर्त्ति के साथ-साथ समृद्धता भी बनी रहें। पाणिनि के एक सूत्र पर भाष्य करते हुए पतंजलि कहते हैं कि- 'न वै तत्रेति चेदब्रूयाज्जित्वरी वदुपाचरेत् तद्यथा वणिजो वाराणसी जित्वरीत्युपचारन्ति', अर्थात्- पतंजलि के समय तक (द्वितीय शताब्दी ई0पू0 में) वाराणसी को व्यापारी गण 'जित्त्वरी' के नाम से संबोधित करते थे। जित्त्वरी का तात्पर्य है- जयनशीला, अर्थात् यहाँ पहुँचकर व्यापारियों को व्यापार में अत्यन्त लाभ होता था।[63]

आर्थिक संगठन-

मौर्ययुग के कृषक, शिल्पी एवं व्यापारी अपने-अपने संगठनों में संगठित थे। कुम्हार, लुहार, बढ़ई, शिल्पकार आदि शिल्पियों के संगठनों को 'श्रेणि' (Guild) कहा जाता था।[64] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन श्रेणियों के सम्बन्ध में विशद् रूप से विवेचन नहीं किया गया है, पर इनकी सत्ता अवश्य सूचित होती है। संभवतः इनको वैधानिक

अधिकार भी प्राप्त थे, तभी कौटिल्य ने 'अक्षपटलाध्यक्ष' (लेखाध्यक्ष) को आदेश दिया है कि श्रेणियों के नियमों और परम्पराओं को निबन्ध-पुस्तकस्थ करें।[65] ये उजाड़ भूमि पर अपनी बस्ती बना सकते थे। नगर में इनकी बस्ती एक ओर बसाई जाती थी। इनकी स्वयं अपनी सेना होती थी जिसे 'श्रेणी बल' कहा जाता था। ये दूसरों के कार्यों की जिम्मेदारी लेते थे, जिसे उचित समय पर पूर्ण करना होता था। ऐसा न करने पर सात दिनों की छूट दी जाती थी। उसके पश्चात् दण्डित किया जा सकता था। इससे प्राप्त आय सभी सदस्यों में वितरित की जाती थी। इनके कार्यों का निरीक्षण स्वयं राज्य करता था। आय-व्यय का हिसाब रखने हेतु एक अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था। वाराणसी में दंतकार विथि, मालाकार विथि, आरण्यक श्रेणि, गवायक श्रेणी, शिल्प श्रेणी प्रमुख थे, जिनका अर्थव्यवस्था में योगदान निहित रहता था।[66]

विनिमय संसाधन : मुद्रा-पद्धति-

विनिमय का साधन प्रारम्भिक अवस्था में वस्तु विनिमय ही रहा होगा। यह अनुमानित किया जाता है कि दैनिक उपयोग में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं के साथ अन्न को विनिमय का साधन बनाया गया होगा। मौर्यकाल में मुद्रापद्धति में सम्बन्ध में अर्थशास्त्र से विशद् परिचय प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रा पद्धति के संचालन के लिए एक पृथक विभाग था, जिसके अमात्य को 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे।[67] मौर्ययुग का प्रधान सिक्का पण था, जिसे 'रुप्य-रुप' भी कहते थे। यह चाँदी का बना होता था। पर यह शुद्ध चाँदी का न होकर ताँबे और सीसे आदि से मिलाकर बनाया जाता था। सिक्कें अनेक प्रकार के होते थे। स्वर्ण, रजत, ताम्र, कॉस्य आदि धातुओं से निर्मित सिक्कें राजकीय व व्यावहारिक रूप से प्रयोग में लाये जाते थे। काशी से प्राप्त (राजघाट) सिक्कें एवं मुहरें पुरातात्त्विक दृष्टि से इसका समर्थन करते हैं किन्तु ये गुप्तकालीन सिक्कें हैं। ई0पू0 द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी

में काशी में ताम्र सिक्कों का प्रचलन था। अनेक प्रकार की मिट्टी की मुहरें (सिक्कों के रूप में) प्रचलन में थी, जिससे विनिमय होता था।

पथ-पद्धति-

आर्थिक इतिहास की दृष्टि में यातायात का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान परिलक्षित होता है। यातायात के साधनों से ही मानव की समस्त वैकासिक भूमिका, आदान-प्रदान आदि निर्धारित होती है। काशी एवं अन्य नगरों के व्यापारिक सम्बन्धों एवं स्थिति की सूचनाएँ बौद्ध-ग्रंथों से विदित होती है, इसके अतिरिक्त चीनी यात्रियों के यात्रा विवरण भी इसमें अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। प्राचीन काल से ही व्यापार के लिए दो प्रमुख मार्ग- स्थल मार्ग एवं जल मार्ग थे। पुरातात्विक साक्ष्य इस पर प्रकाश डालते हैं कि परिवहन हेतु गाड़ियों जिसमें घोड़े, हाथी, खच्चर, घोड़े पर आदमी आदि जुड़े होते थे, खिलौने के रूप में प्राप्त हुए हैं। उक्त साक्ष्य स्थल मार्ग के परिवहन, व्यापार आदि तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं।

स्थल मार्ग के द्वारा प्राचीन काल में व्यापार सुदूर देशों तक प्रचलित था। तक्षशिला मौर्यकाल में भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन बिन्दु था। धम्मपद्दठकथा में वाराणसी के व्यापारी बर्तनों से लदे खच्चर को तक्षशिला के लिए व्यापार हेतु जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[68] अन्य दूसरी जगह काशी के विद्यार्थियों का शिल्प शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजने का उल्लेख तिलमुट्ठि जातक में मिलता है। वाराणसी एवं तक्षशिला का रास्ता घने जंगलों से होकर गुजरता था और उसमें डाकुओं तथा जानवरों का बराबर भय बना रहता था, ऐसा विवरण पंचाबुध जातक से ज्ञात होता है।[69] जातक कथाओं[70] एवं अट्ठकथाओं[71] से यह ज्ञात होता है कि- वाराणसी- उज्जैनी, वाराणसी- श्रावस्ती एवं वाराणसी-चेदि व्यापारिक सम्बन्धों के द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए थे।

वाराणसी (काशी) का सम्बन्ध स्थल मार्गों के अतिरिक्त उन व्यापारिक नगरों से था, जो नदियों अथवा समुद्र के किनारे बसे थे। शंखजातक से यह विदित होता है कि वाराणसी के व्यापारी नौका से ताम्रलिप्ति होते हुए व्यापारिक वस्तुएँ सुवर्ण भूमि (वर्मा) तक ले जाते थे।[72] वाराणसी का व्यापार सामुद्रिक, रत्नद्वीप (अर्थात् श्रीलंका) तक था, इस तथ्य का बोध दिव्यावदान[73] एवं अवदानकल्पलता[74] से होता है। ब्रह्मदत्त के शासनकाल में 'सुप्रिय' नामक सार्थवाह समुद्र मार्ग से रत्नद्वीप गया, फिर वहाँ से वाराणसी लौटा। ऐसा विवरण दिव्यावदान से ज्ञात होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि काशी (वाराणसी) में प्राचीन काल से ही व्यापारिक कार्य स्थल मार्ग एवं सामुद्रिक मार्ग द्वारा होता था।

जहाँ तक रही अभिलेखों की बात तो काशी से प्राप्त मौर्यकालीन अभिलेखों से प्रत्यक्ष रूप से अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित कोई सूचना नहीं प्राप्त होती, किन्तु यह विचारणीय है कि सम्राट अशोक के काल में अर्थव्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी, तभी तो उसने व्यापक रूप से अभिलेख पूरे भारतवर्ष में लिखवाये। इसमें शिल्पी वर्ग को आर्थिक संबंल अवश्य प्राप्त हुआ होगा।

2. कुषाणकालीन काशी का आर्थिक जीवन-

प्राचीन भारत के इतिहास में कुषाण काल राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से युग-प्रवर्तक का काल रहा है। साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में विभिन्न कलाओं, शिल्पों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई, साथ ही साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह काल अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है। कुषाणों की आर्थिक स्थिति के विकास में कृषि, पशुपालन, उद्योग तथा विदेशी व्यापार ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। स्वर्ण मुद्रा का प्रथम अंकन भी इसी काल में देखने को मिलता है, जो साम्राज्य में शांति-समृद्धता व प्रगति का प्रतीक है तथा उन्नत आर्थिक-स्थिति का द्योतक है।

कुषाणकालीन आर्थिक इतिहास के अध्ययन हेतु बौद्ध-ग्रंथ मिलिंदपन्हों, दिव्यावदान, महावस्तु, ललितविस्तर, अवदानशतक एवं अन्य साहित्यिक साक्ष्यों के साथ अभिलेख, मुद्रा आदि पुरातात्त्विक साक्ष्य पूर्ण प्रकाश डालते हैं।

मौर्य युग के पश्चात् भी भारतीयों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि ही रही। जौं, चावल, गेहूँ, चना, बाजरा, तिल, सरसों, ईख, कपास आदि का बहुधा उल्लेख इस काल के साहित्य में प्राप्त होता है, पर इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक बहुमूल्य पदार्थ थे, जिनके उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया जाता था, क्योंकि विदेशों में भी उनकी बहुत माँग थी। वे केसर, कपूर, तगर, चन्दन, जटामांसी, कुठ, गन्धतृण, गुग्गल, आदि थे, जो सुगन्धित द्रव्यों एवं औषधियों के निर्माण के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। कृषि का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसाकि बौद्ध युग एवं मौर्य युग में प्रचलित था। शिल्पों का भी आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। तन्तुवाय, सुवर्णकार, मणिकार, लौहकार, वर्धकि, आदि शिल्प भलीभाँति विकसित हो चुके थे। प्रायः इन्हीं सभी शिल्पों की सत्ता मौर्योत्तर काल में भी विद्यमान थी। मौर्योत्तरकाल में भी शिल्पियों एवं व्यापारियों के संगठन यथावत् थे। नीति-ग्रंथों एवं स्मृतियों के द्वारा इनके कार्यों एवं संगठन के विषय में समुचित सूचना प्राप्त की जा सकती है। शिल्पियों के 'समूह' या संगठन की संज्ञा 'श्रेणी' इस काल में भी अपनी स्थिति को बनाए रखी थी। श्रेणी के संदर्भ में 'मनुस्मृति' में यह उद्धृत है कि राजा अपने धर्म (कानून) का निर्माण करते हुए जनपद धर्मों के साथ श्रेणी धर्मों की भी समीक्षा करे, और उन्हें दृष्टि में रखकर ही अपने कानून बनाए।[75]

सार्वजनिक हित के अनेक विध कार्यों का सम्पादन 'श्रेणि' व 'निगम' आदि करते थे। देवमंदिर, सभा-भवन, प्याऊ (प्रपा), तडाग (जलाशय), आराम (उद्यान) आदि का निर्माण व मरम्मत, दरिद्र अनाथ आदि का पालन, यज्ञों का अनुष्ठान आदि ऐसे कार्य थे, जिन्हें सामूहिक हित हेतु 'श्रेणी' द्वारा सम्पन्न किया जाता था।[76] 'शिल्पियों' की 'श्रेणियों'

के समान व्यापारियों के समूह भी इस काल में विद्यमान थे, जिन्हें 'निगम' कहा जाता था। 'निगम' के मुख्य को 'श्रेष्ठी' सम्बोधित किया जाता था।

राजघाट की खुदाई से कुछ ऐसी मृण्मुद्राएँ प्राप्त हुई है, जिससे कुषाणकालीन वाराणसी के व्यवसाय एवं व्यावसायिक संगठनों का परिचय प्राप्त होता है।[77] श्रेणी एवं निगम दो प्रकार की मृण्मुद्राएँ प्राप्त हुई है। 'गवायक श्रेणी'[78] प्रकार की मुद्रा में दुग्ध व्यवसायियों का उल्लेख है, यह एक प्रकार का संगठन था। 'आरण्यक श्रेणी'[79] प्रकार की मृण्मुद्रा में 'वाराणसी आरण्यक श्रेणी' का उल्लेख है। यह वाराणसी के जंगलों के प्रमुखों का संगठन था, जो समीपवर्ती क्षेत्रों में जंगली उत्पादन यथा-लकड़ी, कोयला आदि का निर्यात करता था। राजघाट से मिली एक अन्य चौखटी मुद्रा पर 'निगमस्य' लेख कुषाणकालीन ब्राह्मी में अंकित है।[80] यह धनी व्यापारियों के स्वरूप को प्रदर्शित करता है। इससे यह अनुमानित होता है कि कुषाण काल में वाराणसी में मुख्य रूप से सर्राफा का व्यापार था जिससे लेन-देन का कार्य होता था। इसे ही 'श्रेष्ठिन' कहा जाता था।

पशुपालन-

बौद्ध एवं मौर्यकाल के ही समान कुषाणकाल के आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए पशुपालन का मुख्य योगदान रहा है। पशुपालन व्यवसाय की दृष्टि से ही नहीं वरन् भारतीय धर्म पूर्ति में भी सहायक माने गये हैं। पशुपालक, गो-पालक, महिषी-पालक श्रेणियों का होना निःसंदेह उनकी उन्नति का सूचक है। कुषाणकाल में गाय, भैंस, बकरी, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि पशु पाले जाते थे। जिनका उपयोग दूध व खाद्य-पदार्थों के साथ-साथ व्यवसाय में भी किया जाता था। गाय से दूध, दही, मक्खन, घी बनाये जाते थे। गाय के बछड़े बड़े होकर हल एवं गाड़ी खींचने के उपयोग में लाये जाते थे। ये सभी जीविका प्रदान करने के लिए सर्वोच्च साधन थे। घोड़े का पालन-पोषण व्यापारिक दृष्टि से किया जाता था। हाथी कुषाणकालीन समाज का मुख्य पशु था इससे

'वाराणसी-वासियों', को मूल्यवान हाथी दाँत की प्राप्ति होती थी। इस तरह से कुषाण काल में पशुपालन अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने वाला एक अति महत्त्वपूर्ण व्यवस्था था।

आन्तरिक एवं विदेशी-व्यापार-

शिल्प की उन्नति के कारण प्राचीन भारत में बहुत से ऐसे नगरों का विकास हो गया था, जो व्यापार के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, इनमें वाराणसी (काशी) का भी स्थान प्रमुख था। नगरीय सभ्यता के विकास के साथ कृषि पर पूर्ण निर्भरता भी घटती रही और समयानुसार व्यापार एवं व्यवसाय आर्थिक-जीवन के केन्द्र-बिन्दु बन गये। व्यवसायों को समूहों द्वारा क्रियान्वित किया जाता था, इसके लिए 'श्रेणी' शब्द व्यवहृत हुआ है, जैसाकि उपर्युक्त पंक्तावली में निहित है। बैंकों के रूप में इस काल में श्रेणियों ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। विदेशी वाणिज्य-व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन देने के लिए कुषाण शासकों ने बड़ी संख्या में स्वर्ण मुद्राएँ जारी की।

कुषाणों का विदेशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध था। इनका आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार दोनों ही चरमोत्त्कर्ष सीमा पर था। कुषाणकाल में सूर्पारक, राजगृह, श्रावस्ती आदि प्रसिद्ध स्थानों के साथ वाराणसी भी व्यापार के लिए प्रसिद्ध थी। नगर में पण्यशालाओं अथवा दुकानों में बैठकर माल का विक्रय करने वाले वणिकों या व्यापारियों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के व्यापारी भी हुआ करते थे, जो पण्य पदार्थों को एक स्थान व प्रदेश से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचने का कार्य करते थे।[81] ये व्यापारी समूह बनाकर चलते थे एवं अपने सामान एवं स्वयं की रक्षा के लिए अन्य व्यक्तियों को सशस्त्र रखते थे। व्यापारियों के इन समूहों को 'सार्थ' कहा जाता था एवं इनके मुखिया को 'सार्थवाह'। सार्थों (काफियों) में सम्मिलित व्यापारियों की वस्तुएँ पृथक-पृथक रहती थीं और उसकी ब्रिकी से जो नफा-नुकसान हो, उसके लिए वे ही स्वयं जिम्मेदार होते थे। किन्तु उन्हें 'सार्थ' के सदस्य होने के कारण 'सार्थ' के अध्यक्ष (ज्येष्ठक) के आदेशों के पालन के साथ अनुशासन

में रहना होता था। मौर्ययुग में चार राजमार्ग प्रधान थे जो पाटलिपुत्र से उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम की ओर जाते थे। राजा अशोक ने इन राजमार्गों के साथ-साथ छायादार वृक्षों की स्थापना करवाई एवं प्याऊ लगवाये। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि मौर्योत्तर काल में भी राजमार्गों का प्रयोग जारी रहा एवं व्यापारी व्यापार करने के लिए दूर-दूर तक आते-जाते रहे।

कुषाणों का भारत के साथ चीन, मध्य-एशिया एवं पश्चिमी देशों, दक्षिण-पूर्व एशिया आदि के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। लेकिन इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भारत-रोम व्यापार था। भारत से पश्चिम देशों (पाश्चात्य देशों) में हाथी दाँत का सामान, मसालें, मोती, सुगन्धित द्रव्य, सूतीवस्त्र एवं अन्य वस्तुएँ बिकने के लिए जाती थी। जिसके बदले में भारत को बड़ी मात्रा में स्वर्ण की प्राप्ति होती थी। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन समय में भी भारत अपने महीन वस्त्रों एवं मलमल के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। **पेरिप्लस** में इस बात का उल्लेख है कि प्रथम शताब्दी ई0 में भारत की सबसे अच्छी मलमल को गेंजेटिक कहते थे अर्थात् वह गंगा के पास बनती थी।[82] किन्तु शॉफ यह मानते है कि यह मलमल ढांका के पास बनती होगी। काशी में भी उस समय अच्छे से अच्छे मलमल तैयार होते थे और संभव है कि 'गेंजेटिक' से तात्पर्य काशी के मलमल से रहा हो।

इन सभी स्रोतों के साथ ही कुषाण काल में प्रचलित विभिन्न शिल्प, उद्योगों एवं व्यवसायों को समझने के लिए पुरातात्त्विक सामग्री में अभिलेख एवं सिक्कें बड़े ही महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। ये अभिलेख स्तम्भों, गुफाओं, शिलाओं, प्रतिमाओं व मुद्राओं पर उत्कीर्ण बहुमात्रा में प्राप्त हुए हैं। कुषाणकालीन काशी से सारनाथ बोधिसत्त्व प्रतिमा लेख वर्ष-तृतीय[83], एवं पालि भाषा का लेख प्राप्त हुआ है। इन अभिलेखों से तत्कालीन समाज में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक स्थिति परोक्ष रूप से ज्ञात होती है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि शासकों एवं अन्य जन द्वारा प्रदान किये गये आर्थिक अनुदान से भी अभिलेख उत्कीर्ण

करवाये जाते थे। इन अभिलेखों के द्वारा ही हमें शासक वर्ग के लोगों द्वारा किए गए जनकल्याण के कार्यों, भूमि अनुदान व धर्मार्थ कार्यों के विषय में सूचना प्राप्त होती है।

मुद्राएँ तत्त्कालीन आर्थिक दशा को जानने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। कुषाण शासकों के द्वारा बड़ी संख्या में सोने के सिक्कें जारी किये गये जिनके ऊपर रोमन प्रभाव दिखाई देता है। वस्तुतः ये सिक्कें विदेशी-व्यापार के लिए ही प्रचलित किए गये थे। सामान्य व्यापार-व्यवसाय के लिए चाँदी तथा ताँबें की मुद्राएँ प्रचलित थी। वाराणसी के राजघाट से कुषाण राजवंश के अनेक सिक्कों (स्वर्ण, ताम्र, रजत) की प्राप्ति हुई है, जो उनके आर्थिक सम्पन्नता के द्योतक हैं।

अभिलेखों एवं सिक्कों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पुरातात्त्विक अवशेषों से तत्त्कालीन शिल्प-उद्योगों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन अवशेषों में मिट्टी के खिलौने, मृद्भाण्ड, धातु का सामान, प्रस्तर आकृतियाँ व फलक, हाथी दाँत के सामान, स्मारक, स्तूप, चैत्य, विहार आदि उल्लेखनीय हैं। उत्खनन में प्राप्त मृद्भाण्ड, मिट्टी की बनी मूर्त्ति, फलक तत्त्कालीन समय में इस शिल्पकला की लोकप्रियता व उन्नत अवस्था की सूचना देते हैं। धातुओ से तत्कालीन समय में प्रचलित धातुओं, उनकी शुद्धता, निर्माण में प्रयुक्त तकनीकीं के विषय में सूचना प्राप्त की जा सकती है। प्रस्तर आकृतियाँ जहाँ प्रस्तरकारों की कार्य कुशलता को दर्शाती हैं वहीं समाज, संस्कृति व धर्म की सुन्दर झलक प्रस्तुत करती हैं। हाथी दाँत की बनी विभिन्न वस्तुएँ हस्तशिल्प के साथ-साथ तत्कालीन समाज की झलक भी दर्शाती हैं। इन विभिन्न शिल्प गतिविधियों के आधार पर काशी के अर्थव्यवस्था को उद्योग एवं व्यवसाय के साथ समझा जा सकता है।

1. गुप्तकालीन काशी का आर्थिक जीवन-

गुप्त राजाओं का शासनकाल आर्थिक दृष्टि से समृद्धि एवं सम्पन्नता का काल माना जा सकता है। इस काल में कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया गया। लोहे से बने हल

के फाल के लिए अमरकोश नामक ग्रंथ में पाँच नामों का उल्लेख किया गया है, जिससे यह विदित होता है कि यह महत्त्वपूर्ण कृषि उपकरण सर्वसुलभ था तथा इसका उपयोग भूमि को जोतने के लिए किया जाता था। धान, गेहूँ, ज्वार-बाजरा, जूट, तिलहन, कपास, मसाले, धूप, नील आदि प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होते थे। सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। वस्त्र-निर्माण इस काल का सर्वप्रमुख उद्योग था, जिससे बहुसंख्यक लोगों को जीविका मिलती थी। इसके अतिरिक्त मूर्त्तिकारी, चित्रकारी, शिल्प कार्य, मिट्टी के बर्तन बनाना, हाँथी-दाँत की वस्तुएँ बनाना, जहाजों का निर्माण करना आदि इस समय के कुछ अन्य उद्योग-धंधें प्रचलित थे। आर्थिक दृष्टि से गुप्त काल ने अपनी संज्ञा 'स्वर्णिम काल' को चरितार्थ किया।

अनेक आर्थिक संगठनों एवं निगमों का सक्रिय रूप से प्रबल होना गुप्तकाल में महत्त्वपूर्ण पहलू है।[84] श्रेणियों एवं निगमों के कारण देश में बहुत उन्नति हुई। शिल्पकारों को अपनी कौशल बुद्धि-प्रवीणता को विकसित करने का पूर्ण अवसर श्रेणियों के आर्थिक संगठन के माध्यम से प्राप्त हुआ। शिल्पकारों के अधिकारों की पूर्णरूपेण रक्षा इन्हीं के द्वारा की जाती थी। निगमों को गुप्तकाल में विभिन्न श्रेणियों उद्योगों की उन्नति का श्रेय दिया गया। श्रेणियों एवं व्यापारियों के अनेक निगमों का उल्लेख गुप्तकाल के अनेक अभिलेखों, ताम्रपत्रों, मुहरों, मुद्राओं एवं साहित्यिक साक्ष्यों में हुआ है।

कालिदास के 'रघुवंश'[85] में वस्तुकारों की एक श्रेणी का एवं विशाखदत्त की 'मुद्राराक्षस'[86] में जौहरियों की एक श्रेणी का स्पष्ट उल्लेख है। कृषि, व्यापार एवं अनेक व्यवसायों की श्रेणियों और उनके अध्यक्षों का उल्लेख 'वाराहमिहिर'[87] ने भी किया है। 'बृहस्पति स्मृति' एवं 'नारद स्मृति' जो गुप्तकालीन रचना है, उनमें श्रेणियों के निर्माण एवं कार्य व्यवस्था का विस्तृत विवरण मिलता है। साधारण न्यायालयों के कार्यों को श्रेणियाँ करती थी, जिसका विवरण बृहस्पति स्मृति में मिलता है।[88] नारद स्मृति से यह भी ज्ञात

होता है कि तत्त्कालीन व्यापार का कार्य व्यवस्थित ढंग से चलता था।[89] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई पुरुष किसी श्रेणी या किसी निगम की सम्पत्ति चुरायें या उनसे हुए अनुबन्ध का पालन न करें तो राजा को उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लेनी चाहिए एवं उसे देश से निष्कासित कर देना चाहिए। जो कोई व्यक्ति श्रेणी एवं निगम के आदर्शों का पालन नहीं करता था, उसे दण्ड दिया जाता था। यदि उनके सदस्यों में मतभेद होता था तो राजा को हस्तक्षेप करना पड़ता था। याज्ञवल्क्य स्मृति के अध्याय-2, श्लोक संख्या 190 से यह स्पष्ट है कि जब तक कोई व्यक्ति किसी श्रेणी का सदस्य हो उसको अपनी पूरी आय श्रेणी को देनी पडती थी। यदि वह स्वयं ऐसा न करें तो राजा उससे ग्यारह गुना धन वसूल करके श्रेणी को दिलवाता था।[90]

साहित्यिक साक्ष्यों के साथ-साथ आभिलेखिक स्रोतों, ताम्रपत्रों, मुहरों, सिक्कों से भी तत्त्कालीन श्रेणियों एवं निगमों की व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

गुप्तकालीन अभिलेखों में 'तैलिक'[91] एवं रेशम बुनने वालों[92] की श्रेणियों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। पहाड़पुर ताम्रपत्र, वर्ष 159[93] में एवं दामोदरपुर ताम्रलेख[94] संख्या 1,2,4 में 'नगर श्रेष्ठी' का उल्लेख है। संभवतः नगर के व्यापारियों की श्रेणी का अध्यक्ष 'नगर श्रेष्ठी' कहलाता था।[95] वाराणसी में भी 'नगर श्रेष्ठी' विद्यमान थे, जो अपने कार्य-संचालन, कुशलता के लिए जाने जाते थे। 'के.एन. दीक्षित' नगर श्रेष्ठी को नगर सभा का अध्यक्ष के रूप में अनुवादित करते हैं। अपने व्यावसायिक कार्यों के अतिरिक्त गुप्तकालीन आर्थिक संस्थाओं ने एक आधुनिक बैंक के रूप में जनता की सेवा की। ये जनता का धन अक्षयनींवि के रूप में जमा करती थी और नियम से उस पर ब्याज देती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन आर्थिक सम्पन्नता इन्हीं श्रेणियों और निगमों में केन्द्रीभूत थी। यही कारण है कि एक संगठित आर्थिक जीवन का सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रूप हमें गुप्तकाल में देखने को मिलता है। निःसंदेह इसमें काशी की भी भूमिका अहम् रही होगी।

गुप्तकालीन व्यापार एवं वाणिज्य की अभूतपूर्व प्रगति ठीक उसी प्रकार थी, जैसा हमें कुषाणकाल में देखने को मिलता है। लम्बी एवं चौड़ी सड़कों द्वारा प्रमुख नगर जुडे हुए थे। भड़ौच, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, विदिशा, प्रयाग, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी एवं वाराणसी प्रमुख व्यापारिक नगर थे। रोमिला थापर के मतानुसार, ''गुप्तकाल की व्यापारिक समृद्धि उस आर्थिक प्रगति का अंतिम चरण थी जो पिछले काल में प्रारम्भ हुई थी।''

इस आर्थिक व्यवस्था प्रणाली में भूमि एवं उससे सम्बन्धित करों का उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है, जिससे गुप्तकाल की समृद्धता विद्यमान रही। करों में मुख्यतः भाग (भूमि से उत्पन्न उत्पादन का एक भाग- साधारणतया छठा भाग), भोग (राजा को प्रतिदिन दिये जाने वाले फल-फूल, साक-सब्जियाँ), उद्रंग (राज्य को दिया जाने वाला कर), उपरिकर, हिरण्य (नकद कर), मेय (अन्न के तौल) आदि उल्लेखनीय हैं। फाह्यान ने भी यह विचार प्रकट किया है कि राजा को भूमि जोतने वाले अपनी उपज का एक अंश कर के रूप में देते थे। गुप्तकाल में काशी की ख्याति पाषाण शिल्प के लिए विश्वव्यापी थी। सारनाथ की आनुष्ठानिक आवश्यकता के कारण प्रतिमाओं के मूर्त्तन का यह केन्द्र काशी के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है।

वस्तुतः हर्षकालीन अर्थव्यवस्था प्रणाली का आधार प्रायः वे ही साधन एवं संस्थायें थी, जो देश में अति प्राचीन काल से चली आ रही थी और जो गुप्तकाल तक अपने चरमोत्कर्ष पर थी। ह्वेनसांग[96] ने हर्ष के समय भारत की आर्थिक स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डालते हुए यह कहा है कि ''हर्षकालीन सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित आर्थिक दशा का सबसे बड़ा प्रमाण व्यापारिक संघों का संगठन है।'' ह्वेनसांग ने विभिन्न शिल्पकारों, कारीगरों के द्वारा संघों में संगठित होने का पूर्ण विवरण दिया है। हर्षवर्धन के समय में विभिन्न प्रकार की कलायें, शिल्प संघों में संगठित थी। काशी के सारनाथ में पुरातात्त्विक खुदाई से प्राप्त

स्तूप, चैत्य, विहार एवं अन्य स्मारकों का हर्ष के काल में पुनर्रुद्धार हुआ। जिनसें हर्षकालीन आर्थिक दशा का विवरण मिलता है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार,[97] 'वाराणसी की आबादी घनी थी, लोग बहुत धनवान् थे और उनके घर बहुमूल्य वस्तुओं से भरे रहते थे। जलवायु शुष्ककर होने के कारण फसलों का उत्पादन उत्तम कोटि का होता था।'' इसके पश्चात् वह सारनाथ का वर्णन करते हुए कहता है कि 'यहाँ अशोक निर्मित 100 फुट ऊँचा स्तूप था, जिसके सामने हरे पत्थर का एक पॉलिशदार स्तम्भ था। मृगदाव विहार में 200 फुट ऊँचा, स्वर्ण मंडित आमलक से अलंकृत एक मंदिर था, जिसकी कुर्सी एवं सीढ़ियाँ पत्थर की थीं और जिसके ईंटों के बने भाग में निषीदिकाओं की पंक्तियाँ थीं और हर निषीदिका में बुद्ध की सुवर्ण मंडित प्रतिमा थी। मंदिर के अंदर कांसे की बनी धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध की एक कद्दे आदम मूर्त्ति थी।' इन सभी विवरणों से तत्त्कालीन काशी के आर्थिक समृद्धि का खांका खींच जाता है।

4. पूर्वमध्यकालीन काशी का आर्थिक जीवन-

पूर्वमध्यकाल भारतीय इतिहास का वह महत्त्वपूर्ण कालखण्ड है जहाँ अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित अनेकानेक प्रगतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इस काल में भारतीय इतिहास के प्रत्येक क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए, जिनमें सामाजिक नियम, धर्म, भाषा, कला, भूमि, नगर, पूजा-उपासना के क्षेत्र आदि थे, जिसका प्रभाव आर्थिक-पक्षों पर स्पष्टतया देखा जा सकता है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक माह या वर्ष में अचानक से परिवर्तित नहीं होता, उसी प्रकार समाज भी अल्प समय में नहीं बदलता अपितु उसमें समय लगता है। समाज के सभी व्यक्ति नये विचारों से प्रभावित नहीं होते। गुप्तकाल से ही भारतीय इतिहास में कुछ

नवीन परिवर्तन होने प्रारम्भ हो गये थे, किन्तु बाद में समाज इन परिवर्तनों से प्रभावित हुआ।

काशी में विशेषतः गुर्जर-प्रतिहार, पाल, कलचुरि एवं गाहडवाल शासकों का स्थानीय शासन था। इन राजवंशों के उदय में स्थानीय-अर्थव्यवस्था की अहम् भूमिका थी। इस काल में अर्थव्यवस्था के प्रमुख आधार कृषि-पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-धन्धें, व्यापारिक-मार्ग एवं व्यापारिक केन्द्र आदि थे।

तत्कालीन लेखों में उल्लिखित दान करने की प्रक्रिया शासकों की आर्थिक नीति को स्पष्ट कर देती है और उसके सहारे आर्थिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इसके साथ-साथ जिन राजाओं ने काशी में अनेक स्मारकों एवं मंदिरों का निर्माण करवाया, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अर्थ-व्यवस्था में अपनी सहभागिता प्रस्तुत की। इसमें **प्रकटादित्य का सारनाथ अभिलेख**[98]**, पंथ का बनारस लेख**[99]**,** एवं **सारनाथ का महीपाल अभिलेख** [100] का उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख में वाराणसी (काशी) के शासक प्रकटादित्य द्वारा विष्णु (मुरद्विष) मंदिर बनाने का वर्णन मिलता है। आठवीं सदी के लेख (पंथ का बनारस लेख) में यह उल्लेख मिलता है कि पंथ ने काफी द्रव्य लगाकर और अनेक धार्मिक कृत्यों के पश्चात् चंडी की एक मूर्त्ति स्थापित की। सारनाथ से प्राप्त महीपाल का 1026 ई0 के लेख में यह उल्लेख है कि गौड़ाधिप महीपाल की आज्ञा से स्थिरपाल एवं उसके छोटे भाई बसन्तपाल ने काशी में ईशान चित्रघंटा के तथा और भी सैकड़ों मंदिर स्थापित कराये। इन दोनों ने सारनाथ में धर्मराजिका स्तूप एवं धर्मचक्रविहार की मरम्मत के साथ ही अष्टमहास्थान गंध-कुटी नाम के एक नये मंदिर का निर्माण करवाया। इसी के साथ ही काशी में 'कर्णमेरु' नामक मंदिर की स्थापना कलचुरि शासक कर्णदेव ने करवाई।[101] उपर्युक्त विवरण विविध शासकों के आर्थिक नीतियों को स्पष्ट करती हैं।

इन सभी विवरणों के साथ ही काशी के अर्थव्यवस्था को जानने के लिए गाहडवाल ताम्रपत्रों का विशेष उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है। पूर्वमध्यकाल में काशी पर लम्बे समय तक गाहडवाल शासकों का आधिपत्य रहा। फलतः अर्थव्यवस्था प्रणाली में गाहडवाल ताम्रपत्रों का अध्ययन एवं तत्त्कालीन साहित्यिक विवरण का उल्लेख करना आवश्यक है। इन्हीं के अध्ययन के आधार पर काशी का आर्थिक जीवन स्पष्टतः रेखाकिंत किया जा रहा हैः-

पूर्वमध्यकाल में भी कृषि अधिकांश लोगों का मुख्य व्यवसाय होने के साथ ही राज्य की आर्थिक-व्यवस्था का मूल आधार थी। उस समय अन्न (फसल) की उपज के साथ-साथ फलों एवं अन्य खाद्य पदार्थ की खेती की जाती थी। गाहडवाल ताम्रपत्रों में आम, महुआ, अंगूर, पान आदि वृक्षों के साथ ही गेहूँ एवं चावल की भी चर्चा है।[102] गेहूँ को 'गोधूम' नाम से लक्ष्मीधर ने उल्लिखित किया है।[103] 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' जिसे गाहडवालकालीन रचना माना जाता है, में कृषि सम्बन्धित कुछ प्रकरणों पर प्रकाश पड़ता है। 'खेत हंसिए ब्रीहि लवति कमारे' वाक्यावली से ज्ञात होता है कि खेतों में किसान धान की लवनी हंसिया से करते थे।[104] बैलों का प्रयोग खेतों को जोतने के लिए किया जाता था। हल में जोते हुए बैल 'हालिक' या 'सारिक' कहलाते थे।[105] खाद्यान्न प्रभूत मात्रा में उत्पादित होते थे, जिससे यह अनुमानित किया जाता है कि वर्षा प्रायः समय से होती रही होगी। फसलों की सिंचाई हेतु कृषि साधनों की कृत्रिम व्यवस्था की गई थी, जिसे शासकों एवं अन्य सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा सार्वजनिक हित के निमित्त किया जाता था।[106] सिंचाई हेतु तालाबों एवं नहरों के अतिरिक्त कूपों (कुआँ) को खुदवाया जाता था। इसमें से पानी को निकालने के लिए एक प्रकार के 'अरहट्ट' नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता था। पण्डित दामोदरशर्मा भी अपनी रचना 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण'[107] में यह उद्धृत किया है कि तत्कालीन् समय किसान कुएँ से पानी अपनी बारी आने पर ही प्राप्त करते थे।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में यह उद्धत है कि गोविन्दचन्द्र ने कृषि (सिंचाई हेतु) राजसागर नामक एक विशाल तालाब का निर्माण करवाया था।[108]

डॉ0 राम शरण शर्मा के अनुसार 'पूर्वमध्यकाल में कृषि में अभूतपूर्व विकास होने के कारण अधिकांश राज्यों का मूलाधार कृषि ही था, व्यापार-वाणिज्य नहीं। सामन्तीय व्यवस्था के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण जमींदारों का वर्चस्व बढ़ा था और साधारण कृषक पूर्ववर्ती कालों की अपेक्षा बहुत अधिक विपन्न एवं आश्रित हो गये थे।'[109]

पूर्वमध्यकाल में भी भूमि मापने के यंत्र गुप्तकाल के समान कुल्यवाप, द्रोणवाप एवं पाटक थे। कृषि-व्यवस्था के साथ ही पशुपालन भी आर्थिक-व्यवस्था में सक्रिय योगदान देते हैं। युद्ध, कृषि, यातायात एवं दुग्ध के लिए पशुपालन आवश्यक था। इसके अतिरिक्त पशुओं के मांस का उपयोग मांसाहारी अपने खाने में प्रयुक्त करते थे। सैनिक कार्यों के लिए घोड़े एवं हाथी प्रयुक्त होते थे। सोमदेव के अनुसार 'गायों के विशाल समूह राजा के कोष में वृद्धि करते हैं और जिसके पास खेती, दुधारु गायें, वाटिका आदि हैं, उसे संसार के सभी सुख प्राप्त हैं।'[110] पूर्वमध्यकाल में पूर्ववर्ती कालों की अपेक्षा पशुपालन का महत्त्व काफी बढ़ गया था। चूँकि इस काल में कृषि तथा युद्ध दो प्रमुख उद्यम प्रतीत होते हैं इसलिए बैल एवं घोड़े एक बहुमूल्य पशुधन के रूप में मान्यता प्राप्त किये होगें।

भूमि राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत शासक को राजकीय वित्त के आय पक्ष एवं व्यय पक्ष के बीच संतुलन रखना आवश्यक था। सुनिरूपित वित्तीय प्रणाली के होने से प्रजा के पास अतिरिक्त सम्पत्ति का जमा होना, उसके मूल स्रोतों को हड़पे बिना ही बहुत हद तक रोका जा सकता है। कर के नियमों में समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन अपेक्षित था। शासक को सदैव यह स्मरण रखना होता था कि कर देने वाले लाभांश से वंचित न हो जाय। कर के विषय में कौटिल्य[111] का यह विचार है कि अनुपयुक्त समय में कर लेना कच्चे फल को तोड़ने के समान हानिकारक है। राजा को सदैव यह स्मरण रखना चाहिए

कि उत्पादन से उपभोग की अवस्थाओं के बीच केवल एक बार ही कर लगाना चाहिए। कोष की गणना राज्य के सप्तांग सिद्धान्तों में प्रमुख अंगों के रूप में होती है। यदि काशी के गाहडवाल शासकों की आर्थिक सम्पन्नता पर विहंगम दृष्टि डाली जाए तो यह ज्ञात होगा कि काशी की आर्थिक-व्यवस्था कभी दुर्बल नहीं हुई। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में विभिन्न प्रकार के आय स्रोतों (करों) का वर्णन प्राप्त होता है। करों के नामों की सूचना अभिलेखों में बहुत लम्बी है। इससे कर-व्यवस्था के अत्यधिक बोझिल होने की भ्रांति हो सकती है। करों की सूची को प्रायः दानपत्रों में अत्यन्त व्यापक बनाकर प्रस्तुत करने का विधान था, जिससे दान प्राप्त कर्त्ता के अधिकार की व्यापकता एवं पूर्णता का बोध हो सके।[112]

1. भाग	7. कुमारगादिआणक	13. विषयदान	19. बलदी
2. भोग	8. कूटक	14. पर्णकर	20. निधि-निक्षेप
3. हिरण्य	9. यमलिकाम्बलि	15. दशबन्ध	21. आकर
4. कर	10. जलकर	16. अक्षपटलप्रस्थ	22. बाह्य बाह्यान्तरसिद्धि
5. प्रवणिकर	11. गोकर	17. प्रतिहारप्रस्थ	23. बरबझ
6. तुरुष्कदण्ड	12. लवणकर	18. विशतिअठ्प्रस्थ	24. दगपसदी दीर्घगोविच

उपर्युक्त करों की चर्चा निम्नवत् हैः-

- **भाग-** इस कर का उल्लेख चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 में हुआ है।[113] भाग अथवा अंश का प्रयोग भूमि कर के रूप में स्मृतियों में प्रयुक्त हुआ है। 'कृत्यकल्पतरु' के लेखक लक्ष्मीधर ने मनु, बृहस्पति, विष्णु, गौतम स्मृतियों को उद्धृत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि भूमिकर 1/6, 1/8, 1/2 (मनु के अनुसार) या 1/6, 1/8, 1/10 (गौतम एवं बृहस्पति के अनुसार) या 1/6 (गौतम के अनुसार) होना चाहिए। ए.एस. अल्तेकर यह विचार व्यक्त करते है कि 'भाग' कर नाम से यह

स्पष्ट होता है कि यह खेत में होने वाली फसल का ही एक भाग था। यद्यपि भाग का अर्थ उपज का एक अंश माना गया है।[114]

- **भोग-** 'भोगकर' के अन्तर्गत प्रायः वे वस्तुएँ आती थी, जिसे समय-समय पर प्रजा के द्वारा राजा को उसके सम्मान एवं प्रेम के कारण दिया जाता था। इन वस्तुओं में फल-फूल, साक-सब्जी एवं अन्य खाद्य पदार्थ आदि सम्मिलित थे। इस कर का उल्लेख चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 में हुआ है। इस कर को शासकों के अतिरिक्त राजकर्मचारी भी ग्रहण करते थे।[115]

- **कर-** 'कर' शब्द का उल्लेख पूर्वमध्यकालीन उत्तर-भारतीय अभिलेखों में राजस्व के एक प्रमुख स्त्रोत के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'भाग भोग' के साथ 'कर' शब्द का प्रयोग राजस्व के लिए सामान्य रूप में अभिलेखों में मिलता है। प्रारम्भ में 'कर' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता था, किन्तु पूर्वमध्यकाल में कर राजस्व का पर्याय बन चुका था। लक्ष्मीधर ने गृहस्थकाण्ड में कर शब्द का प्रयोग शिल्पियों एवं कृषकों से नकद रूप में लिए जाने वाले राजस्व के रूप में किया है।[116]

- **हिरण्य-** इस कर का उल्लेख गोविन्दचन्द्र के वि.सं. 1198 के ताम्रपत्र एवं मदनपाल के 1104 ई0 के बसही अभिलेख में 'भाग-भोग' कर के साथ मिलता है।[117] अल्तेकर यह विचार प्रकट करते हैं कि भूमिकर का कुछ अंश धान्य एवं कुछ नकद रूप में दिया जाता था, जिसे 'हिरण्य' कहा जाता था।[118] राज्य इसे ग्रामीण क्षेत्र से प्राप्त करता था। हिरण्य का उल्लेख प्रायः धान्य के साथ हुआ है। यू0एन0 घोषाल का कहना है कि यह कर कुछ विशेष अन्न पदार्थों पर लगाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कर तैयार माल पर लगता था।[119]

- **प्रवणिकर-** प्रवणिकर को घोषाल एवं आर.एस. शर्मा ने गाहडवालों के शासन काल में लगा हुआ व्यापारिक कर अथवा शुल्क मानते हैं। इस कर का उल्लेख गोविन्दचन्द्र

के वि.सं. 1182 के कमौली एवं वि.सं. 1186 के सहेत-महेत ताम्रपत्र में हुआ है।[120] कुछ विद्वान् इस कर को संभवतः सड़कों एवं मार्गों के मरम्मत के लिए लिया जाने वाला मानते हैं। आर.एस. त्रिपाठी भी इस मत से सहमत है।[121]

- **तुरुष्कदण्ड-** इसका उल्लेख केवल गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों में मिलता है। तुरुष्क का तात्पर्य संभवतः 'तुर्क' जाति से है। लल्लन जी गोपाल इस कर के विषय में यह विचार व्यक्त करते हैं कि यह उन मुसलमान (तुर्कों) से लिया जाता था जो भारत में बस गये थे। इस कर का उद्देश्य मुसलमानों को दण्ड देना नहीं था। संभवतः इस कर का उद्देश्य यह था कि गाहडवाल राज्य में और अधिक तुर्क आकर न बसें।[122]

मोतीचन्द्र का कहना है कि 'महमूद (तुर्क) के अत्याचारों से भारतीय प्रजा क्षुब्ध हो चुकी थी एवं प्रतिकार की भावना उनमें हिलोरे मार रही थीं। संभवतः प्रजा की भावना से प्रेरित होकर एवं अपने साम्राज्य की रक्षा के उद्देश्य से गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र ने, महमूद के साथी एवं बचे तुर्कों पर जजिया कर की तरह 'तुरुष्क दण्ड' नामक कर को लगाया।'[123] इसी परिप्रेक्ष्य में ए.एस. अल्तेकर यह विचार प्रकट करते हैं कि 'तुरुष्कदण्ड' नामक कर गाहडवाल राज्य में लिया जाने वाला विशिष्ट कर था, जो संभवतः मुस्लिम आक्रमणों का सामना करने हेतु सैन्य-संग्रह के लिए प्रजा पर लगाया गया था।[124] निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रजा को तुर्कों के आक्रमण से मुक्ति दिलाने के लिए तुरुष्कदण्ड नामक कर प्रजा पर प्रत्यारोपित किया गया था।

- **कुमारगदिआणक-** 'गदिआनक' नामक सिक्का पूर्व मध्यकाल में प्रचलित था। अभिलेखों में इस शब्द के कई प्रकार ज्ञात होते हैं, जैसे- कुमारगादियानका, कुमारगदिआणक, कुमारगदियानक आदि। इस कर का उल्लेख गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र, जयचन्द्र के ताम्रपत्रों में मिलता है। आर.एस. त्रिपाठी एवं रोमा नियोगी यह

मानते हैं कि यह एक प्रकार का नजराना था जिसे राजघरानों से सम्बन्धित राजकुमारों को 'जनेऊ-संस्कार' आदि के विशेष अवसर पर प्रदान किया जाता था।[125]

- **कूटक-** कूट[126] का अर्थ हल होता है। संभवतः यह कर उतनी भूमि पर लिया जाता था, जिसे एक हल से जोता जाता था। कूटक का तात्पर्य ही खेत जोतने के हल से लिया गया है। गोविन्दचन्द्र के वि.सं. 1182 के कमौली अभिलेख में 'कूटक' नामक कर की चर्चा है।[127]
- **यमलिकाम्बली-** संभवतः यह कर विशेष प्रकार की गायिकाओं से वसूल किया जाता था। इस कर का उल्लेख राजा जयचन्द्र के वि.सं. 1234 एवं वि.सं. 1236 ताम्रपत्र में हुआ है।[128]
- **जलकर-** लल्लज जी गोपाल के अनुसार यह सिंचाई कर था, किन्तु इसके विपरीत रोमा नियोगी ने यह माना है कि यह कर मछलियों पर लगाया जाता था। किन्तु यह जल से ही सम्बन्धित था।[129]
- **गोकर-** यह कर पशुओं पर लगता था। शास्त्रकारों ने यह नियम निर्धारित किया कि राजा को पशु के मूल्य का पाँचवा भाग ही कर के रूप में लेना चाहिए।[130]
- **लवणकर-** नमक बनाने पर यह कर लिया जाता था; क्योंकि प्राचीन भारत में नमक पर एकाधिकार केवल राजा का ही था।
- **विषयदान-** इस कर का सम्बन्ध जिले से था। इस कर का उल्लेख चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 में हुआ है।[131] रोमा नियोगी यह मानती है कि पत्तला (परगना) के सम्बन्ध में यह जिला को दिया जाने वाला कर था।[132]
- **पर्णकर-** यह कर संभवतः पत्तों पर लिया जाता था।
- **दशबन्ध-** इस कर का उल्लेख गाहडवालकालीन ताम्रपत्र. वि.सं. 1161 (बसही) में हुआ है।[133] रोमा नियोगी इस प्रसंग में अपना मत रखते हुए कहती हैं कि अनुमानतः

यह एक विशेष प्रकार का भूमिदान होता था जो किसी व्यक्ति को, किसी तालाब की मरम्मत या निर्माण के लिए दिया जाता था और इसके बदले में वह सामान्य कर का 10वाँ भाग प्राप्त करता था।[134]

- **अक्षपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विशतिअठ्प्रस्थ-** संभवतः ये कर अक्षपटल, प्रतिहार, विंशति नामक तीन अधिकारियों के द्वारा वसूल किये जाते थे। इन करों का उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में मिलता हैं।[135]
- **वलदी-** यह कर अच्छे किस्म के बैलों पर लगता था। इस कर का उल्लेख मदनपाल एवं गोविन्दचन्द्र के वि.सं. 1166 के ताम्रपत्र में हुआ है।[136]
- **निधि-निक्षेप-** रोमा नियोगी के मतानुसार इस कर का तात्पर्य वह है जो उस सम्पत्ति पर लगता है, जो किसी समिति के अधीन हो।[137]
- **आकर-** खानों से निकलने वाली वस्तुओं पर कर।
- **बाह्य बाह्यान्तर सिद्धि-** संभवतः इसका अर्थ पृथ्वी के नीचे दबे धन से है, जिसके कोई दावेदार न हो।[138]
- **बरबझ-** इस कर के विषय में कहना कठिन है।
- **दगपसदी दीर्घगोविच-** इस शब्दावली का अर्थ स्पष्ट नहीं हैं।

उपर्युक्त करों के उदाहरण से काशी के गाहडवालकालीन करों का उल्लेख तो मिलता ही है साथ ही तत्कालीन आर्थिक समृद्धि का भी वर्णन प्राप्त होता है।

- **उद्योग-धंधे एवं व्यवसाय-** साहित्यिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से यह विदित होता है कि इस काल में विविध प्रकार के उद्योग-धंधे एवं व्यवसाय काशी में प्रचलित थे, जिससे लोगों के जीविका का निर्वहन होता था। लोहे एवं नमक के खानों की चर्चा

गाहडवाल ताम्रपत्रों में हुआ है।[139] कृषि सम्बन्धी औजारों का निर्माण एवं युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्र लौह नामक धातु से ही निर्मित होते थे।

उक्तिव्यक्तिप्रकरण में विविध व्यवसायों जैसे-जूता बनाने वाले, दर्जी, रंगरेज का उल्लेख हुआ है।[140] वस्त्र-व्यवसाय इस काल का प्रमुख उद्योग था, **उक्तिव्यक्तिप्रकरण** में आये एक मुहावरे 'कपडि' या 'कार्पटिक' से इसका अनुमान होता है।[141] वस्त्र-उद्योग से सम्बन्धित वस्त्र को माड़ी देना, कपड़े का ताना फैलाना आदि उदाहरण ज्ञात होते हैं। गाहडवालकालीन दानपत्रों में आये शब्द 'मत्स्यकाराः' से यह ज्ञात होता है कि लोगों को मछली मारने का राजकीय अधिकार था।[142] चूड़ी का व्यवसाय भी काशी में प्रसिद्ध था। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में एक मुहावरा 'उनाड चूड़ा सोना' मिलता है, जिससे यह विदित होता है कि चूड़ियों को निर्मित करने में सुनार कुशल थे।[143] इन चूड़ियों में माणिक्य का जड़ाव भी ये सुनार करते थे। सरसों के तेल-व्यापारियों का उल्लेख भी उक्तिव्यक्तिप्रकरण में मिलता है।[144] दुग्ध दूहने का कार्य भी उस काल के लोग बड़ी कुशलतापूर्वक करते थे। धातुओं के अतिरिक्त काँच का भी कार्य पूर्वमध्यकाल में होता था। इतिहासकार पं0 गौरी शंकर ओझा का यह मानना है कि खिड़कियों एवं दरवाजों में भी काँच लगते थे एवं इस धातु से दर्पण निर्मित होते थे। हाथी दाँत एवं शंख की चूड़ियाँ, चर्म उद्योग, टोकरी, ढाल निर्माण, बुनकरों के उद्योग एवं शिल्प व्यवसाय आदि व्यवसाय इस काल में प्रचलित थे।

- **श्रेणी संगठन-** श्रेणियों के स्वरूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पूर्वमध्यकाल में ही हुआ। श्रेणी संगठनों की प्रगति के लिए परिवर्तित हुई राजनीतिक विचारधारा, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थी। सामंतीय व्यवस्था में बिचौलिए भूस्वामियों की संख्या मे वृद्धि होने से कृषि मजदूरों की माँग बढ़ी और बहुत से मजदूर कृषि कर्म में लग गये। फलस्वरूप श्रेणी संगठनों को उत्पादन एवं अन्य कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा में श्रमिक नहीं मिल पाते थे।

किन्तु पूर्वमध्यकाल में श्रेणियों के सदस्यों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से अत्यन्त बढ़ गयी थी। संभवतः इसका प्रधान कारण श्रेणियों का जाति के रूप में परिवर्तित हो जाना था। इन श्रेणी संगठनों को राजाओ के द्वारा आश्रय प्राप्त था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह संस्था साहूकारों के द्वारा चलती थी। गाहडवाल शासक जयचन्द्र के **लाहडपुरा अभिलेख** से यह विदित होता है कि निगम के सदस्य ब्राह्मण भी हुआ करते थे।[145] इस काल में शिल्पी वर्ग अपने कारीगरों के साथ अपने घर पर ही उद्योग-कर्म किया करते थे। इसी में उन्हें रहना होता था, घर पर कार्य सीखना होता था एवं भोजन-प्रबन्ध की व्यवस्था शिल्पी के घर पर ही रहता था। किन्तु शिल्पी उन्हें इन वस्तुओं के लिए कोई पारिश्रमिक नहीं देता था। **लक्ष्मीधर** ने इस विषय में लिखा है कि अगर कारीगर उचित ढंग से कार्य न करें तो उसका स्वामी उसे दण्ड के रूप में बाँस के डण्डे से पिटाई कर सकता था।[146] इन श्रेणी संगठनों के अपने नियम एवं कानून, रीति-रिवाज होते थे, जिसका अनुसरण उसके सदस्य करते थे। श्रेणी के पद पर सबसे जिम्मेदार व्यक्ति को नियुक्त किया जाता था। उसका इतना उच्च प्रभाव था कि वह संघ के नेतृत्त्व के साथ-साथ राजनीतिक क्रिया-कलापों में भी संलग्न रहता था। नगर की श्रेणियों का प्रभाव, गाँव की श्रेणियों से अधिक था। अलबरुनी इस विषय में लिखता है कि 'नगर में धोबियों, चर्मकारों, मदारियों, मल्लाहों, टोकरी व ढ़ाल बनाने वाले, चिड़ीमारों, शिकारियों एवं जुलाहों की अलग-अलग श्रेणियाँ विद्यमान थीं।'[147]

श्रेणियों के स्वयं के न्यायालय भी होते थे। इन श्रेणियों के नियमों का उल्लंघन दंडनीय था। खेत, खलिहान, उद्यान आदि से सम्बन्धित विवादों का निर्णय इन श्रेणियों में ही होता था। व्यापार एव वाणिज्य के सम्बन्ध में श्रेणियाँ राजा को सुझाव दिया करते थे। इसके साथ ही जनकल्याणकारी कार्यों जैसे- सभागृह, पंचशाला, विश्रामगृह, मंदिर, कुण्ड, बागीचा आदि का निर्माण इन श्रेणियों के द्वारा होता था। आधुनिक बैंकों के समान श्रेणियाँ लोगों की सेवायें करती थी। ये उद्योग-कर्त्ताओं, व्यापारियों एवं अन्य दूसरे लोगों को उनकी आवश्यकता के हिसाब से ऋण देने का प्रबन्ध भी करती थीं।[148]

- **व्यापारिक मार्ग एवं केन्द्र-** पूर्वमध्यकाल में आये हुए यात्री जैसे- इब्नखुर्दाज्बा, अलबरुनी के यात्रा विवरणों से तत्कालीन प्रमुख व्यापारिक मार्ग एवं केन्द्र पर रोशनी अवश्य पड़ता है। ग्यारहवीं सदी के भारत के विभिन्न प्रदेशों और नगरों को जोड़ने वाले 16 प्रकार के मार्गों की विस्तार से चर्चा अलबरुनी ने अपने ग्रंथ में की है।[149] उसके अनुसार एक रास्ता कन्नौज से प्रयाग एवं तत्पश्चात् पूर्वी तट जाकर दक्षिण में कांजीवरम् तक जाता था। दूसरा रास्ता कन्नौज से वाराणसी एवं तत्पश्चात् गंगा के मुहाने तक जाता था। तीसरा मार्ग कन्नौज से लेकर पूर्व में कामरुप और उत्तर के सीमावर्ती देश नेपाल और तिब्बत तक पहुँचता था। इसी क्रम में लगभग सम्पूर्ण भारत जिनमें बनवासी (द0भा0, कदम्ब राजवंश की राजधानी), बेजान या नारायण, गुजरात, मथुरा, धार, उज्जैन, मन्दिगिरि (गोदावरी), सागर तटीय तान (आधुनिक थान), बजान से काठियावाड़ (सोमनाथ), अन्हिलपाटन, भटिण्डा, कराची, कश्मीर, पानीपत, ऊटक, काबुल, गजनी, अधिष्ठान, मकरान, सेतुबन्ध आदि व्यापारिक मार्ग एक दूसरे से जुड़े हुए थे एवं संचालन करते थे। किन्तु गाहडवालकालीन अभिलेखों में व्यापारिक पथ एवं केन्द्र की चर्चा नहीं ज्ञात होती।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में सम्पूर्ण भारत के विभिन्न नगरों को एक-दूसरे से जोड़ने के लिए विभिन्न प्रकार के मार्गों का विकास हो चुका था। इन मार्गों के द्वारा विविध सामग्री सुदूरवर्ती नगरों एवं प्रदेशों तक पहुँचायी जाती थी। इन सभी में 'कन्नौज' एवं 'वाराणसी' (काशी) प्रमुख व्यापारिक केन्द्र स्थल थे, जिन्हें उत्तर-भारत में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हो चुका था।

संदर्भ-ग्रन्थ-

1 *महाभाष्य,* भाग-2, पृ0 313 (कीलहॉर्न)।
2 *जातक,* भाग-4, संख्या-460, पृ0 220 (युवन्जय जातक)।
3 *जातक,* भाग-4, संख्या-458, पृ0 306 (उदय जातक)।
4 *जातक,* भाग-5, संख्या-532, 532 (सोणनन्द जातक)।
5 *जातक,* भाग-5, संख्या-525, पृ0 260 (चुल्लसुतसोम जातक)।
6 *जातक,* भाग-6, संख्या- 542, पृ0-150 (खण्डहाल जातक)
7 *जातक,* भाग-4, संख्या-442, पृ0-215 (शंख जातक)।
8 *जातक,* भाग-5, संख्या 534 (महाहंस जातक), पृ0-462.
9 *जातक,* भाग-4, संख्या 439, 421, 480, 482, 418, 440, 480, 488, भाग-3 : ''कासिरट्ठे असीतिकोटिविभवत्स''।
10 *जातक,* भाग-5, संख्या- 535, पृ0-466.
11 *महावस्तु,* भाग-2, पृ0 373-74.
12 *दिव्यावदान,* 3, पृ0- 36-37,
चक्ररत्नं हस्तिरतनं अश्वरत्नं मणिरत्नं स्त्रीरत्नं गृहपतिरत्नं परिणायकरत्नमेव सप्तमम्।''
13 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0-81
14 सारनाथ लघु शिलालेख, का.इ.इ., खण्ड-1, पृ0-116
15 सत्यकेतु विद्यालंकार, 1978 (द्वितीय संस्करण), *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन,* दिल्ली, पृ0- 343.
16 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 344.
17 विश्वकर्मा, ईश्वरशरण, 1987, *काशी का ऐतिहासिक भूगोल,* दिल्ली, पृ0- 145-147.
18 *जातक,* भाग-3, संख्या- 388, पृ0-439.
19 *धम्मपद्ठकथा,* भाग-2, पृ0- 313.
20 *जातक,* भाग-2, संख्या- 189, पृ0-291.
21 Narain, A.K. and T.N. Roy, *Excavations at Prahaladpur;* P. 65.
22 *जातक,* भाग-3, संख्या- 388, पृ0- 439.
23 *जातक,* भाग-6, संख्या- 539, ''सुखुम सुत्तानि कंतित्वाः''
24 *जातक,* भाग-6, संख्या- 539, (महाजनक जातक), पृ0 55; पेटवत्थु (खुद्दकनिकाय भाग-2), पृ0- 103-147, 125/149.
25 *जातक,* भाग-6, संख्या- 547 (महावेसत्तर जातक), पृ0- 549, 554, 651.
26 *जातक,* भाग-5, संख्या- 534, (महाहंस जातक); पृ0-428, भाग-6, संख्या 546, (महाउम्मण जातक), पृ0- 492, 498.
27 *जातक,* भाग-6, संख्या- 542 (साम जातक) पृ0- 168, 184, 185.

28 *जातक,* भाग-3, संख्या 297 (कामविलाप जातक), पृ0- 164.
29 *दीर्घनिकाय (महावग्ग), महापरिनिब्बान सुत्त* 24/104, पृ0- 124.
"अथको कोसिनारकामल्लाभगवतो शरीरं अहतेन वत्थेन वेठेत्वा विहतेन कप्पासेन वेठेसुं विहतेन कप्पासेन वेठेत्वा अहतेन वत्थेन वेठेसं।
30 *महावग्ग,* 3/29.
31 *जातक* भाग-6, संख्या 546 (महाउम्मग्ग जातक) पृ0- 492, 498.
32 *महावग्ग-* 8/1, 4.
33 *महाभाग.,* भाग-2, पृ0 413 (कीलहार्न) :- एवं हि दृश्यते इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्यौ धौ भवति काशिकस्याम्यो माथुरस्य।"
34 *जातक,* भाग-1, संख्या- 80, पृ0-505.
"कासिकवत्थं निवासेन्ति, कासिकविलेपन"।
35 *मज्झिमनिकाय,* भाग-2, पृ0 358.
36 *संयुक्त निकाय,* भाग-4, 53, पृ0- 348/21-22.
37 *कथावत्थु,* पृ0- 157, 158, 241.
38 *सुत्तनिपात,* भाग 2, पृ0 48/19-19.
39 *जातक,* भाग 5, संख्या- 518, पृ0- 166 : अन्नं पानं कासिकं चन्दनन्च मनापिट्ठयोपालमुच्छादनन्च।
40 *महावस्तु, अवदानशतक,* भाग-1, 305, पृ0 393; 286, पृ0 265.
41 सुत्तनिपात *अट्ठकथा,* 372/1-8.
42 *जातक,* भाग-1, संख्या- 72, पृ0-462.
43 *जातक,* भाग-2, संख्या- 221, पृ0-221.
44 Narain, A.K. Singh. P, *Excavations at Rajghat*, Vol. III, PP. 42-43.
45 *जातक,* भाग-4, संख्या- 408.
46 *मज्झिमनिकाय,* भाग-2, 31, पृ0- 280.
47 Narain, A.K. & Roy, T.N. *Excavations at Rajghat*, Vol. II, PP. 21.
48 Narain, A.K. & Singh. P, *Excavations at Prahaladpur*, PP. 17.
49 जायसवाल, विदुला, 2010, *आदिकाशी से वाराणसी तक* ,दिल्ली, पृ0-44-45
50 *जातक,* भाग-2, संख्या- 156.
51 Singh, B.P. 1985, *Life in Ancient Varanasi*, PP. 12-15.
52 का.इ.इ., खण्ड-1, पृ0-116 एवं वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित *'भारती'* अंक-5, पृ0- 135.
53 Childers, R.C. Dictinary of Pali Language; Setthi; Foreman of guild a cashier, Treasures, a welthy Merchant, P. 473.

54 सार्थानप् सधनान् सरतो वा पान्थान् बहति सार्थवाह :'' *अमरकोश-* 3/9/78 : जो पूंजी करने वाले या पूंजी द्वारा व्यापार करने वाले पान्थों का अगुआ हो, वह सार्थवाह है।
55 *दिव्यावदान,* 8, पृ0-62, *अवदानकल्पलता,* भाग-1/6, श्लोक 34/35.
56 *अवदानकल्पलता,* भाग-1, 14, श्लोक 20.
57 *महावग्ग,* 1/7/1.
58 *निर्यावलियाओं,* 3/4/110.
59 *जातक* भाग 1, संख्या 98, पृ0- 570.
60 *जातक* भाग 2, संख्या 189.
61 *जातक* भाग 2, संख्या 243, पृ0 456.
62 *जातक* भाग 3, संख्या 339.
63 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0-4
64 विद्यालंकार, सत्यकेतु, 1978 (द्वितीय संस्करण), *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन,* दिल्ली, पृ0- 365.
65 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 365.
66 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 38-39
67 सत्यकेतु, विद्यालंकार, पृ0- 369.
68 *धम्मपद्दठकथा,* भाग-1, पृ0- 224.
69 *जातक,* भाग-1, संख्या-55, पृ0- 401.
70 *जातक,* भाग-2, संख्या-243, भाग-1, संख्या- 48.
71 *धम्म0,* भाग-3, पृ0- 164.
72 *जातक,* भाग-4, संख्या 442, पृ0- 215.
73 *दिव्यावदान,* पृ0- 62.
74 *अवदान कल्पलता,* भाग-2, 106.
75 सत्यकेतु विद्यालंकार,1978, *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन,* पृ0- 379.
76 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 379.
77 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 14.
78 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 64.
79 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 14.
80 वही, पूर्वोक्त, पृ0-64.
81 सत्यकेतु विद्यालंकार, *प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन,* पृ0- 384.
82 वही, पूर्वोक्त, पृ0-387.

83 एपि0इण्डि0 भाग-8, पृ0 171, एपि0इण्डि0 भाग-9, पृ0- 291.
84 गुप्ता, दीपा, 2007, *प्राचीन भारत में आर्थिक संस्थाओं का विकास,* दिल्ली, पृ0- 120.
85 *रघुवंश,* 16, 3, कालिदास विरचित-निर्णय सागर प्रेस, बंबई, शंक संवत् 1818.
86 *'मुद्राराक्षस'* वाल्यूम-1, पृ0- 18, 20, 28. लेखक विशाखदत्त (सम्पादक) सत्यव्रत सिंह, वाराणसी, 1968.
87 *वृहदसंहिता-* 4, 13, 10, 22, 18, बाराहमिहिर कृत सरस्वतीप्रेस, कलकत्ता- 1880.
88 *बृहस्पति स्मृति,* अध्याय-17.
89 *नारद स्मृति-* 10, 2-6.
90 *याज्ञवल्क्य स्मृति-* 2, 186, 190, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1949.
91 का.इ.इ., वाल्यूम-3, पृ0- 68, सम्पादक, जॉन फेथफुल फ्लीट, वाराणसी- 1970.
92 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 79.
93 वही, पूर्वोक्त, पृ0-79.
94 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-20, पृ0 61.
95 वही, खण्ड-15, पृ0- 130.
96 गुप्ता, दीपा, वही, पृ0- 54.
97 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 81.
98 फ्लीट, जे0एफ0, *भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3,* (अनुवादक-गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र), पृ0- 367-369.
99 एपि0इण्डि0, खण्ड-9, पृ0- 59-62.
100 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 14, 139-140.
101 *प्रबन्धचिन्तामणि* ।
102 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 18, पृ0- 13.
103 *कृत्यकल्पतरु, नियतकाण्ड,* पृ0- 295.
104 जिनविजय द्वारा सम्पादित, *उक्तिव्यक्तिप्रकरण,* पृ0- 13/22.
105 हेमचन्द्र, *शब्दानुशासन,* पृ0- 7/1/6.
106 भण्डारकर, डी0आर0, इन्स्क्रिप्शन ऑफ चाहमान ऑफ मारवाड़, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-11, पृ0-49-51.
107 *उक्तिव्यक्तिप्रकरण,* 46/15 'कूडगाल' (कूडगाल से तात्पर्य कुएँ को अंगारने से है)।
108 वही, 21/14-16.
109 शर्मा, रामशरण,1987, *अर्बन डिके इन इण्डिया,* पृ0- 175-177.
110 *नीतिवाक्यामृत,* पृ0- 173, श्लोक 33.
111 कौटिल्यीय, *अर्थशास्त्र* (सं0 आर0 शाम शास्त्री), 5.2.

112 *उत्तरी भारत का इतिहास,* (सं0 शिवकुमार गुप्त), पृ0- 280-81.
113 चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र, एपि0इण्डि0 खण्ड- 14, पृ0- 192-209.
114 *कृत्यकल्पतरु, राजधर्मकाण्ड,* पृ0- 88-92.
115 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 14, पृ0- 195.
116 *गृहस्थकाण्ड,* पृ0- 255; 'करः' कारु कृषिक्लेभ्यो नियतधनादानम्।
117 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड 14, पृ0-113-114.
118 अल्तेकर, ए0एस0,1959, *प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,* पृ0-206.
119 घोषाल, आर0के0, *हिन्दू रिवेन्यू सिस्टम,* पृ0- 62.
120 डी0सी0, सरकार, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन,* भाग-2, पृ0- 283-286.
121 त्रिपाठी, आर0एस0, *हिस्ट्री ऑफ कन्नौज,* पृ0- 349.
122 गोपाल, लल्लनजी, *द इकोनॉमिक लाइफ ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया,* पृ0- 48-52.
123 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 123.
124 ए0एस0 अल्टेकर, वही, पृ0- 215.
125 त्रिपाठी, आर0एस0, *हिस्ट्री ऑफ कन्नौज,* पृ0 349, नियोगी रोमा, *हिस्ट्री ऑफ गाहडवाल डायनेस्टी,* पृ0- 170.
126 नियोगी, रोमा, वही, पृ0- 183, लल्लन जी गोपाल : वही, पृ0- 54.
127 सरकार, डी.सी., *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन भाग-2,* पृ0 283-286.
128 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0- 137-140.
129 रोमा, नियोगी, वही, पृ0- 173.
130 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0- 197.
131 एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-14, पृ0-195.
132 रोमा, नियोगी,1959,*हिस्ट्री ऑफ गाहडवाल डायनेस्टी,* पृ0- 183.
133 डी0सी0 सरकार, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, भाग-2,* पृ0- 279-281.
134 रोमा-नियोगी, वही, पृ0- 170.
135 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0- 17.
136 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 18, पृ0- 14-19.
137 रोमा नियोगी, वही, पृ0- 188.
138 लल्लनजी गोपाल, वही, पृ0- 60.
139 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 18, पृ0- 19.
140 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड- 14, 139-140.
141 वही, 5/15.
142 डी0सी0,सरकार, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन, भाग-2,* पृ0- 290.
143 *उक्तिव्यक्तिप्रकरण,* 43/27.
144 वही, 44/11.

145 जयचन्द्र का लाहडपुरा अभिलेख, एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड- 32, पृ0- 307-308.

146 *कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड*, पृ0- 101.

147 सचाऊ, *अलबरुनीज इण्डिया,* खण्ड- 1, पृ0- 101.

148 ओझा, *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति*, पृ0- 170.

149 कश्यप, प्रशान्त, 2006. *गाहडवालों का इतिहास*, वाराणसी, पृ0- 77.

षष्ठ अध्याय

काशी का धार्मिक परिदृश्य

षष्ठ अध्याय

काशी का धार्मिक परिदृश्य

विश्व स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक नगरों का उदय एवं उनका उत्थान-पतन हुआ, किन्तु काशी सतत् विकासमान रही और इसका धार्मिक-आध्यात्मिक, सांस्कृतिक स्वरूप गतिमान रहा। अपने पुरातन सांस्कृतिक सातत्य को बनाये रखते हुए काशी आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन, सभ्यता का प्रमुख केन्द्र होते हुए अपनी नैरन्तर्य प्रकृति को बनाए रखी। पौराणिक मान्यताओं के अनुसार धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष तीर्थ से भारत के प्रमुख नगरों का वर्गीकरण किया गया है। चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि इन्हीं नगरों के तीर्थों से होती थी, काशी इन्हीं चारों तीर्थों का समन्वय प्रतीत होता है। काशी को विश्व धर्म की स्थली माना गया है। संभवतः ही विश्व का कोई ऐसा सन्त, विद्वान्, सूफी, महात्मा रहा हो जिसे काशी ने आकर्षित न किया हो। प्राचीन काल से ही काशी विविध मतावलम्बी श्रमणों एवं सनातन धर्म की साधना स्थली थी।

चूँकि काशी के धार्मिक इतिहास के लेखन में साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक दोनों ही प्रकार के साक्ष्य महत्त्वपूर्ण हैं। अभिलेख इसमें विशेष सहायक सिद्ध हुए है। इन स्रोतों के साथ ही विदेशी यात्रियों के विवरण, पुरातात्त्विक खुदाई में प्राप्त सिक्कें एवं मुहरें, प्रस्तर मूर्ति, मृण्मूर्ति एवं मंदिरों का उल्लेख करना धार्मिक इतिहास को और अधिक प्रखरित करता है, जिससे काशी के धार्मिक महात्म्य को समझा जा सकता है।

❖ विविध कालों में काशी का धार्मिक जीवन का विवरण निम्नवत् हैः-

1. मौर्यकालीन काशी का धार्मिक जीवन-

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् मौर्य सम्राट अशोक के काल में काशी का सांस्कृतिक विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। 1904-05 ई0 में एफ.ओ. ओर्टेल द्वारा प्राचीन सारनाथ के केन्द्र में उत्खनन कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसमें मूलगंधकुटी विहार, सिंह शीर्ष सहित अशोक स्तम्भ, कनिष्क के राज्यकाल के तृतीय वर्ष में बनी प्रस्तर छत्र

सहित बोधिसत्त्व प्रतिमा धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा आदि पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं।[1] पुनः 1907-1908 ई0 में सर जान मार्शल ने स्टेन कोनोव, डब्ल्यू.एच. निकोलस, दयाराम साहनी एवं बी.बी. चक्रवर्ती के सहयोग से सारनाथ के एक विस्तृत क्षेत्र में उत्खनन कार्य प्रारम्भ किया। उत्खनन कार्य के द्वारा सारनाथ के प्राचीन स्वरूप का अवबोधन हो सका एवं इसके द्वारा काशी के ऐतिहासिकता के साथ ही विविध धर्मों का स्वरूप भी स्पष्ट हुआ।

अशोक के शासनकाल में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन पाटलिपुत्र में हुआ, जिसके प्रमुख अध्यक्ष मोगलिपुत्त तिस्स थे। विशेषज्ञ यह मानते हैं कि तृतीय बौद्ध संगीति थेरवादियों का सम्मेलन थी। बौद्ध-संघ में मौर्यकाल के पहले ही मतभेद होना प्रारम्भ हो चुका था। यह मतभेद अशोक के समय इतने विकट रूप में था कि संघ टूटने का भय होने लगा। इस विकट समस्या से अशोक अत्यन्त आशंकित एवं उद्विग्न था। संघ में मतभेद को समाप्त करने हेतु अशोक द्वारा जो प्रयास किये गये उसके साक्ष्य साँची, सारनाथ एवं कोसम में उत्त्कीर्ण लेख हैं। अशोक का 'धम्म' व्यवहारतः उसके व्यक्तिगत विश्वास और बौद्ध-धर्म का पर्याय था। सारनाथ से प्राप्त ब्राह्मी लिपि एवं प्राकृत भाषा में उत्त्कीर्ण **अशोककालीन अभिलेख** महत्त्वपूर्ण है।[2] इसमें सम्राट अशोक का आदेश निहित है कि 'जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालने का प्रयत्न करेगें एवं संघ की निन्दा करेगें उन्हें श्वेत वस्त्र धारण करवाकर संघ से बहिष्कृत कर दिया जायेगा।' अर्थात् बौद्ध-धर्म के काषाय वस्त्र पहनने का अधिकार उन्हें नहीं रहेगा।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण **प्रथम गौण शिलालेख** (अहरौरा लघु शिलालेख, काशी-क्षेत्र चुनार-मिर्जापुर से प्राप्त)[3] में अशोक स्वयं को **'उपासक'** अर्थात् संघ के बाहर का गृहस्थ बौद्ध स्वीकार करता है। अशोक के ही मास्की लेख में उसके लिए स्पष्ट रूप से 'बुद्धउपासक' शब्द व्यवहृत है। इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध-धर्म से अशोक को विशेष प्रेम एवं विश्वास था।

यद्यपि अशोक के समय में बौद्ध-धर्म का अत्यधिक विकास हुआ, किन्तु फिर भी देश में धार्मिक सहनशीलता थी। उसके काल में सभी धर्मों का समान रूप से पालन होता था, जिसके कारण सभी धर्म-सम्प्रदाय उन्नत-अवस्था में थे। साधारण जन वैदिक यज्ञ-हवन आदि करते थे एवं इनसे सम्बन्धित मंगलगान होता रहता था। इस समय तक तीन प्रमुख धर्म-सम्प्रदाय थे- **1. संघ, 2. ब्राह्मण, 3. आजीवक एवं निर्ग्रन्थ।** अशोक ने अपने सांतवें शिलालेख में अभिलाषा प्रकट की है कि- **सभी धर्म-सम्प्रदाय एक साथ रहें, क्योंकि ये सभी संयम की शिक्षा देने वाले तथा आत्मा को शुद्ध करने वाले हैं।** 12वें शिलालेख में अशोक ने दूसरे के धर्म को सुनने का आदेश दिया है। अशोक की दृष्टि में धर्म प्रायः वही हैं जिसके द्वारा माता-पिता की आज्ञा का पालन, सत्य भाषण एवं सदाचार का अनुसरण करना, जीव-मात्र का आदर हो। जिसके पालन हेतु अशोक प्रजा को सम्बोधित करता है। इससे स्पष्ट होता है कि सभी सम्प्रदायों के मूल में संयम, सदाचार एवं आत्मिक शुद्धि ही धर्म का परिचायक है। मौर्यकाल में प्रचलित वैदिक धर्म के यज्ञ, श्राद्ध आदि का वर्णन मेगस्थनीज ने किया है। ब्राह्मण धर्म में बहुदेवोपासना प्रचलित थी। इस युग में कृष्ण भक्ति का भी पर्याप्त मात्रा में प्रचलन हो चुका था। वासुदेव की पूजा का उल्लेख पाणिनी ने भी किया है। मूर्त्तियों एवं मंदिरों का उल्लेख अर्थशास्त्र में हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि मूर्त्ति पूजा भी तत्त्कालीन् समय में होती थी। देव-प्रतिमाओं का निर्माण करने वाले **'देवताकारु'** के नाम से सम्बोधित किए जाते थे। पतंजलि यह कहते हैं कि मौर्यकाल में शिव, स्कन्द (कार्तिकेय), विशाल आदि देवताओं की मूर्त्तियाँ बेची जाती थी।[4] **मेगस्थनीज** ने गंगा-नदी को सबसे पवित्र नदी मानते हुए 'तीर्थ' के रूप में स्वीकार किया है।[5] काशी भी तत्कालीन समय में गंगा एवं तीर्थ के लिए प्रसिद्ध थी। लोग यहाँ तीर्थयात्रा करने के लिए आते थे।

दार्शनिक पक्ष में मोक्ष तथा सांसारिक पक्ष में स्वर्ग प्राप्ति ही मनुष्य का चरम लक्ष्य था। अशोक के शिलालेखों में निर्वाण का नहीं अपितु केवल स्वर्ग प्राप्ति को लक्ष्य बताया गया है।

इसी क्रम में हमें सनातन धर्म से सम्बन्धित काशी के **राजघाट** नामक पुरास्थल से कुछ चकियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[6] ये अवशेष मौर्य-काल के श्रेष्ठ उदाहरण होने के साथ-साथ काशी के धार्मिक इतिहास की ओर भी इंगित करते हैं। चकियों के बीच प्रायः छेद है। साथ ही कुछ आकृतियाँ भी उकेरी गई हैं। इन आकृतियों में प्रमुख रूप से वानस्पतिक एवं वन्य जीवों से घिरी स्त्री आकृतियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। इन स्त्री आकृतियों की तुलना **डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल** ने मातृपूजा से की है। इसी क्रम में डॉ0 जितेन्द्र नाथ बनर्जी का विचार है कि इन चक्रों का सम्बन्ध किसी धर्म-विशेष से है। वे इन चक्रों की तुलना शाक्तों के यंत्रों, वैष्णवों के विष्णु पट्टों एवं जैन धर्म के आयाग पट्टों से करते हैं। जो भी संदर्भ हो, उत्तर भारत के काशी क्षेत्र में मातृपूजा की परम्परा थी, ऐसे प्राप्त हुए चक्कियों से यह सिद्ध हो जाता है।

2. मौर्योत्तरकालीन काशी का धार्मिक जीवन-

मौर्यकाल के पतन के पश्चात् शुंगों का शासन स्थापित हुआ। इस वंश का संस्थापक पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण-धर्म के उत्थान का प्रवर्तक था। उसने वैदिक धर्म एवं आदर्शों को, जो अशोक के शासनकाल में अपेक्षित हो गये थे, पुनः प्रतिष्ठा की। स्वयं पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन किया। ब्राह्मण धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया तथा वैदिक कर्मकाण्डों के अनुष्ठान पर बल दिया जाने लगा। इसके साथ ही पुष्यमित्र के शासन-काल में बौद्ध-धर्म भी फला-फूला। शुंगों के द्वारा काशी (सारनाथ) में तोरण-द्वार, खम्भें वेदिका एवं वेष्टिनी आदि का निर्माण करवाया गया।[7] इन कृत्यों से शुंगों के धार्मिक सहिष्णुता का परिचय प्राप्त होता है। ये पुरावशेष वर्तमान समय में भी सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सारनाथ से प्राप्त शुंगकालीन अवशेषों के आधार पर यह अनुमानित किया जा सकता है कि शुंगकाल में सारनाथ में बौद्ध-धर्म का विकास मौर्यकाल की भाँति भले ही क्रांतिकारी ढंग से नहीं हुआ, परन्तु इसे सतत् विकास

अवश्य माना जा सकता है। शुंगकाल में ही वाराणसी में एक धनी परिवार में धर्मसेन का जन्म हुआ जो साधारण जन का कष्ट देख कर व्यथित हो गया, तत्पश्चात् उसने सारनाथ में आकर प्रवज्या ग्रहण की। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान पूर्णरूपेण दिया।

शुंगों के पश्चात् काशी पर कुषाण राजवंश का शासन स्थापित हुआ। कुषाण शासक धर्मसहिष्णु थे। उनके काल में सभी धर्म-सम्प्रदायों का उन्नयन हुआ। कनिष्क, इस वंश का प्रमुख शासक था। कनिष्क के ही शासनकाल में बौद्ध-धर्म का विकास सम्पूर्ण एशिया में हुआ। बौद्ध-धर्म के महायान शाखा का उदय प्रमुख रूप से इसके काल में ही हुआ। इस शाखा के अन्तर्गत बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की पूजा होने लगी, जिसके कारण मूर्त्तियों में इनका आकार दिया जाने लगा।

काशी के **सारनाथ** नामक पुरास्थल से कनिष्क के शासनकाल के तृतीय वर्ष=81 (78+3) ई0 के **दो अभिलेख** प्राप्त हुए हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि काशी पर कुषाणों का आधिपत्य था।[8] ये दोनों अभिलेख भिक्षु बल द्वारा बनवायी गई बोधिसत्त्व की प्रतिमा पर अंकित है। प्रथम लेख के अनुसार, भिक्षु बल ने बोधिसत्त्व की प्रतिमा और छत्रयष्टि की स्थापना वाराणसी (सारनाथ) में उस स्थान पर की, जहाँ भगवान बुद्ध चंक्रमण करते थे। क्षत्रप वनस्पर एवं महाक्षत्रप खरपल्लाण के हित-सुख के लिए प्रतिमा की स्थापना करवाई गयी थी। दूसरे लेख से विदित होता है कि वनस्पर एवं खरपल्लाण के आर्थिक सहयोग से भिक्षु बल ने इस प्रतिमा को निर्मित करवाया था।

बौद्ध धर्म के विकास के साथ ही कुषाणकालीन काशी में शैव-धर्म की अभिवृद्धि हुई। कुषाण शासक कनिष्क ने बौद्ध एवं जैन धर्म के साथ ही शैव-धर्म को भी अंगीकार किया। काशी-क्षेत्र के **बभनियांव** नामक पुरास्थल से शैव-धर्म से सम्बन्धित अभिलेख, मूर्त्तियाँ (शिवलिंग), मंदिर आदि मिले हैं। ये पुरावशेष

बभनियांव ग्राम को शैव-धर्म का केन्द्र प्रमाणित करते हैं।[9] यह शिलालेख खण्डित प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्त्कीर्ण है। इस अभिलेख की लिपि कुषाणकालीन ब्राह्मी एवं भाषा प्राकृत मिश्रित संस्कृत है। प्रकृति राजकीय एवं स्वरूप धार्मिक है। इस अभिलेख की तिथि शक संवत् 45 (123 ई0) है।

अभिलेख पर उत्कीर्ण दो पंक्तियों में भगवान शिव के सम्मान में पुण्यवृद्धि हेतु अभिलेख निर्माण व उसके दान का उल्लेख है।[10] अभिलेख में पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

गु स के सं 45 ब

ष्क प्रतिष्ठापितः पूर्णचन्द्र

इसे इस प्रकार पूर्ण करके अनुवादित किया गया है-

प्र गु. म के (?) सं. 45 ब्र ह् (म) (य)

ष्टि प्रतिष्ठापिता = पूर्णचन्द्रे (ण)

परवर्ती कुषाणकालीन सारनाथ में एक पत्थर के छत्र के टुकड़े पर भगवान बुद्ध द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन के समय के उपदेश उत्कीर्ण हैं। इसमें बौद्ध-धर्म के चार आर्य सत्यों का उल्लेख हुआ है। लेख की लिपि अंतिम कुषाण काल की प्रतीत होती है। **स्टेन कोनोव** का विचार है कि उत्तर-भारत से प्राप्त यह अभिलेख, एकमात्र लेख है जिससे ज्ञात होता है कि पालि त्रिपिटक का उस समय अस्तित्व था और काशी के निवासी बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ उसे जानते थे एवं अध्ययन-अध्यापन करते थे।[11]

इन सभी स्त्रोतों से यह ज्ञात होता है कि जन-साधारण के धर्म में बौद्ध धर्म के साथ ही सनातन धर्म की भी प्रमुखता रही। यहाँ यज्ञ, हवन, पूजा इत्यादि नित्य कर्म होते रहते थे। भारत कला भवन से कुषाणकाल अथवा उसके पहले की बलराम अथवा किसी नाग की मूर्त्ति मिली है।[12] (राजघाट की खुदाई में प्राप्त)। राजघाट से प्राप्त एक स्तम्भ शीर्षक पर जो कुषाणकाल का प्रतीत होता है, यक्ष बने हुए हैं। यक्ष-पूजा का शैव-धर्म

के साथ तादात्म्य दिखाई देता है। शैव पूजा के साथ ही यक्षों की भी पूजा की जाती थी। जातक-कथाओं से इसके विषय में और ज्ञात किया जा सकता है। काशी में विशेष रूप से नागों एवं यक्षों की पूजा प्रचलित थी।[13] संभव है इन्हीं यज्ञों में शिव का भी स्थान रहा हो पर विशेष रूप से शिव का नाम वाराणसी के संदर्भ में साहित्य (बौद्ध एवं जैन साहित्य) में नहीं आया है। बौद्ध साहित्य में शिव की गणना यक्षों में है; उदाहरणार्थ- **महामायूरी**[14] नामक ग्रंथ में वाराणसी के प्रधान यक्ष को महाकाल कहा गया है, जो शिव का भी अन्य नाम है। जो भी हो, यक्ष पूजा से काशी का बहुत प्राचीन सम्बन्ध जान पड़ता है और आज भी काशी के बरम और बीर में प्राचीन यक्ष पूजा के अवशेष बच गए हैं।

मत्स्यपुराण[15] (180/6-20) में यक्ष हरिकेश की कहानी का वर्णन है, जिसमें यह उल्लेख है कि यक्ष पूर्णभद्र का पुत्र हरिकेश स्वभावतः शुद्ध आचरण वाला एवं तपस्वी शिव भक्त था। उसके इस आचरण से उसका पिता पूर्णभद्र कुपित हुआ और उसे घर से निकाल दिया। तत्पश्चात् हरिकेश ने वाराणसी में एक हजार वर्ष तक शिव की आराधना की। इस तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने हरिकेश को वर मांगने को कहा। इस पर हरिकेश ने वाराणसी में सदा स्थित रहने रहने का वर मांगा। शिव ने उसकी इच्छा स्वीकार कर ली और उसे काशी का क्षेत्रपाल नियुक्त किया और उसके सहायक उद्भ्रम एवं संभ्रम भी नियुक्त किये।

इस कथा से कुछ बातों का संकेत प्राप्त होता है; जैसे- जिस समय काशी में यक्ष-पूजा प्रचलित थी उस समय वहाँ शिव-पूजा भी जारी थी। कालान्तर में शैव-धर्म ने यक्षधर्म को अपने में सम्मिलित कर लिया और जितने भी यक्ष थे, वे सभी शिव के पार्षद हो गए। **मत्स्यपुराण**[16] में एक दूसरी जगह (180/62) काशी के महायक्ष कुबेर ने अपनी सभी क्रियाओं को शिवार्पण करते हुए गणेश पद को प्राप्त किया। इन सभी

साहित्यिक साक्ष्यों पर अत्यधिक गौर तब किया जा सकता है जब अत्यधिक मात्रा में पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध हो।

3. गुप्तकाल से गुप्तोत्तर काल तक काशी का धार्मिक जीवन-

काशी में गुप्त शासकों का काल पौराणिक धर्म एवं उससे सम्बन्धित देवी-देवताओं के पुर्नस्थापना का काल था। काशी में धर्म एवं कला की दृष्टि से गुप्तों ने राजकीय प्रश्रय प्रदान किया। वस्तुतः गुप्त शासक धर्मसहिष्णु सम्राट थे, वैष्णव धर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने अनेक धार्मिक सम्प्रदायों जिनमें बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्मिलित थे, को अपना संरक्षण प्रदान किया। इस काल में वैदिक देवकुल की बलियज्ञात्मक उपासना विधि धीरे-धीरे विस्मृत होती गयी और ईश्वरवादी मूर्त्त देवी-देवताओं की अनुष्ठानिक उपासना का व्यापक प्रसार हुआ। काशी का एक अन्य नाम 'अविमुक्त' भी है, जो पुरातात्त्विक दृष्टि से गुप्तकालीन है। इसका आधार यह है कि **'अविमुक्त'**[17] नाम की मृण्मुहरें काशी के राजघाट से मिली है, जिसे भाषा एवं लिपि के आधार पर गुप्तकाल का माना जाता है। इस नामकरण की घटना साहित्य में पुराणों के अन्तर्गत दिवोदास युग तक जाता है। इस कथा का विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठों के अन्तर्गत किया जा चुका है। संक्षेप में कथा का सार यह है कि- शिव ने काशी के नष्ट हो जाने पर भी यहाँ से कभी न हटने का विचार पार्वती से प्रकट किया, इसीलिए इसका नाम 'अविमुक्त-क्षेत्र' पड़ा।

गुप्तों के काल में अन्य धर्म सम्प्रदायों की तरह शैव-धर्म का भी पल्लवन हुआ। शैव तीर्थ के नाम से सम्बोधित की जाने वाली काशी को महाभारत के आरण्यक पर्व में आदरणीय स्थान प्राप्त है। गुप्तों के काल में ही शैव-धर्म से सम्बन्धित दो पुराण - वायु एवं मत्स्य रचे गये। इन्हीं पुराणों के अन्तर्गत काशी को शैव तीर्थ के रूप में दर्शाया गया है। काशी में प्रचलित शिव पूजा का विस्तृत विवरण स्कन्दपुराण के **काशीखण्ड,**

ब्रह्मवैवर्तपुराण का **काशी रहस्य** एवं पद्मपुराण का **काशी महात्म्य** आदि में मिलता है। शैव धर्म का पुनरुत्थान काशी में गुप्तयुग से ही आरम्भ हुआ, जिससे यहाँ अनेक शिवलिंगों की स्थापना भी हो चुकी थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस काल के पुराण साहित्य तो हैं ही, परन्तु राजघाट की खुदाई से प्राप्त मुहरें, शिवलिंग एवं मृण्मूर्त्तियाँ भी शैव-धर्म के व्यापक इतिहास का परिचय देते हैं। राजघाट से प्राप्त मुहरों पर वृषभ, त्रिशूल आदि के स्पष्ट अंकन दृष्टिगत् होते हैं। शिव के अनेक पौराणिक नामों का उल्लेख इन मुहरों पर अंकित अक्षरों से मिलता-जुलता है। राजघाट से प्राप्त मृण्मय कला में शिव तथा उनके विभिन्न प्रतिमाशास्त्रीय स्वरूपों का अंकन स्पष्टतया परिलक्षित है।

अभी हाल ही में काशी-क्षेत्र के बभनियांव गांव से शैव-धर्म से सम्बन्धित **शिवलिंग, पार्वती (महिषासुर मर्दिनी, दुर्गा, उमा-माहेश्वर, गणेश, कार्त्तिकेय) के मूर्त्ति** एवं **मंदिर के अवशेष प्राप्त हुए है;** जो प्रारम्भिक गुप्तकाल के प्रतीत होते हैं।[18] ये पुरावशेष बभनियांव गाँव को शैव-धर्म का केन्द्र प्रमाणित करते हैं। जिसका काशी से प्रत्यक्षतः सम्बन्ध रहा होगा।

काशी में शैव-संन्यासियों एवं मंदिरों का विवरण फाह्यान (चतुर्थ शती ई0) एवं ह्वेनसांग (छठीं शती ई0) दोनों ने ही अपने यात्रा-विवरण में किया है। वस्तुतः वैष्णव मतावलम्बी होने के कारण गुप्त-शासक अपने लेखों एवं सिक्कों में स्वयं को 'परमभागवत' कहते हुए दिखाई देते हैं। गुप्तकालीन वैष्णव पुराणों में विष्णु से सम्बन्धित अनेक कथाओं का संदर्भ ज्ञात होता है, जिनमें काशी में अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए वैष्णव एवं शैव धर्म में संघर्ष दिखाई देता है। वैष्णव अवतारवाद सिद्धान्त का प्रभाव काशी में था, जिसे साहित्य एवं पुरातत्त्व के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। **भारत कला भवन संग्रहालय** (बी.एच.यू.) में संरक्षित गुप्तकालीन **गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा** (बकरिया कुण्ड से प्राप्त) इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि काशी में

कृष्णोपासना प्रचलित थी। गुप्तशासक कुमारगुप्त एवं स्कन्दगुप्त के शासन काल में काशी का विशेष उत्कर्ष हुआ। स्कन्दगुप्त के काल का महत्वपूर्ण स्तम्भ लेख गाजीपुर के **भीतरी** नामक स्थल से प्राप्त हुआ है, जिसमें **विष्णु** की एक प्रतिमा स्थापित करने एवं पूजा का खर्च चलाने हेतु एक गाँव दान में देने का वर्णन है।[19] कृष्णसेन, हरिषेण, भागवत, माधव आदि नाम और लक्षण राजघाट से प्राप्त अनेक मुहरों पर अंकित हैं। विष्णु-मंदिर का अंकन एक मुद्रा पर हुआ है।

शैव एवं वैष्णव धर्म के साथ-साथ जैन एवं बौद्ध-धर्म का भी प्रादुर्भाव काशी में प्रखर रूप से हुआ। काशी विशेष रूप से सारनाथ मौर्यों के समय से ही बौद्ध-धर्म की पवित्र तीर्थ स्थली रही है। सारनाथ का महत्त्व गुप्तकाल में भी निरन्तर बना रहा। **मूलगंधकुटी विहार** की स्थापना गुप्तकाल में ही हुई, जो सद्धर्मचक्र विहार का प्रधान मंदिर था। प्रारम्भिक गुप्तकाल में काशी (सारनाथ) में सर्वास्तवादियों (हीनयान) का प्रभाव था परन्तु कालान्तर में महायान सम्प्रदाय का वर्चस्व बढ़ता गया। बौद्ध-भिक्षुओं की अभिवृद्धि इस काल में अत्यधिक हुई। गुप्त काल में बौद्ध-मूर्त्तियों के निर्माण का केन्द्र मथुरा एवं सारनाथ थे। यहाँ से प्राप्त मूर्त्तियाँ धार्मिक अभिव्यक्ति और शैली की दृष्टि से अद्वितीय प्रतीत होती हैं। बुद्ध के जीवन के प्रधान-घटनाओं के अतिरिक्त बोधिसत्त्व, मैत्रेय, अवलोकितेश्वर, तारा, प्रज्ञापारमिता आदि की मूर्त्तियाँ सारनाथ की खुदाई से प्राप्त हुई हैं। यहाँ से प्राप्त बौद्ध-मूर्त्तियों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि बोधिसत्त्वों की पूजा यहाँ बढ़ रही थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) के शासनकाल में चीनी यात्री फाह्यान भारत-भ्रमण पर आया था। उसने अपने विवरण में उल्लेख किया है कि सारनाथ के जंगलों में किसी स्थान पर पंचवर्गीय भिक्षुओं द्वारा तथागत को आदरपूर्वक बैठाया गया।[20] सारनाथ में चार विशाल स्तूपों एवं दो संघारामों को फाह्यान ने अपनी आँखों से देखा था। इससे प्रतीत होता है कि फाह्यान के भ्रमण के समय सारनाथ में

बौद्ध-धर्म की गतिविधियाँ पूर्ण सृजनात्मकता के साथ अबाध रूप से निरन्तर चल रही थी।

कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ अभिलेख (बुद्ध-प्रतिमा लेख) गुप्त सं. 157 (475 ई.) में भगवान बुद्ध को शास्ता (मार्ग प्रशस्त करने वाला) सम्बोधित किया गया है।[21] अप्रतिम गुणों से युक्त भगवान बुद्ध की मूर्त्ति की स्थापना का उल्लेख इसी अभिलेख में हुआ है। अपने माता-पिता, गुरुजनों के पुण्यवृद्धि एवं अपनी संतुष्टि हेतु बौद्ध भिक्षु **अभयमित्र** ने इस प्रतिमा का निर्माण करवाया था। विदित है कि भिक्षु अभयमित्र का जन्म वाराणसी के एक श्रेष्ठि कुल में हुआ था और उन्होंने संसार के मायावी चकाचौंध से ऊब कर बुद्ध, धम्म एवं संघ की शरण ग्रहण करते हुए भिक्षुता धारण कर ली थी। परवर्ती बौद्ध शासक बुद्धगुप्त का सारनाथ से गुप्तसंवत् 157 (477 ई0) का अभिलेख[22] एवं राजघाट से प्राप्त 159 गुप्त संवत् (479 ई0) का अभिलेख[23] प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख पर महाराजाधिराज बुद्धगुप्त नाम अंकित है। बुद्धगुप्त बौद्ध-धर्मावलम्बी थे और ह्वेनसांग के विवरणानुसार उन्होंने नालन्दा के बौद्ध-विहार में अभिवृद्धि की थी।

इस प्रकार सारनाथ से प्राप्त मूर्त्तियों एवं राजघाट से मिली मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध एवं शैव-धर्म यहाँ इस युग में बहुत तीव्रता के साथ पल्लवित एवं पुष्पित हुए। सारनाथ में सहस्त्र बौद्ध तीर्थ यात्री दूसरे देशों से भी इस काल में आगमन करते थे और महामानव (बुद्ध) के प्रति अपनी श्रद्धा सुमन अर्पित करते थे, इसके साथ साथ वे स्तूपों एवं मूर्त्तियों की स्थापना करवाते थे जिससे बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता में अभिवृद्धि हुई।

गुप्तों के पश्चात् काशी में प्रत्यक्षतः हर्ष का शासनकाल आरम्भ हुआ। हर्षकालीन काशी के धार्मिक स्थिति को समझने हेतु एक मात्र स्त्रोत् ह्वेनसांग (629-645 ई0) का

यात्रा-वृत्तान्त हैं। **'सी.यू.की'** नाम से सम्बोधित किए जाने वाले अपने यात्रा विवरण में **ह्वेनसांग** काशी के विषय में लिखता है कि-[24] यहाँ के लोग बहुत कम ही बौद्ध थे तथा अन्य सम्प्रदायों में विश्वास करते थे। यहाँ सम्मितीय सम्प्रदाय वाले लगभग 3000 भिक्षुओं द्वारा आबाद 30 से अधिक विहार थे। शहर में देवमंदिरों की संख्या 100 के ऊपर थी और इनके अनुयायी 10 हजार से अधिक थे। इनके अनुयायियों में अधिकतर शैव मतावलम्बी थे, जो अपने बाल को कटवा लेते थे एवं कुछ जटाजूट बाँधते थे, कुछ नंगे घूमते थे एवं कुछ तो भस्म रमाते थे। कठोर तपस्या से अपने शरीर को तपाते हुए वे सभी इस मर्त्यलोक से मुक्ति पाने की इच्छा रखते थे। वाराणसी नगर में कांसे से निर्मित देव की सौ फुट ऊँची मूर्त्ति स्थापित थी, जो अपनी सजीवता से लोगों को आकर्षित करती थी। यह विवरण सी.यू.की. में मिलता है। ह्वेनसांग के विवरणानुसार हीनयान सम्प्रदाय के सम्मितीय शाखा के 1500 भिक्षु सारनाथ के संघाराम अथवा महाविहार में निवास करते थे और विहार के मध्य में धातु से निर्मित बुद्ध प्रतिमा 'धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा' में स्थापित थी। बुद्ध के उपदेशित स्थल का उल्लेख भी ह्वेनसांग करता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल से हर्षकाल तक काशी में धर्म की परिणति प्रायः एक समान थी। ब्राह्मण धर्म के साथ-बौद्ध धर्म की उत्कर्ष पर था। समाज में जहाँ एक ओर शैवमतावलम्बी विद्यमान थे, वहीं बौद्ध-अनुयायी भी दृष्टिगत् होते हैं। गुप्तकाल में जैन-धर्म से सम्बन्धित काशी में अभिलेख तो दृष्टव्य नहीं होते किन्तु मुहरें एवं मृण्मूर्तियाँ जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। राजघाट से मिली ऋषभदेव नाम के एक व्यक्ति की मुद्रा से यह पता चलता है कि काशी में गुप्तकाल में जैनमतावलम्बी निवास करते थे। इसी क्रम में **पहाड़पुर ताम्रपत्र गु.सं. 159** (बंगाल) का उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है।[25] लेख में यह उल्लेख है कि- पुंड्रवर्धन के अधिकरण अधिष्ठान के पास एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी द्वारा तीन दीनारों के जमा किया गया जिससे कुछ भूमि खरीदकर उसकी आमदनी से वट गोहाली विहार की जैन प्रतिमाओं का पूजन हो सके।

इस विहार का प्रबन्ध आचार्य गुहनंदिन् के शिष्य-प्रशिष्य करते थे। उपर्युक्त गुहनंदी काशी के थे और पंचस्तूपान्वयी थे।

4. पूर्वमध्यकालीन काशी का धार्मिक जीवन -

पूर्वमध्यकालीन धार्मिक विश्वासों-आस्थाओं की नींव प्राचीन भारत में ही पड़ चुकी थी। धर्म के आधारभूत सिद्धान्त, उसकी रूपरेखा एवं कर्मकाण्डों में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। इसी कारणवश् तत्कालीन् धार्मिक-व्यवस्था प्राचीन परम्परा से एकदम अलग और कटी हुई नहीं थी। वह सतत् प्रवाहमान ऐतिहासिक सरिता का ही अंग थी। विवेच्य युग में धर्म का शुद्ध, सात्त्विक और मूल रूप पृष्ठभूमि के अन्तर्गत चला गया। कर्म एवं क्रियायें प्रधान तत्त्व हो गये, जिससे अन्य विकृतियों का जन्म हुआ। पूर्वकालीन धर्म-सम्बन्धी क्रियायें और धार्मिक विचारों सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्त इस काल में भी प्रचलित रहे। पौराणिक हिन्दू-धर्म, जैन एवं बौद्ध-धर्मों की तुलना में अधिक प्रभावशाली हो गया था। परिवर्तनों के कारण समस्त भारतीय समाज धर्म के संरक्षण में ही था। इसी क्रम में पूर्वमध्यकालीन काशी के धार्मिक स्वरूप को भी समझा जा सकता है। सातवीं शताब्दी ई0 से लेकर 12वीं शताब्दी ई0 तक काशी पर पालों, कलचुरियों एवं गाहडवाल शासकों का आधिपत्य रहा। इनके शासन के अन्तर्गत रही काशी में धर्म के स्वरूप में अभिवृद्धि ही हुई, जिनमें सनातन धर्म के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन एवं अन्य सम्प्रदायों का योगदान निहित था।

अभिलेखों में वैष्णव मत के साथ ही शैव-धर्म का प्रभाव भी काशी में परिलक्षित होता है। इसी क्रम में सांतवी शताब्दी ई0 का एक लेख सारनाथ की खुदाई से प्राप्त हुआ है, जिसे **'प्रकटादित्य का सारनाथ अभिलेख'** सम्बोधित किया जाता है।[26] लेख में उसे वैष्णव धर्मानुयायी बताया गया है। प्रकटादित्य हर्ष के पश्चात् काशी के प्रादेशिक

शासक थे, उनके लेख में मुरद्विष नाम से विष्णु का मंदिर बनाने का उल्लेख है, जो संभवतः काशी में ही बनवाया गया होगा।

पंथ के आठवीं सदी के सारनाथ लेख से काशी के धार्मिक-जीवन पर प्रकाश पड़ता है।[27] लेख की पहली पंक्ति में निहित है कि काशी ने त्रिभुवन को अपने में समेट रखा था। दूर-दूर से आए विरक्त जन्म-मरण से मोक्ष पाने के लिए यहाँ तप करते थे। पंथ नित्य शिव की पूजा करते थे। पंथ ने काफी द्रव्य लगाकर और अनेक धार्मिक कृत्यों के पश्चात् चंडी की एक मूर्ति स्थापित की। भवानी की यह मूर्त्ति अत्यन्त भीषण थी और उसके गले में नरमुंड की माला थी, उसके गले में रेंगते हुए सर्प लटके हुए थे और परशु में सूखा मांस लगा हुआ था। वह लीलाभाव से नृत्य कर रही थी और उसके नेत्र घूम रहे थे। इस लेख से शिव-पूजा के साथ-साथ शक्ति की आराधना का वर्णन प्राप्त होता है, जो काशी में निरन्तर प्रचलित था। चंडी से तात्पर्य तांत्रिक सम्प्रदाय के शक्ति (काली) से है।

बौद्ध-धर्म भी इस काल में अपनी महत्ता रखता था। भगवान बुद्ध की उपदेश-स्थली 'सारनाथ' में लोग बुद्ध के आदर के लिए अनेक स्मारकों एवं स्तूपों, संघों का निर्माण करवाते थे। इस क्रम में पालवंशीय शासक **महीपाल के सारनाथ लेख 1026 ई0** का उल्लेख करना अनिवार्य प्रतीत होता है।[28] लेख में वर्णित है कि गौड़ाधिप महीपाल की आज्ञा से स्थिरपाल एवं उसके छोटे भाई बसन्तपाल ने काशी में ईशान चित्रघंटा के तथा अन्य भी सैकड़ों मंदिर स्थापित कराये। स्थिरपाल एवं बसन्तपाल ने धर्मराजिका स्तूप और धर्मचक्र विहार की मरम्मत करवायी और अष्टमहास्थान गंधकुटी नाम के एक नये मंदिर की स्थापना की। इस लेख से यह ज्ञात होता है कि महीपाल बौद्ध होने के साथ ही हिन्दू-धर्म को आदर की दृष्टि से देखते थे और उन्होंने काशी में ईशान (शिव) और चित्रघंटा (दुर्गा) के मंदिर निर्मित करवाये।

कलचुरि शासक कर्णदेव के **वाराणसी (राजघाट) से मिले पीतल पत्र अभिलेख**[29] क.सं. 793 (1041 ई0) से ज्ञात होता है कि कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग के वेणी में स्नान-दान करके शिव की आराधना करते हुए काशी के सुरसी ग्राम को ब्राह्मण विश्वरूप को दान में दिया। इसके शासनकाल में बौद्ध-धर्म का भी उन्नयन हुआ। **कर्ण का एक अन्य शिलालेख क.सं. 810 (1058 ई0) सारनाथ से प्राप्त हुआ है।**[30] लेख से ज्ञात होता है कि 1058 ई0 तक सारनाथ में सद्धर्मचक्रप्रवर्तन नामक एक विहार था। लेख से यह भी ज्ञात होता है कि इसमें आये भक्तगढ़ महायानी थे क्योंकि इसमें बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रंथ अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता की नकल करने की बात आयी है। इस लेख और सारनाथ में मिली अनेक मूर्त्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय वाराणसी (सारनाथ) में महायानियों का पूरा जोर था।

काशी में सनातन धर्म की प्रधानता गाहडवाल काल में विशेष रूप से हुई। जैन एवं बौद्ध-धर्म का प्रभाव इस काल में भी बना रहा। इनमें विचारधाराओं में परस्पर विरोध होते हुए भी एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सहिष्णुता का भाव था। काशी में विभिन्न प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों के होते हुए भी उनके विचारों में आपसी द्वेष-भाव का अभाव था। **अलबरूनी**[31] इस विषय में लिखता है कि- ''समग्र रूप से धार्मिक विषयों पर वे आपस में बहुत कम ही उलझते हैं। अधिक से अधिक उनका विवाद शब्दों में ही होता है। धार्मिक शास्त्रार्थ में वे कभी भी अपने प्राण, शरीर अथवा सम्पत्ति को जोखिम में नहीं डालते।'' गाहडवालों के काल में विविध धर्म-सम्प्रदाय यथा; शैव, वैष्णव, ब्रह्मपूजा, सूर्य उपासना, गणेश पूजा, शाक्त पूजा, गंगा की पूजा आदि के प्रचलन के प्रमाण हमें तत्त्कालीन साहित्यिक एवं आभिलेखिक स्त्रोतों से ज्ञात होते हैं।

विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करने वाले सम्प्रदाय गाहडवालयुगीन समाज में विद्यमान थे। इस काल के शासकों ने वैष्णव, शैव मंदिरों का निर्माण करवाया इससे ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्मानुयायी के साथ ही शैव-मत को भी मानने वाले थे। वैदिक धर्म का भी प्रचार-प्रसार इस काल में होता था। चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र से इसकी पुष्टि होती है।[32] लेख में कुछ अग्निहोत्री ब्राह्मणों को भूमिदान देने का विवरण है। इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि उस युग में भी अग्निहोत्र यज्ञ का प्रचार-प्रसार था। इस युग में व्रत एवं दान का अपना महत्त्व एवं विशेषता है।

ब्राह्मणों को गाहडवाल शासको ने विविध पर्वों एवं अवसरों पर दान दिया। ऐसा प्रायः जन-साधारण का विश्वास था कि दान करने से दाता एवं उसके पूर्वज पुण्य के भागीदार होते हैं। इसी क्रम में गाहडवाल शासक चन्द्रदेव ने 1093 ई0 में दान के रूप में 500 ब्राह्मणों को एक पूरी पत्तला (परगना) अर्पित कर दिया।[33] यहीं नहीं उसके प्रपौत्र गोविन्दचन्द्र ने एक ब्राह्मण को चन्द्रग्रहण के अवसर पर कई ग्राम दान में दिये।[34] ये दान उन्हीं को प्रायः दिया जाता था जो वेदों के प्रख्यात विद्वान् एवं अग्निहोत्र कर्म करने के साथ श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। ऐसे सुअवसरों पर दाता व्रत एवं अनुष्ठान आदि क्रिया-कर्म करते थे, वे शास्त्र सम्मत होते थे। समाज में इनका प्रचलन आज भी अधिकांशतः होता है।

गाहडवाल शासक अभिलेखों एवं प्रशस्तियों में **'परममाहेश्वर'** सम्बोधित किए गये हैं।[35] शिव की पूजा-आराधना तत्कालीन समय में 'माहेश्वर' के नाम से भी की जाती थी। शिव-उपासकों का यह विचार प्रायः था कि उनके प्रत्येक दुःख का अन्त शिव पूजा से हो जाता है। गोविन्दचन्द्र की पत्नी **कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख** से यह ज्ञात होता है कि 'हर' एवं 'हरि' (शिव एवं विष्णु) के समान गोविन्दचन्द्र ने तुरुष्कों से अपने प्रजा की रक्षा की।[36] अर्थात् शिव एवं विष्णु तत्कालीन समय के प्रिय आराध्य थे।

आगमों में शिव को अनादि, निर्विकार, सर्वज्ञ के साथ ही 'पशुपति' भी सम्बोधित किया गया है। मनुष्य उसका पशु है। पशु अज्ञान, कर्म तथा माया के बन्धनों से मुक्त है। इस बन्धन के विनाश तथा आत्मा की स्वतन्त्रता भगवान शिव के अनुग्रह पर संभव है। काशी में विख्यात् एवं जनस्वीकृत पर्व 'महाशिवरात्रि' था। इस पर्व के दिन गाहडवाल शासक दान दिया करते थे।

शैव-धर्म के साथ ही गाहडवाल काल में वैष्णव सम्प्रदाय भी लोकप्रिय था। गाहडवालकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि वे वैष्णव-धर्म को भी मानते थे। विष्णु के अवतार वासुदेव (कृष्ण) की पूजा करने का विधान **चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र** (वि.सं. 1150) से ज्ञात होता है।[37] इस अभिलेख में ताम्र मुहर भी संलग्न है, जिस पर भगवान विष्णु एवं उनकी पत्नी 'देवश्री' (लक्ष्मी) की स्तुति करने सम्बन्धी लेख भी उत्कीर्ण है। वैष्णव सम्प्रदाय को पूर्वकाल में बौद्ध-धर्म से संभवतः कुछ हानि हुई थी, किन्तु इस काल में भगवान बुद्ध को विष्णु का रूप मान लिया गया।[38] दशावतारों में बुद्ध की परिगणना के फलस्वरूप वैष्णव सम्प्रदाय ने उन्हें अपना विशिष्ट देव समझा।

वैष्णव धर्म से सम्बन्धित काशी में गाहडवाल शासकों द्वारा प्रमुख मंदिर जिनमें आदि केशव मंदिर, इन्द्रमाधव मंदिर का निर्माण करवाया गया, जिसकी पुष्टि इस काल के अभिलेख करते हैं। चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1156 से ज्ञात होता है कि वाराणसी में गंगा एवं वरुणा के संगम पर आदि केशव मंदिर का निर्माण चंद्रदेव के द्वारा करवाया गया।[39] इस मंदिर निर्माण हेतु चंद्रदेव के द्वारा अपने वजन के बराबर सोना, चांदी एवं अमूल्य रत्न, एक हजार गाय, एवं 500 ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से 32 ग्राम दान दिये गये। अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि 'सौर्य नारायण' के समक्ष यह दान समर्पित किया गया था। वैष्णव-धर्म को समझने हेतु **कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख** को प्रस्तुत किया जा सकता है।[40] अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'दुष्ट तुरुष्क

(तुर्कों) से काशी की रक्षा करने के लिए भगवान शंकर के अनुनय पर भगवान विष्णु ने काशी में पुनः अवतार लेकर गोविन्दचन्द्र का नाम ग्रहण किया।' इस अभिलेख में गोविन्दचन्द्र को 'विष्णु का अवतार' सम्बोधित किया गया है। 'इन्द्रमाधव' नामक विष्णु मंदिर का उल्लेख **गोविन्दचन्द्र के वि.सं. 1171**[41] **बनारस अभिलेख** में हुआ है। इससे यह आकलन किया जा सकता है कि गोविन्दचन्द्र वैष्णव-सम्प्रदाय को मानने वाला था। इसका पुत्र विजयचन्द्र भी वैष्णव-धर्मानुयायी था। अनेक विष्णु-मंदिरों का निर्माण इसके द्वारा भी किया गया। **जयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र** से ज्ञात होता है कि 1168 ई0 में आदि केशव घाट पर अपने पिता विजयचन्द्र की अनुमति प्राप्त कर जयचन्द्र ने स्नान कर कृष्ण-भक्ति-सेवा की दीक्षा ली एवं इस अवसर पर 'प्रहराजशर्मा' नामक ब्राह्मण को दान दिया गया।[42] जयचन्द्र भी आदि केशव का परम भक्त था, ऐसा उसके ताम्रपत्र से ज्ञात होता है। इन सभी विवरणों से यह विदित होता है कि गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र, जयचन्द्र एवं अन्य वैष्णव धर्म का पालन करते थे।

लक्ष्मीधर भी अपने ग्रन्थ **'कृत्यकल्पतरु'**[43] में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता की पुष्टि करते हुए कहता है कि 'जिस दिन तीन नक्षत्रों का मिलन होता हैं, विष्णु की पूजा-अर्चना की जाती हैं, इस उपलक्ष्य में भोजन-समारोह का आयोजन किया जाता था। भाद्र-पद के आठवें दिन 'कृष्ण-जन्मोत्सव' का उल्लेख कृत्यकल्पतरु में भी मिलता है।[44] यह कार्यक्रम रात्रि तक आयोजित किया जाता था। वर्तमान समय में भी पूरे भारतवर्ष समेत काशी में भी जन्माष्टमी बड़ी-धूम-धाम से मनाया जाता है।

शैव एवं वैष्णव धर्म के अतिरिक्त सूर्य पूजा का भी प्रमाण गाहडवालयुगीन अभिलेखों से प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य गाहडवाल शासकों के प्रिय देवता थे। भगवान लोलार्क (सूर्य) के निमित्त गाहडवाल शासक जयचन्द्र ने एक ग्राम का आधा हिस्सा दान में दिया एवं उसका दूसरा हिस्सा अन्य ब्राह्मणों को।[45] लोलार्क (सूर्य)

भगवान के समक्ष गोविन्दचन्द्र की अन्य पत्नी गोसल्लदेवी ने दान अर्पित किया था।[46] काशी में लोलार्ककुण्ड वर्तमान समय में अस्सी (वाराणसी) में स्थित है, किन्तु यहाँ मंदिर का अस्तित्व ज्ञात नहीं है। सूर्य पूजा का प्रमाण गाहडवाल शासक **जयचन्द्र के लाहडपुरा अभिलेख**[47] से मिलता है। 'लोक-लोचन' (विश्व की आँख) तथा 'देव-दर्शाका' नाम से इस अभिलेख में सूर्य देवता को अभिहित किया गया है। वि.सं. 1228 के कमौली ताम्रपत्र में 'गंगादित्य' हेतु दान का विवरण प्राप्त होता है।[48] संभवतः यह दान गंगा एवं आदित्य (सूर्य) के लिए ही निर्धारित किया गया था। सूर्य-पूजा का विधान बताते हुए लक्ष्मीधर ने यह उल्लेख किया है कि 'आषाढ़ के शुक्ल-पक्ष में 7 वें दिन भास्कर (सूर्य) का पूजन किया जाता था।'[49]

प्रथम पूज्य श्री गणेश की पूजा सनातन-धर्म में सर्वप्रथम करने का विधान है। गाहडवालकालीन काशी में श्री गणेश की पूजा का पर्याप्त प्रचार था, जिसकी पुष्टि यहाँ से प्राप्त अनेक गणेश प्रतिमाओं से होती है। **मोतीचन्द्र के मतानुसार**[50], गाहडवाल युग में काशी में प्रसिद्ध गणेश मंदिरों में कोण विनायक, देवढ़ि विनायक, हस्ति विनायक, सिंदूर विनायक आदि थे। 'विनायक' एवं 'दयीपार' नाम से श्री गणेश को गाहडवाल शासक जयचन्द्र के बेलखारा अभिलेख में अभिहित किया गया है।[51] सभी आपत्तियों को नष्ट करने वाला एवं आकांक्षाओं की पूर्ति करने वाले गणेश की पूजा का अत्यन्त महत्त्व हैं। विघ्नहर्ता श्री गणेश को प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में स्मरण कर पूजन किया जाता था।

शिव एवं शक्ति एक दूसरे से संपृक्त है। शक्ति के बिना शिव शव के समान है। साधारण मनुष्य अपने मनोरथ हेतु शक्ति की आराधना करता है। शक्ति से ही शाक्त बना है और इसी नाम से यह सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुआ। शिव की पत्नी 'उमा' (पार्वती) ही शक्ति का प्रारम्भिक स्वरूप मानी जाती है, जिसे हम प्रायः 'जगतजननी' के नाम से जानते है।

शक्ति के रूप में विकसित होकर पार्वती कपाल भरणां काली एवं सिंह वाहिनी दुर्गा का स्वरूप धारण करती है। गाहडवाल काल में काशी में निम्न देवी-स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है, जिनमें दक्षिण में दुर्गा, नैर्ऋत में उत्तरेश्वरी, पश्चिम में अंगोरेशी, वायव्य में भद्रकाली, उत्तर में भीष्मचण्डी तथा महामुण्डा उल्लेखनीय हैं। कालान्तर में देवी पार्वती ने असीमित शक्ति सम्पन्न महाकाली का रूप ग्रहण किया। चूँकि शिव भी महाकाल सम्बोधित किए जाते हैं, इसलिए शक्ति और शिव की एकात्मकता स्वयं सिद्ध प्रतीत होती है। इस काल में शाक्त सम्प्रदाय जन प्रचलित था।

इन सभी धर्म-सम्प्रदायों के अतिरिक्त काशी में गाहडवाल-शासकों के समय बौद्ध-धर्म का भी उन्नयन हुआ। यद्यपि गाहडवाल शासक सनातन धर्मावलम्बी थे किन्तु वे अन्य धर्मों के प्रति उदार एवं सहिष्णु थे। ऐसा प्रतीत होता है कि काशी में इस समय तक बौद्ध-सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैदिक-क्रियाओं का प्रभाव बढ़ा। किन्तु गोविन्दचन्द्र का संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर बौद्ध धर्म के प्रति उदार था। उसने अपने 'ग्रंथ 'कृत्यकल्पतरु'[52] में यह उल्लेख किया है कि विहार का निर्माण करवाना एक पुण्य का कर्म था। इसी क्रम में गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है।[53] कुमारदेवी बौद्ध-धर्म के वज्रयान शाखा की अनुयायी थी। इस लेख में यह उल्लेख है कि जम्बुकी पत्तला (आधुनिक जमुई) के लोगों ने कुमारदेवी से 'धर्मचक्र जिन विहार' की मरम्मत के लिए आग्रह किया था और इसे स्वीकार कर कुमारदेवी ने सारनाथ के बौद्ध-विहारों की मरम्मत करवाई। उसने भारत का सर्वश्रेष्ठ विहार निर्मित करवाया था। जम्बुकी पत्तला वालों से बुद्ध का सम्बन्ध होने के कारण उसे सभी पत्तलिकाओं में श्रेष्ठ स्थान दिया गया। इस घटना से तत्कालीन काशी के लोगों में बौद्ध-धर्म के प्रति जागरूकता एवं श्रद्धा का पता चलता है। साथ ही कुमारदेवी ने या तो जिन विहार की मरम्मत करवाई या एक नये जिन विहार की स्थापना करके उसे 'वसुधारा' के विहार में स्थान दिया।

सारनाथ से मिली एक मुद्रा से यह ज्ञात होता है कि धर्मेक्षा स्तूप को, जिसको इस मुद्रा में धमांक (आधुनिक धमेक) कहा गया है, लोग आदरपूर्वक दृष्टि से देखते थे और इसकी पूजा करते थे।[54] बौद्ध-धर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कृत्यकल्पतरु में यह उद्धृत है कि- बुद्ध द्वादशी व्रत को रखने के लिए बुद्ध की प्रतिमा का पूजन किया जाता था।

तुर्कों के काशी (सारनाथ) पर आक्रमण के फलस्वरूप बौद्ध-धर्म में काफी अनैतिक तत्त्व सम्मिलित हो चुके थे, जिससे बौद्ध-धर्म को अत्यन्त क्षति पहुँची। तुर्क-आक्रमणकारियों ने मठों, विहारों को नष्ट करने के साथ-साथ हिन्दू-मंदिर भी तोड़े। चूँकि बौद्ध-धर्म की सामाजिक प्रतिष्ठा इस समय तक नाम मात्र तक शेष रह गयी थी, इसीलिए उसके मठों एवं विहारों का पुनर्निर्माण संभव न हो सका।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काशी में विविध काल में धर्मों की अभिव्यक्ति निरन्तर विद्यमान रही, जिनमें सनातन, जैन एवं बौद्ध तथा अन्य धर्म सम्प्रदाय प्रमुख थे। इनकी अभिव्यंजना साहित्यिक साक्ष्यों के साथ-साथ अभिलेखों से भी की जाती है। अभिलेख प्रायः धर्म एवं दर्शन से ही सम्बन्धित होते हैं। दाता अभिलेखों में दान देने के संदर्भ में पर्व एवं दान के उचित समय के साथ नक्षत्र का भी उल्लेख करवाता था। तत्कालीन अभिलेखों से विदित होता है कि दान निर्धारित समय एवं अनुकूल नक्षत्रों में ग्रहणकर्त्ता को दिया जाता था। कई पर्वों अथवा नक्षत्रों के समय दान देने का उल्लेख गाहडवालकालीन अभिलेखों में आया है; जैसे-सूर्यग्रहण[55], चन्द्रग्रहण[56], पूर्णमासी[57], अमावस्या[58], कृष्णपक्ष[59], शुक्लपक्ष[60] आदि। चन्द्रग्रहण, सूर्य ग्रहण के समय नदी, संगम एवं तीर्थ-जल से स्नान करके ब्राह्मणों को भूमिदान (ग्रामदान) दान दिया जाता था, ऐसा विवरण गाहडवालकालीन ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है। गाहडवालकालीन पाँच दानपत्रों में (सोम) चन्द्र एवं सूर्य ग्रहण का उल्लेख मिलता है।[61]

चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 में यह वर्णन प्राप्त होता है कि चंद्रदेव ने आदि केशव मंदिर में 'आदि केशव देवता' (कृष्ण) के समक्ष अपने वजन के बराबर स्वर्ण का दान किया।[62] प्रायः अधिकतर गाहडवाल ताम्रपत्र भूमिदान के अन्तर्गत 'अग्रहार दान' की चर्चा करते हैं। अभिलेखों में अग्रहार दान के दो स्वरूपों का उल्लेख प्राप्त होता है- आशीर्वादात्मक एवं शापात्मक। भूमि का दान करना पुण्य-कृत्य समझा जाता था एवं दान में दी गई भूमि का अपहरण करना पाप माना जाता था। ऐसा करने वाले को नरक का भागी बनना पड़ता था। दान देने हेतु अमावस्या से अधिक महत्त्व पूर्णिमा का था, जिसकी पुष्टि गाहडवालकालीन अभिलेखों से होती है। **गाहडवाल शासकों के दानपत्र में अमावस्या[63] का केवल एक बार, जबकि पूर्णिमा का छः बार उल्लेख है। दान हेतु शुक्ल पक्ष के तीसरे दिन को 'अक्षयतिथि'[64] कहा गया है, जिसका अपना महत्त्व है।**

दान देने हेतु कार्त्तिक-पूर्णिमा, माघ-पूर्णिमा, श्रावण-पूर्णिमा तथा आषाढ़ पूर्णिमा के दिन का चयन किया जाता था, इस प्रकार की विवेचना गाहडवालकालीन अभिलेखों से ज्ञात होती है। इन तिथियों में दान देना पुण्य का कार्य समझा जाता था, जिससे व्यक्ति को सुख और संतोष प्राप्त होता था। कार्त्तिक पूर्णिमा का उल्लेख गाहडवालकालीन चार अभिलेखों में,[65] श्रावण-पूर्णिमा का उल्लेख दो अभिलेखों में[66], माघ-पूर्णिमा का उल्लेख एक अभिलेख[67] तथा आषाढ़-पूर्णिमा का उल्लेख एक अभिलेख[68] में आया है।

भिन्न-भिन्न महीनों में दान देने का विवरण इस काल के अभिलेखों एवं ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है, जिसका अपना विशिष्ट महत्त्व है। बारह महीनों में से अभिलेखों में दस महीनों के नाम स्पष्ट है, केवल चैत्र महीना तथा मार्ग शीर्ष अथवा अगहन महीने का उल्लेख अभिलेखों में नहीं आया है। दान हेतु रविवार के दिन का विशेष महत्त्व था,

जिसका उल्लेख 12 बार ताम्रपत्रों में हुआ है।[69] कार्त्तिक मास का अभिलेखों में सबसे अधिक बार वर्णन हुआ है एवं सबसे कम ज्येष्ठ एवं श्रावण मास का।

काशी प्राचीन समय से ही तीर्थ-स्थली के रूप में प्रसिद्ध रही है, इसका अपना विशिष्ट महत्त्व वर्तमान समय तक भी बना हुआ है। तीर्थ स्थल प्रायः पवित्र नदियों के तट अथवा उनके समीप या संगम पर स्थापित होते थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि तीर्थों में स्नान करने के पश्चात् मनुष्य के सारे पाप धुल जाते हैं। लक्ष्मीधर ने तीर्थ के रूप में काशी का उल्लेख किया है। व्रत रहकर भी ब्राह्मणों, पुरोहितों तथा अन्य लोगों को दान यहीं पर दिया जाता था, जिसका पुष्टि गाहडवालकालीन अनेक दानपत्र करते हैं।

पूर्वमध्यकाल में धर्म के अतिरिक्त तंत्र-मंत्र का भी प्रचलन था। तंत्र-मंत्र समाज में पूर्णतया प्रविष्ट कर गया। बौद्धों के वज्रयान अथवा मंत्रयान से अंधविश्वासों का प्रचलन और भी बढ़ा। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण'[70] में आये एक उद्धरण से ज्ञात होता है कि 'श्मशान में वेताल क्रीडा करता है।' मंत्रों के उच्चारण से भी मृतक जीवित हो उठते थे, ऐसा विचार इस पुस्तक में हुआ है। 'नैषधियम्चरित्[71]' नामक ग्रंथ में श्रीहर्ष ने तत्त्कालीन समाज के अंधविश्वासों का उल्लेख किया है, जो उस समय प्रचलित थे। लोगों का दृढ़ विश्वास भूत-प्रेतों की सत्ता में था। इन अंधविश्वासों के विषय में गाहडवाल अभिलेखों से निम्न सूचना प्राप्त होती है- स्वर्ग एवं नर्क की कल्पना करना, भूत-प्रेत, ज्योतिष, भविष्यवक्ता, राहु द्वारा सूर्य एवं चंद्र को ग्रसना इत्यादि। दान देने का मुख्य उद्देश्य अपने पुण्य की अभिवृद्धि के साथ स्वर्ग की कामना करना ही था। इनसे सम्बन्धित कृत्यों में जन साधारण को पूर्ण विश्वास था।

काशी में लोक-धर्म-

काशी में लोक-धर्म का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। लोक-धर्म प्रायः उसे कहा जाता है, जिसमें जन-साधारण की सामान्य धारणा हो। काशी के निवासी अन्य धर्म-

सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हुए भी लोक-धर्म में आस्था एवं विश्वास रखते थे। वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा, बरम व वीर की पूजा एवं अन्य लोक-धर्म सामान्यतया काशी में प्रचलित है, जिसकी निरन्तरता वर्तमान समय तक भी बनी हुई है। बुद्ध के समय काशी में नाग पूजा प्रचलित थी। धम्मपद अट्ठकथा में (3/230) में उल्लिखित है कि वाराणसी के पास सात सिरीस के पेड़ों का झुरमुट था और यहीं बुद्ध ने नाग एरकपत्त को उपदेशित किया।[72] वर्तमान समय में भी नाग-पूजा के कुछ अवशेष वाराणसी में बच गये हैं। काशी के लोग नाग कुआँ को अभी भी पवित्र मानते हैं और नागपंचमी तो काशी का प्रसिद्ध त्यौहार है, जिसका अपना महत्त्व है।[73]

वृक्ष-पूजा का प्रचलन भी काशी में पर्याप्त था। वृक्ष के अंदर बसने वाले देवता अथवा यक्ष की पूजा होती थी। वृक्षों को बलि देने की प्रथा का उल्लेख (यक्ष के संदर्भ में) जातकों से ज्ञात होता है।[74] पुत्र एवं धन की कामना वृक्षों से की जाती थी। वृक्षों पर मालाए लटकायी जाती थी और उनके चारों ओर दीपक जलाये जाते थे। आज भी पीपल वृक्ष की पूजा काशी सहित सम्पूर्ण उत्तर भारत में की जाती है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि ग्रहों के निवारणार्थ एवं अभीष्ट कामना हेतु शनिवार के दिन पीपल-वृक्ष की पूजा की जाती थी। इन सभी विवरणों से ज्ञात होता है कि सर्व साधारण भूत-प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष आदि की पूजा करते थे और जादू-टोने में उनका काफी विश्वास था।

इन सभी के अतिरिक्त यक्ष पूजा भी काफी प्रचलित थी। काशी में आज भी चौराहें अथवा दूरस्थ स्थान पर ग्राम देवता (डीह बाबा) की पूजा की जाती है। प्रत्येक शुभ कार्य के अवसर पर इनका स्मरण करना अथवा पूजन करना अनिवार्य था। काशी में हरसूबरम (ब्रह्मराक्षस) प्रसिद्ध देवता के रूप में निवास करते हैं। वस्तुतः वीर का यक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। बीर 52 की संख्या में है, जिनके नाम पृथ्वीराजरासों में गिनाये गये हैं।

ये वस्तुतः भैरव के अनुयायी है। बहुत से शिवलिंग अरघा नष्ट हो जाने पर बीर कहकर पूजे जाते रहे हैं जैसे- बाघे बीर।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काशी के धर्म के स्वरूप को अभिव्यक्त करने हेतु वैदिक परम्परा, जैन धर्म, बौद्ध धर्म एवं लोक धर्म का अपना विशिष्ट महत्त्व है। जीवन्त काशी को समझने हेतु यहाँ धर्म में संयुक्त हो जाना ही पर्याप्त है। धर्म के माध्यम से ही काशी अभिव्यंजित, सिंचित, पुष्पित एवं पल्लवित सहस्त्रों वर्षों से होती आयी है, जिसकी निरन्तरता वर्तमान समय तक बनी हुई है और भविष्य में भी बनी रहेगी।

संदर्भ-ग्रन्थ-

1 ओरटेल, एफ0ओ0, 1904-05, *एक्सकेवेशन ऑफ सारनाथ इन आर्कियोलॉजी सर्वे ऑफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्टस*, पृ0- 59-104.

2 का0इ0इ0, खण्ड-1, पृ0- 116, हुल्श द्वारा प्रकाशित।

3 *भारती,* अंक-5, पृ0 135, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।

4 पाण्डेय, विमलचन्द्र*,1971, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग-1*, पृ0सं0- 321.

5 वही।

6 अग्रवाल, वासुदेव शरण, *भारतीय कला,* पृ0- 195-197.

7 मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृ0- 59.

8 एपि0 इण्डि0, भाग-8, पृ0- 171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।

9 संस्कृति साधना, खण्ड-32, पृ0- 258-260, बी0आर0 मणि द्वारा प्रकाशित।

10 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 258-260.

11 एपि0इण्डि, भाग-9, पृ0- 291, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।

12 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 61.

13 वही, पूर्वोक्त।

14 महामायूरी, श्लोक-12.

15 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 27.

16 वही, पूर्वोक्त।

17 वही, पूर्वोक्त, पृ0-74.

18 संस्कृति साधना, खण्ड-32, पृ0- 258-260, बी0आर0 मणि द्वारा प्रकाशित।

19 फ्लीट. जे.एफ., *भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3,* अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, पृ0- 66.

20 एन0 दत्त0 एवं के0डी0 वाजपेयी, 1956, *उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास* (लखनऊ), पृ0- 252.

21 गुप्त, पी0एल0,2008, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड-2*, पृ0- 157-173.

22 वही, पृ0- 176-177.

23 वही, पृ0- 157-173, 176-177.

24 मोतीचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0- 81.

25 गुप्त,पी0एल0 पृ0- 173-176.

26 फ्लीट, जे0एफ0, *भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3,* अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, पृ0- 362-369.

27 एपि.इण्डि. खण्ड- 9, पृ0- 59-62, दयाराम साहनी द्वारा प्रकाशित।
28 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-14, पृ0- 139-140, हुल्श द्वारा प्रकाशित।
29 का.इ.इ., खण्ड-4, पृ0-236, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
30 वही, पूर्वोक्त, पृ0- 275.
31 सचाऊ, *अलबरुनीज इण्डिया,* खण्ड-1, पृ0- 19.
32 एपि.इण्डि., खण्ड-14, पृ0- 192-209.
33 वही, पूर्वोक्त।
34 सरकार, डी0सी0, *सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन,* भाग-2, पृ0- 283-286.
35 एपि.इण्डि., खण्ड-11, पृ0- 26-26.
36 एपि.इण्डि., खण्ड-9, पृ0- 319-328.
37 एपि.इण्डि., खण्ड-14, पृ0- 192-209.
38 *नैषधियम्चरित्,* 21/27-87.
39 एपि.इण्डि., खण्ड-14, पृ0- 197-200.
40 एपि.इण्डि., खण्ड-9, पृ0- 324.
41 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 152-153.
42 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 117-120.
43 *कृत्यकल्पतरु, नियतकाण्ड,* पृ0- 395.
44 वही, पूर्वोक्त।
45 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 128-129.
46 एपि.इण्डि., खण्ड-5, पृ0- 117-118.
47 एपि.इण्डि., खण्ड-32, पृ0- 305-309.
48 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 121-123.
49 *कृत्यकल्पतरु, नियतकाण्ड,* पृ0- 390-91.
50 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 185.
51 ए0एस0आई0आर0 खण्ड-11, पृ0-128-129, कनिंघम द्वारा प्रकाशित।
52 *कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड,* पृ0- 275.
53 एपि.इण्डि., खण्ड-9, पृ0- 319-328.
54 वही, पूर्वोक्त।
55 एपि.इण्डि., खण्ड-14, पृ0- 192-209.
56 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 99-101.
57 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 109.
58 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 116-117.
59 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 104-106.
60 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 101-104.

61 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 99-101.
62 एपि.इण्डि., खण्ड-14, पृ0- 192-209.
63 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 116.
64 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 101-104.
65 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 111-112.
66 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 109.
67 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 99-106-107.
68 एपि.इण्डि., खण्ड-11, पृ0- 20-26.
69 एपि.इण्डि., खण्ड-4, पृ0- 107-109.
70 *उक्तिव्यक्तिप्रकरण,* 34/12.
71 *नैषधियम्चरित्,* पृ0- 44/45.
72 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 28.
73 वही।
74 मेहता, रतिलाल,1939 *प्री बुद्धिस्ट इण्डिया,* पृ0- 326.

सप्तम् अध्याय

काशी की शैक्षणिक-व्यवस्था

सप्तम् अध्याय

काशी की शैक्षणिक व्यवस्था

प्राचीन काशी की शिक्षा-पद्धति के सम्यक् मूल्यांकन हेतु यह अनिवार्य है कि इस शिक्षा-पद्धति के आधारभूत सिद्धान्तों का एक स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जाय। काशी की संस्कृति की यह मूल विशेषता है कि इस संस्कृति की सारी वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ धर्म की आधार भूमि पर ही प्रतिष्ठापित एवं पल्लवित हैं। धर्म की यह प्रधानता काशी के इतिहास में समान विद्यमान रही है। धर्म का प्रभाव शिक्षा एवं साहित्य में स्पष्टतया दृष्टिगत् है। भारतवर्ष की ज्ञानोपासना समस्त क्षेत्रों में प्रवाहित होती रही है। इस ज्ञानोपासना का केन्द्र अत्यन्त प्राचीन काल से काशी अथवा वाराणसी ही रही है। वेद, उपनिषद्, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, विभिन्न पुराण तथा जैन एवं बौद्ध वाङ्मय में काशी नगरी का विपुल माहात्म्य स्थान-स्थान पर प्रतिपादित हैं। काश् धातु से 'काशी' शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है, जिससे तात्पर्य है- **चमकना**। सारे संसार को ज्ञान का प्रकाश देने के कारण यह नगरी काशी नाम से प्रसिद्ध हुई। 'काशते- प्रकाशते सा काशी'। काशीखण्ड नामक ग्रंथ में यह उल्लिखित है कि **'विद्यानां सदनं काशी'**, यह विद्या का घर अर्थात् निवास-स्थान है।[1] काशी के अधिष्ठाता भगवान विश्वनाथ शिव हैं, जो इस नगरी के विद्याप्रधानता के लिए सुसंगत् है। श्रीमद्भागवत् में कहा गया है कि विद्या की कामना करने वाला शिव की आराधना करें- **'विद्याकामस्तु गिरिशम्'।**[2]

वेद-वेदांग, वैदिक वाङ्मय, तंत्रशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, काव्य, अलंकार शास्त्र, जैन एवं बौद्ध शिक्षा के विषयों का पठन-पाठन और साहित्य-सृजन काशी में सहस्त्राब्दियों से अनवरत रूप से चलता रहा।

सुभाषित रत्न संग्रह[3] नामक ग्रंथ में विद्या की महत्ता का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि- 'विद्या, माता के समान मनुष्य की रक्षा करती है, शुभ कार्यों में पिता

के समान सन्नद्ध रहती है, पत्नी के सदृश्य खेदों (दुःखों) का अन्त करने वाली होती है एवं कल्पलता वृक्ष के समान प्रसन्नता प्रदान करती है।

विस्तृत अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य है- स्वयं को सभ्य एवं उन्नत बनाना और यह कार्य जीवन भर चलता रहता है।[4] विप्र आजीवन विद्यार्थी रहता है। एक चिकित्सक को जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उतना उसे किसी विद्यालय में प्राप्त नहीं होता। जितने लोगों की वह चिकित्सा करता है उतना ही उसका ज्ञान विस्तृत हो जाता है। यह बात केवल चिकित्सक पर ही नहीं अध्यापक, वकील, चित्रकार, व्यापारी एवं मूर्त्तिकार पर भी लागू है। सुभाषित रत्न संग्रह में यह वर्णित है कि 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्त्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है तथा उसे सही कार्यों में प्रवृत्त करता है।'

प्राचीन काशी में शिक्षा की क्या अवस्था रही है, इसका प्रमुख अध्ययन आभिलेखिक बिन्दुओं के प्रकाश में किया जा रहा है, साथ ही इनमें मौद्रिक साक्ष्यों का भी उल्लेख किया जायेगा। चूँकि साहित्यिक विवरण आदर्श समाज का प्रतिपादन करती आ रही हैं, इनके उपयोग के साथ ही अभिलेख जो पुरातत्त्व एवं साहित्य के बीच सेतु का कार्य करते हैं, का भी वर्णन अपेक्षित है।

विद्या, धर्म एवं संस्कृति की केन्द्र स्थली काशी विश्व की प्राचीनतम् सांस्कृतिक नगरियों में से एक है। पार्श्वनाथ एवं सुपार्श्वनाथ जैन तीर्थंकरों की जन्मस्थली, बुद्ध की उपदेशस्थली, तथा महावीर की धर्मदेशनास्थली होने के साथ ही काशी रामानन्द, शंकराचार्य, कबीर, रैदास, तुलसीदास, स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् चिन्तकों एवं आचार्यों की कर्मभूमि भी रही है। तृतीय शताब्दी ई0पू0 से बारहवीं शती ई0 तक अनेक राजवंशों के अन्तर्गत रही काशी अपने सांस्कृतिक अस्तित्व को बनाए रखी।

यहीं कारण है कि आज के आधुनिक दौर में भी काशी की प्राचीन और पारम्परिक विरासत संस्कृति के विविध आयामों में दृष्टव्य होती है, चाहे वह विद्या (शिक्षा) हो, धर्म एवं संगीत हो, साहित्य हो, कला हो अथवा सामाजिक जीवन। धार्मिक-दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं साहित्य की दृष्टि से समृद्ध इस नगरी में शिक्षा का विशेष स्थान रहा है।

काशी की शिक्षा-पद्धति का जो भी स्वरूप रहा है, वह वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, जैन-धर्म एवं बौद्ध शिक्षाओं का ही प्रतिरूप है। काशी के ज्ञान एवं दर्शन में इन्हीं ग्रंथों का योगदान उल्लेखनीय है। उपनिषद् काल से ही काशी विद्या की विश्रुत स्थली रही है।[5] विद्या एवं शिक्षा के क्षेत्र में तत्कालीन् ब्राह्मण विद्वानों एवं क्षत्रिय वर्ग ने भी अपना प्रभाव छोड़ा। दर्शन एवं ब्रह्मज्ञान के क्षेत्र में केकय नरेश अश्वपति, पांचाल शासक प्रवाहण जाबालि, विदेह नरेश जनक एवं काशी के राजा अजातशत्रु ने ख्याति अर्जित की थी। काशी का शासक अजातशत्रु ब्रह्मविद्या में निष्णात् होने के साथ-साथ अत्यन्त निर्मल, सरल एवं सद्गुणी स्वभाव का पुरुष था।[6] सम्पूर्ण भारतवर्ष में उसके ज्ञान एवं दर्शन की चर्चा थी। इसी के कारण ज्ञानाभिमान में विख्यात् दार्शनिक ब्राह्मण गार्ग्य बालाकि ने अजातशत्रु को ब्रह्मज्ञान के उपदेश देने की बात कही। प्रसन्नतापूर्वक काशिराज अजातशत्रु ने उन्हें सहस्र गायें प्रदान करते हुए नतमस्तक होकर ब्रह्मविद्या का उनसे प्रवचन सुना।[7] गार्ग्य ने जिन-जिन अभिमानी पुरुषों में ब्रह्मत्त्व का आरोप किया, महाराज अजातशत्रु ने अपने अनुपम मेधा से उन्हें परिछिन्न दर्पमात्र बताकर उसकी उपासना का भी विशिष्ट फल बताते हुए उन सबका निषेध कर दिया। इस प्रकार ब्राह्मण गार्ग्य का अभिमान बुद्धि के कुंठित हो जाने से गलित हो चुका था। फलतः उन्होंने काशिराज अजातशत्रु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुनय किया।[8] किन्तु, इस पर अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा कि ब्राह्मण क्षत्रिय की शरण में इस आशा से जाये कि वह उसे ब्रह्म का उपदेश देगा, यह तो शास्त्र के विपरीत है। तब भी मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान का

ज्ञान एवं महत्त्व अवश्य समझाऊँगा।[9] यह कहते हुए उन्होंने गार्ग्य बालाकि को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया।

श्वेतकेतु की प्रारम्भिक शिक्षा काशी में ही हुई थी, तत्पश्चात् वे आगे के अध्ययन हेतु तक्षशिला भेजे गये।

काशी के परवर्ती चिन्तकों एवं विचारकों जिनमें नवीं शती ई0पू0 के काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ, जिन्हें 23वें तीर्थंकर के नाम से सम्बोधित किया जाता है, उन पर उपनिषद्युगीन् आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव पड़ा, जिनसे उनका ज्ञान तत्त्व एवं आध्यात्म तत्त्व झंकृत था। उनके अनुयायी सांसारिक बन्धनों एवं मोह-स्पृहाओं से विरक्त होकर उनके निर्देश पर चलते थे, फलतः वे निर्ग्रन्थ सम्बोधित किए जाते थे। जैन ग्रंथों में उन्हें 'पुरुषादनीय' (महान पुरुष) 'जिन', एवं 'धर्म तीर्थंकर' कहकर सम्बोधित किया गया।[10] उनके सिद्धान्तों में हिन्दू-धर्म के देववाद, कर्मकाण्ड, हिंसात्मक यज्ञ, वर्ण एवं जाति-व्यवस्था आदि का विरोध तथा अहिंसा, अभेद एवं चिन्तन का समर्थन है। पार्श्वनाथ ने काया-क्लेश, चिन्तन एवं तपश्चर्या से मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए अपने जिज्ञासु शिष्यों को चार्तुयाम- 'अंहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह' के पालन का निर्देश दिया।[11] जैन-धर्म के ज्ञान-तत्त्व, दर्शन एवं शिक्षा आदि का प्रसार काशी से प्रारम्भ हुआ, जो साकेत, राजगृह, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, श्रावस्ती आदि विविध नगरों में आदृत हुआ। पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों में महावीर स्वामी ने ब्रह्मचर्य व्रत को जोड़ते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की।

छठीं शताब्दी ई0पू0 में महात्मा बुद्ध ने भी अपने धर्म एवं शिक्षा के प्रचार का केन्द्र सर्वप्रथम काशी को ही बनाया। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वह बोध गया से काशी आये एवं ऋषिपत्तन (सारनाथ) में उन्होंने सर्वप्रथम उन पाँच शिष्यों को उपदेशित किया, जिन्होंने उरुवेला में तपस्या के दौरान उनका साथ छोड़ दिया था। इसे ही साहित्य में

महात्मा बुद्ध का 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहा गया। इस महान ऐतिहासिक घटना की स्मृति में अशोक ने एक प्रस्तर स्तम्भ, स्तूप एवं अभिलेख का निर्माण आदि करवाया।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि ज्ञान-गरिमा के रूप में काशी की सर्वश्रेष्ठता थी, जहाँ से हिन्दू, जैन एवं बौद्ध-धर्म दर्शन की धारा एक साथ प्रस्फुटित हुई। जब तक लोग काशी में अपने ज्ञान एवं शिक्षा का प्रचार नहीं कर पाते थे तब तक उनका ज्ञान अधूरा होता था। काशी के विद्वान् जब नए धर्म एवं चिंतन को सुन-समझ लेते थे तब उस पर अपनी मुहर लगाते थे, ऐसी किवदन्ती है।

काशी के शैक्षणिक-व्यवस्था को यदि आभिलेखिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाए तो हमें बौद्ध-धर्म एवं शिक्षा से सम्बन्धित अभिलेख मौर्यकाल से मिलता है। इस काल में काशी (सारनाथ) बुद्ध की शिक्षाओं, धर्म-प्रचार आदि का मुख्य केन्द्र स्थापित हो चुका था। सम्राट अशोक ने बौद्ध-धर्म अंगीकार कर इसके परिवर्धन एवं अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अशोक के 'सारनाथ लघु स्तम्भ लेख'[12] से हमें काशी में व्याप्त बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शैक्षणिक व्यवस्था प्रणाली की सूचना प्राप्त होती है। अभिलेख में यह वर्णन है कि बौद्ध-संघ में जो कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। 'बौद्ध-संघ' से तात्पर्य बुद्ध, धम्म एवं संघ से है अर्थात् जिसमें बुद्ध की शिक्षाओं, धर्म का अनुचरण, नियमों के आदर्शों एवं संघ के नियमों का पालन हो।[13] इसी शासन पत्र में राजा का आदेश है कि- ऐसा ही एक शासन-संसरण में लगा दिया गया है, जिससे वह आसानीपूर्वक सभी को दृष्टिगत् हो एवं इसकी दूसरी प्रति उपासकों के लिए स्थापित की गई थी। उपासकों को उपोसथ (प्रायश्चित) के दिन आकर इस शासन पत्र से स्वयं को परिचित कराना अनिवार्य था। पालि भाषा में उत्कीर्ण यह अभिलेख बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं का उल्लेख करता है। अभिलेख के सारनाथ से प्राप्त होने पर यह अनुमान

लगाया जा सकता है कि मौर्यकाल में काशी सम्मिलित थी एवं काशीवासी बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं से लाभान्वित अवश्य हुए होंगे।

इस काल में बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त शिक्षार्थी को विविध विषयों की शिक्षा काशी में प्रदान की जाती थी। इनमें वेद-वेदांग, ब्राह्मण-साहित्य, उपनिषद्, दर्शन, सूत्र-साहित्य एवं इतिहास प्रमुख थे। काशी में दर्शन, साहित्य के पण्डितों के लिए विरोधियों के मतों को समझना भी अनिवार्य माना जाता था। अतः ब्राह्मण तथा बौद्ध एक दूसरे के साहित्य भण्डार से पूर्ण परिचित रहते थे, क्योंकि इसके बिना वे शास्त्रार्थ में विरोधियों को परास्त नहीं कर सकते थे। इसलिए बौद्ध-विहारों में ब्राह्मण-दर्शन का ज्ञान कराया जाता था तो गुरुकुल परम्परा की शिक्षा में बौद्ध-दर्शन का। साहित्यिक एवं दार्शनिक विषयों के साथ-साथ इस काल में शिल्प शिक्षा को भी प्रमुखता मिली जिसे सारनाथ से प्राप्त भग्नावशेषों से जाना जा सकता हैं। इसकी पुष्टि जातक ग्रंथ भी करते हैं, इससे यह ज्ञात होता है कि इस काल में विद्यार्थी 18 शिल्पों का अध्ययन करते थे।

काशी के ही समान तक्षशिला विश्वविद्यालय अपनी प्रतिष्ठा को प्राप्त कर चुका था। चाणक्य, चन्द्रगुप्त मौर्य, पाणिनि, बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही अध्ययन करके प्रसिद्धि प्राप्त की। संजीव जातक में यह उल्लेख है कि बोधिसत्त्व ने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करके काशी में शिक्षा देने का कार्य प्रारम्भ किया। उसके अनेक शिष्य ब्राह्मण विद्यार्थी के रूप में उसे प्राप्त हुए थे। कोसीय जातक में एक आचार्य का वर्णन है, जिसने तक्षशिला में अध्ययन समाप्त कर काशी में अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। इस विषय में मोतीचन्द्र[14] का अनुमान है कि 'काशी को शिक्षा का केन्द्र बनाने का श्रेय तक्षशिला के उन स्नातकों को था जिन्होंने काशी लौटकर शिक्षण का कार्य प्रारम्भ किया।' कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विद्याओं को चार वर्गों में विभक्त किया गया है, जिनमें 'त्रयी' (ऋक्, यर्जु, साम), 'आन्वीक्षिकी' (सांख्य, योग, लोकायत आदि

दर्शनशास्त्र), 'वार्त्ता' (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य), 'राजनीतिशास्त्र' (दण्डनीति) आदि सम्मिलित थे। इसमें संदेह नहीं कि मौर्ययुगीन काशी में इन चारों विद्याओं का भलीभाँति अध्ययन एवं अध्यापन हुआ करता था।

शुंगकालीन काशी में पुनः वर्णाश्रम धर्म पुष्यमित्र शुंग ने स्थापित किया। इस काल में वैदिक धर्म के पुनरुर्त्थान के साथ ही काशी में बौद्ध धर्म प्रगति पर था। संभवतः इन्हीं विहारों के अनुकरण में इस काल में कुछ ऐसे आश्रमों की स्थापना हुई होगी, जिनमें से बहुसंख्यक ब्रह्मचारी प्राचीन वेद-संहिता, उपनिषद् आदि की शिक्षा प्राप्त करते रहे होंगे, ऐसा अनुमानित है। पुष्यमित्र का दो बार अश्वमेध यज्ञ किया जाना इस बात का परिचायक है कि वैदिक यज्ञ उस समय भी हो रहा था। इसके साथ ही वेदों का पठन-पाठन संभावित था।

'ब्रह्मवर्धन' नाम से सम्बोधित की जाने वाली काशी मौर्य-साम्राज्य के पश्चात् कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत पल्लवित एवं पुष्पित हुई। शिक्षा-व्यवस्था से सम्बन्धित सारनाथ से मिले कुषाण शासक 'कनिष्क का बोधिसत्त्व मूर्त्ति लेख, वर्ष=3 [15] से यह विदित होता है कि महाराज कनिष्क के तृतीय राज्य संवत्सर में त्रिपिटज्ञ भिक्षु बल ने बोधिसत्त्व की प्रतिमा एवं छत्र यष्टि की वाराणसी में उस जगह स्थापना करवाई, जहाँ बुद्ध चंक्रमण करते थे। इस प्रतिमा को स्थापित कराने का मूल उद्देश्य भिक्षु के माता-पिता, उपाध्याय, आचार्य, अंतेवासी, त्रिपिटज्ञा बुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्पर एवं खरपल्लाण एवं चतुर्परिषद् के साथ सर्वसत्त्वों का हित-सुख था। अभिलेख में निहित कुछ शब्द उपाध्याय, आचार्य, अंतेवासी, त्रिपिटज्ञ एवं त्रिपिटकाचार्या आदि का उल्लेख है, जिससे यह विदित होता है कि वैदिक परिपाटी एवं बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित आचार्य काशी में विद्यमान थे। त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि काशी में स्त्री-शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। स्त्रियाँ भी शिक्षित हुआ करती थी।

कुषाण काल का ही सारनाथ से प्राप्त एक प्रस्तर के छत्र के टुकड़े पर भगवान बुद्ध द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन के उपदेश उत्कीर्ण है[16]- इस लेख में बौद्ध-धर्म के चार आर्य सत्यों का उल्लेख हुआ है। लेख की लिपि अंतिम कुषाण काल की है। स्टेन कोनोव ने इसे प्रकाशित करते हुए यह कहा है कि उत्तर-भारत से प्राप्त पालि भाषा का यह एकमात्र लेख है और इससे ज्ञात होता है कि पालि-त्रिपिटक का उस समय अस्तित्व था और काशी के लोग उसे जानते थे एवं अध्ययन करते थे। बुद्ध की शिक्षाओं जिनमें चार आर्य- सत्य-दुःख है, दुख का कारण है, दुःख का निवारण है, दुःख के निवारण का मार्ग है, का उल्लेख यह अभिलेख करता है।

गुप्तों के शासनकाल में काशी का सांस्कृतिक उन्नयन अत्यधिक मात्रा में हुआ। काशी जैसे विद्या केन्द्र ने जिस क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति की, वह वेदों का अध्ययन-अध्यापन था। इसी क्रम में याज्ञवल्क्य एवं पराशर स्मृति में विद्याध्ययन के केन्द्र के रूप में 'चरण', 'शाखा', एवं 'गोत्र' के विवरण प्राप्त होते हैं, निश्चय ही इनकी परम्परा पुरानी है, किन्तु विद्याध्ययन के केन्द्र के रूप में प्रथम बार इनकी आभिलेखिक साक्ष्यों तथा उनमें अंकित कला-प्रतीकों से पुष्टि होती है, जिससे उस पर व्यावहारिक धरातल पर खरे उतरने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। काशी (राजघाट) से प्राप्त मौद्रिक साक्ष्यों से गुप्तकालीन लिपि में मुहर-मुद्रांकों में विविध-चरणों-बह्वृच् (ऋग्वेद), अध्वर्यु (यजुर्वेद), छान्दोग (सामवेद), चरक, अथर्वनिका तथा साकल के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं।[17] श्री सारस्वतस्य एवं श्री चातुर्वेद्य अंकित मुहरों के आधार पर इसकी प्रतिष्ठा वैदिक शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित होती है।[18] इस आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि काशी में वेदों के विभिन्न शाखाओं के चरणों का अध्ययन-अध्यापन कराया जाता था। मुद्रा पर एक आश्रम अंकित है। उसके मध्य में जटाधारी आचार्य खड़े हैं और अपने हाथ के कमण्डल के जल से आश्रम के वृक्षों को सींच रहे हैं। दोनों ओर ब्रह्मचारी भावमुद्रा में खड़े हैं। इसे ही काशी का 'ब्रह्मवर्धन' स्वरूप कहा गया। ऋग्वेद के समान

कृष्ण यजुर्वेद के लिए चरक-चरण, सामवेद के लिए छान्दोग्य चरण, चारों वेदों के लिए चतुर्विद्य और तीनों वेदों के लिए त्रिविद्य विद्यालय थे। संभवतः 'श्री सर्वत्र-विद्यः' नामक विद्यालय वेदांगों एवं शास्त्रों की शिक्षा के लिए ही था।[19]

काशी में वैदिक अध्ययन एवं अध्यापन के साथ-साथ जैन एवं बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का भी प्रचार-प्रसार गुप्तकाल में अत्यधिक मात्रा में हुआ। जैनधर्म से सम्बन्धित पहाड़पुर ताम्रपत्र अभिलेख, वर्ष-159 में यह उल्लेख है कि पुंड्रवर्धन (बंगाल) के अधिकरण द्वारा कुछ भूमि खरीदकर उसकी आमदनी (आय) से काशी के पंचस्तूप निकाय के निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनन्दि के शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा वटगोहाली में प्रतिष्ठापित विहार की जैन प्रतिमाओं का पूजन हो सके।[20] जैन-धर्मानुयायी अपनी शिक्षा का प्रचार-प्रसार काशी में भी (विशेषकर सारनाथ, भेलूपुरा) करते थे।

इन विद्याओं के अतिरिक्त तत्कालीन समाज में संगीत एवं वाद्य-काल, धनुर्वेद तथा ज्योतिष आदि विद्याओं के प्रचलन के साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध है।

गुप्तों के पतन के पश्चात् काशी पर मौखरि एवं वर्धन वंश का शासन स्थापित हुआ। हर्षवर्धन के शासनकाल में ही ह्वेनसांग ने भारत भ्रमण करते हुए वाराणसी (सारनाथ) को देखा। ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा-विवरण में यह उल्लेख किया है कि काशी के नागरिक बहुत शिष्ट थे एवं शिक्षा (विद्या) के प्रति उनका विशेष अनुराग था।[21] बौद्ध-धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मानुयायी भी शिक्षण-दीक्षण का कार्य करते थे। ह्वेनसांग यह भी कहता है कि सारनाथ (वाराणसी) में करीब 20 बौद्ध-विहार थे जिनमें सम्मितिय निकाय के तीस हजार से अधिक बौद्ध-भिक्षु रहते थे। इन्हीं विहारों में बौद्ध भिक्षुओं को विविध शिक्षाओं से सम्पन्न किया जाता था।

सातवीं शताब्दी ई0 का प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख[22] में काशी के प्रादेशिक राजा प्रकटादित्य द्वारा काशी में विष्णु मंदिर बनाने का उल्लेख है। प्राचीन

समय में मंदिरों में शिक्षा की व्यवस्था होती थी एवं अध्ययन-अध्यापन सुचारु रूप से होते थे। इस काल में भी शिक्षा का प्रबन्ध योजनाबद्ध एवं सुव्यवस्थित था। गुरु के आश्रम में ही रहकर विद्यार्थी विद्याध्ययन किया करता था। विद्यार्थी को वेद, पुराण, धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि सभी विषयों की सम्यक् शिक्षा प्रदान की जाती थी। हर्ष के काल में काशी में शिक्षा का साधारणतः यहीं सामान्य स्वरूप था। यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से यत्र-तत्र आंशिक-परिवर्तन हुए तो भी उसका पारम्परिक स्वरूप तद्वत् बना रहा।

पूर्वमध्यकाल (650-1200 ई0) में प्राचीन काल की भांति ही शिक्षा-व्यवस्था बनी रही। ईश्वर-भक्ति, धर्म-विश्वास, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों की शिक्षा, सामाजिक गुणों की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रचार प्राचीन भारत में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य एवं आदर्श थे। यहीं आदर्श और उद्देश्य पूर्वमध्यकाल के शिक्षा के भी बने रहे। शिक्षण-प्रक्रिया प्राचीन काल की ही तरह प्रारम्भ की जाती थी। इस काल में भी गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ था। योग्य गुरु का आदर करना शिष्यों का सर्वोत्तम गुण माना जाता था, क्योंकि गुरु सेवा बुद्धि-विकास के लिए कामधेनु के समान समझी जाती थी। इस संदर्भ में काशी (सारनाथ) से प्राप्त महीपाल का अभिलेख[23] प्राप्त हुआ है। पालों के काल में काशी का संवर्धन हुआ। अभिलेख में यह वर्णन है कि गौड़ राज महीपाल ने काशी में अपने यश के सूचक सैकडों भवनों की स्थापना के लिए स्थिरपाल एवं बसन्तपाल नामक अपने दो भाईयों को लगाया। इन मंदिरों की स्थापना हेतु महीपाल ने अपने गुरु श्रीवामराशि की चरण-बन्दना कर आज्ञा प्राप्त की। गुरु-शिष्य की यह परम्परा और शिष्य का अपने गुरु के प्रति आदर प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस अभिलेख से इस परम्परा की पुष्टि होती है।

पालों के पश्चात् कलचुरि राजवंश ने काशी पर शासन किया। कलचुरि समाज में ब्राह्मणों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। वैदिक शिक्षा के प्रसार-प्रचार में इनकी

अभूतपूर्व भूमिका थी। इसी के फलस्वरूप कलचुरि शासक कर्ण ने ब्राह्मणों को संरक्षण के रूप में धन एवं भूमि दान में दिया, जिससे वे अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-आदि का अनुष्ठान कर सकें। वेद-अध्ययन उनका प्रमुख कर्त्तव्य था।

इसी क्रम में कर्ण का बनारस पीतल पत्र अभिलेख[24], (क0सं0 793) का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है, जिसमें यह उल्लेख है कि कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग के वेणि में स्नान-दान करके शिव की आराधना करते हुए काशी के सुरसी ग्राम को ब्राह्मण विश्वरूप को दान में दिया। विश्वरूप नारायण का पुत्र, वामन का पौत्र एवं अमहा का प्रपौत्र था, जो कि कौशिक गोत्र से सम्बन्धित था। इन्हीं ग्राम दानों से ब्राह्मण अपनी तथा अध्ययन-अध्यापन सम्बन्धित कार्यों को करता था। दान उसी ब्राह्मण को दिये जाते थे जो वेदों की विविध शाखाओं में दक्ष होते थे।

वैदिक अध्ययन के समान ही कलचुरि काल में बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार हुआ। इसकी पुष्टि कलचुरि शासक कर्ण के सारनाथ अभिलेख[25] (क0सं0 810) से भी होती है। अभिलेख में यह वर्णित है कि उक्त तिथि को सद्धर्म्मचक्रप्रवर्तन नामक विहार में एक स्थविर ने अपना आशीर्वाद दिया। लेख से यह भी ज्ञात होता है कि धनेश्वर की पत्नी 'मामका' जो महायान की परम-उपासिका थी, उसने 'अष्ट-साहस्त्रिका' की प्रतिलिपि कराई और भिक्षुओं को दान दिया। बौद्ध-धर्म में इस ग्रंथ का भी अध्ययन-प्रणयन होता था।

कलचुरियों के पश्चात् गाहडवालों के शासनकाल में काशी का अत्यधिक शैक्षिक संवर्धन हुआ। गाहडवालों के अधिकांश दानपत्र ब्राह्मणों के पक्ष में दिये हुए प्रतीत होते हैं। गाहडवालकालीन काशी में विद्वान् अपने-अपने गृहों में स्वाध्याय करते एवं साथ ही शिष्यों को वेद, वेदांग, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण आदि की शिक्षा प्रदान करते हुए अपने

नित्य-कर्म करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक गृह में विद्वान हुआ करते थे, जो काशी नगर को सुशोभित करते थे। विभिन्न विषयों में पारंगत होने के साथ ही ये विद्वान् किसी विशेष विषय में विशेषज्ञ होते थे, जिसका उल्लेख काशी से प्राप्त गाहडवाल शासकों के दानपत्रों में इनकी विशेष उपलब्धियों के साथ हुआ है। उन्होंने वेदों की विविध शाखाओं में दक्ष-ब्राह्मणों को प्रचुर दान-दक्षिणा प्रदान की जिससे वैदिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा एवं उनके प्रचार-प्रसार में व्यापक सहायता मिली। काशी के वैदिक ब्राह्मण और उनके दान-दक्षिणादि पर स्वयं गाहडवाल शासकों, राजकुमारों, रानियों, सामन्तों, जनसामान्य एवं धनिक व्यवसायियों द्वारा दान-दक्षिणा, मंदिर-मूर्त्ति निर्माण आदि के प्रसंग में लिखवाये गये अभिलेखों से संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। साथ ही दान प्राप्तकर्त्ता ब्राह्मणों की वैदिक शाखा, कुल-गोत्र, काशी के शैक्षणिक परिवेश का ज्ञान भी मिलता है। गाहडवाल शासकों के (38) अभिलेखों में काशी के शिक्षा-व्यवस्था की सूचना प्राप्त होती है। इस वंश के प्रथम शासक चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र वि.सं. 1150 (1093 ई0) में जिनकी संख्या 5 हैं, 500 ब्राह्मणों को दान देने का वर्णन है।[26] इस अभिलेख के सम्पादक दयाराम साहनी ने 495 ब्राह्मणों के नाम, गोत्र एवं प्रवर के साथ सूचीबद्ध किया है। दान प्राप्तकर्त्ता के रूप में इन सभी ब्राह्मणों के नाम, गोत्र एवं प्रवर के साथ सूचीबद्ध किया गया है। दान प्राप्तकर्त्ता के रूप में इन सभी ब्राह्मणों को, वैदिक अध्ययन की विशेषज्ञता के अनुसार, चार वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें ऋग्वेदचरण के चतुर्वेदि की संख्या 125, यजुर्वेद के चतुर्वेदियों की संख्या 95, अथर्ववेद के द्विवेदियों की संख्या 198 एवं छान्दोग्यचरण के त्रिपाठियों की संख्या 74 है।

इस काल में वेदों के अतिरिक्त अष्टादश शिल्प, व्याकरण, दर्शन मुख्य विषय के रूप में प्रचलित थे। चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र[27] में यह उल्लेख है कि वेदों के ज्ञाता एवं अध्येता वेद का अध्ययन करने के पश्चात् सोल्लासपूर्वक यज्ञ सम्पादित करते थे।

काशी में चारों वेदों को पढ़ने एवं पढ़ाने वाले विद्वान् विद्यमान थे, जिसका उल्लेख चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र[28] में हुआ है। अभिलेख में उल्लेख है कि 'जाट' नामक ब्राह्मण को 'श्री ॠग्वेद चरणे चतुर्वेदिन', 'वील्ह' को 'श्री यजुर्वेदचरणे चतुर्वेदिन्' 'छीहिल' को 'अथर्ववेदचरणे चतुर्वेदिन' तथा 'देदिग' नामक ब्राह्मण को 'छान्दोग्य चरणे त्रिपाठिन' सम्बोधित किया गया है। कर्मकाण्ड के पढ़ने, पढ़ाने का भी काशी में प्रचार था। अन्य ताम्रपत्रों से भी ज्ञात होता है कि किसी भी राजा द्वारा दान देते समय ऐसे ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य थी जिसे चारों वेदों की प्रकाण्डता, विद्वता, विशेषज्ञता उपलब्ध हो। गाहडवाल शासकों के अन्य प्रकार के ताम्रपत्रों में विविध विद्वानों की वेदज्ञ विशेषता के साथ उनके कुल,गोत्र एवं वैदिक शाखा के अध्ययन की विशेषज्ञता के साथ परिभाषित किया गया है।

गोविन्दचन्द्र के संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर अपने ग्रंथ 'कृत्य-कल्पतरु'[29] में यह वर्णित करते है कि 'ब्राह्मणों के प्रथम कर्त्तव्यों में वेद अध्ययन के पश्चात् स्मृति एवं सदाचार का पठन अनिवार्य था।' वेदों की शिक्षा देने का अधिकार लक्ष्मीधर ने ब्राह्मणों को बताया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि वेद का अध्ययन करना 12 वर्ष की आयु के लिए उपयुक्त था। अलबरुनी ने भी यह स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण वर्ग का व्यक्ति ही वेद का अध्ययन एवं अध्यापन करा सकता था।[30] शासक वर्ग स्वयं भी शिक्षित एवं विविध विषयों में पारंगत होते थे। गोविन्दचन्द्र को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है। अभिलेखों में उसे 'विविधविद्याविचारवाचस्पति' सम्बोधित किया गया है।

इस काल में वेदों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, पुराण, ज्योतिष, व्याकरण, विज्ञान, भौतिक और रसायन के साथ-साथ 14 अथवा 18 विद्याओं का भी अध्ययन होता था, जिनमें आयुर्वेद, शल्य चिकित्सा, धनुर्वेद, नागवशीकरण, गुप्तनिधि-अन्वेषण, संगीत नृत्य, चित्रकला, व्यापार, कृषि, मुनीमी, रथचालन, इन्द्रजाल आदि प्रमुख विषय शिक्षा

से सम्बन्धित थे। गाहडवालवंशीय पंडित दामोदरशर्मन जो वाजसनेयी शाखा के विद्यार्थी थे, ज्योतिषशास्त्र के पाँच सिद्धान्तों के अद्‌भुत ज्ञाता थे।[31] इन्हीं की रचना 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' है, जिससे काशी के शैक्षणिक-व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है।

काशी में ब्राह्मणों के निमित्त गाहडवाल शासकों ने उनके सम्मान में 'अग्रहार' के रूप में भूमि दान (ग्राम दान) दिये। अल्तेकर महोदय ने इस अग्रहारों को तत्कालीन् प्रसिद्ध शिक्षा के केन्द्र के रूप में स्वीकार किया है।[32] जहाँ छात्र निःशुल्क विविध विषयों का अध्ययन करते थे। जिसका खर्च शासक द्वारा संवहन किया जाता था। चंद्रदेव के चंद्रावती द्वितीय ताम्रपत्र[33](वि.सं.1150), (वि.सं.1156) में यह वर्णन है कि 500 श्रोतिय ब्राह्मणों को ग्राम दान में दिया गया था। उस ग्राम दान की आय से ब्राह्मण अपनी जीविकोपार्जन के साथ-साथ शैक्षिक-कार्य भी संपादित करता था।

वैदिक परम्परा के सामानान्तर ही काशी के अन्तर्गत इसिपत्तन (सारनाथ) इस काल में बौद्ध-धर्म के मुख्य केन्द्र के रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी का बौद्ध-धर्म से विशेष लगाव था। सारनाथ में विहार-निर्माण के निमित्त उसने जम्बुकी पत्तला की सम्पूर्ण आय को समर्पित कर दिया। कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख[34] से ज्ञात होता है कि कुमारदेवी ने सारनाथ में बौद्ध-देवी वसुधरा के निमित्त एक सुन्दर विहार का निर्माण करवाया था, जिसका वर्णन अभिलेख में इस प्रकार निहित हैः- "यह भारतवर्ष रूपी पृथ्वी, जो नवखण्डों में हार स्वरूप विभक्त है, उस भूमि के खण्ड में सुसज्जित देवी वसुधरा के लिए एक सुन्दर विहार का निर्माण कुमारदेवी द्वारा करवाया गया। इस विहार के रचना चातुर्य को देखकर विश्व के निर्माता विश्वकर्मा भी चकित रह गये।" वसुधरा देवी के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध-धर्म में संभवतः यह कोई विद्या की देवी रही होगीं एवं इनके निमित्त मंदिर (बिहार) का निर्माण कराकर इन्हें प्रतिष्ठापित करवाया गया होगा। इसी विहार में शिक्षण-दीक्षण प्रायः होता रहा होगा।

इसी के लिए कुमारदेवी ने जम्बुकी पत्तला की समस्त आय को समर्पित कर दिया, जिससे वहाँ शिक्षा-व्यवस्था सरलतापूर्वक हो सके।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काशी में मौर्यकाल से गाहडवाल वंश तक शिक्षण प्रणाली वैदिक परम्परा के साथ जैन एवं बौद्ध-धर्म की शिक्षा निरन्तर प्रगति पथ पर थी, जिसकी पुष्टि साहित्यिक-साक्ष्यों के अतिरिक्त अभिलेखों से भी होती है। वेदों के अतिरिक्त समाज में अन्य विषय भी शिक्षा के अंग थे। गुरुकुल (पाठशाला) के अतिरिक्त काशी के विद्वान् ब्राह्मण अपने ही गृहों में स्वध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे। जिसके कारण इस काल (गाहडवाल काल) में सम्पूर्ण नगर ही 'नगर-विद्यालय' के समान दृष्टिगत् होता है। इसकी नैरन्तर्य प्रकृति अन्य क्षेत्रों की भाँति शिक्षा-व्यवस्था में भी बनी हुई थी। प्रत्येक काल में जो शासक जिस धर्म-सम्प्रदाय को मानने वाले थे, उससे सम्बन्धित साहित्य एवं शिक्षा के विकास की गति हमें काशी में दिखाई देती हैं और अभिलेख इसमें विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में भारत की यात्रा पर आने वाले विदेशी यात्री **बर्नियर** ने शिक्षा-केन्द्र के रूप में काशी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'काशी एक प्रकार का विश्वविद्यालय ही है, किन्तु हमारे विश्वविद्यालयों की भाँति यहाँ न तो कोई कॉलेज है, न ही नियमित कक्षाएँ। यह यूनान की प्राचीन पाठशालाओं से मिलता-जुलता है। अध्यापक सारे नगर में फैले हैं तथा घरों पर ही अध्यापन कार्य होता है। कुछ अध्यापकों के यहाँ चार तथा कुछ के यहाँ छः विद्यार्थी होते हैं। सबसे प्रसिद्ध अध्यापक के यहाँ 12 या 15 विद्यार्थी होंगे, किन्तु इससे अधिक नहीं। आज भी यह नगरी संस्कृत शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र समझी जाती है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय एवं महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय आज भी इसकी शैक्षणिक निरन्तरता एवं जीवन्तता को संजोये हुए प्रतीत होते हैं। जहाँ का प्रत्येक छात्र समाज में प्रतिष्ठित होता है और साथ ही कुछ विशेष छात्र भारतवर्ष के साथ-साथ विदेशों में भी काशी की कीर्ति को सुशोभित करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ-

1 सिंह, देवी प्रसाद, 2006, *काशी में शिक्षा व्यवस्था,* वाराणसी, पृ0- 3, (काशी खण्ड 96.121)

2 वही, पूर्वोक्त।

3 *सुभाषित रत्न संग्रह,* 31,14, मातेव रक्षति पितेव हिते नियुडक्ते कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्। लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्ति किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।।

4 अल्तेकर, ए0एस0, 1968 (द्वितीय संस्करण*), प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति,* वाराणसी, पृ0- 2-3.

5 *युग-युगों में काशी,* (सम्पादक- प्रो0 टी0पी0 वर्मा, देवी प्रसाद सिंह, डॉ0 जयशंकर मिश्र)- उपनिषद् और परवर्ती युग में काशी की ज्ञान गरिमा, पृ0- 48.

6 *बृहदारणक उपनिषद्,* 2,14.

7 *बृहदारणक उपनिषद्,* 2,1.

8 वही, 2,4.

9 वही, 2,15

10 कल्पसूत्र, 6.144, 69-72.

11 वही, 2.15.

12 का0इ0इ0, खण्ड-1, पृ0- 116, हुल्श द्वारा प्रकाशित।

13 शास्त्री, आचार्य श्री चतुरसेन, 1940*, बुद्ध और बौद्ध-धर्म,* दिल्ली, पृ0- 59.

14 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 35.

15 *बृहदारण्यक उपनिषद्,* 2.14.

16 एपि.इण्डि., भाग-9, पृ0- 291, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।

17 जर्नल ऑफ न्यूमिसमैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, जिल्द- 23, पृ0- 410.

18 वही, पूर्वोक्त।

19 मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास,* पृ0- 77.

20 गुप्त, पी0एल0, 2008, *प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख,* खण्ड-2, पृ0- 173.

21 मोतीचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0- 81.

22 फ्लीट0 जे0एफ0, *भारतीय अभिलेख संग्रह,* भाग-3, (अनुवादक गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र), पृ0- 367-369.

23 इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-14, पृ0- 139-140, हुल्श द्वारा प्रकाशित।

24 का0इ0इ0, खण्ड-4, पृ0- 236, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।

25 का0इ0इ0, खण्ड-4, पृ0- 275, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।

26 एपि0इण्डि0, खण्ड- 14, पृ0- 192-209.

27 वही, पूर्वोक्त।

28 वही, पूर्वोक्त।

29 *कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकाण्ड,* पृ0- 266-267.

30 *अलबरुनीज इण्डिया,* खण्ड-2, पृ0- 136.

31 एपि.इण्डि. खण्ड-8, पृ0- 153.

32 अल्तेकर, ए0एस0,1944, *एजुकेशन इन एन्शियेंट इण्डिया,* पृ0- 294.

33 एपि.इण्डि. खण्ड- 14, पृ0 193-196 और 198-208.

34 एपि.इण्डि., खण्ड- 9, पृ0- 318-328.

उपसंहार

उपसंहार

प्राचीन काशी के इतिहास के अध्ययन की प्रामाणिक एवं प्रमुख सामग्रियों में से अभिलेख विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। अभिलेख ही वह माध्यम हैं जो प्राचीन काशी के इतिहास के राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि संदर्भों को स्वयं में समाहित किए हुए हैं।

काशी विश्व के अति प्राचीन नगरों में एक है, जिसकी सातत्यता ,अखण्डता, प्राचीनता एवं धार्मिकता समादरता त्रिसहस्राधिक वर्षों से अक्षुण्ण है। साहित्यिक परम्परा में काशी की प्राचीनता उत्तरवैदिक साहित्य में उल्लिखित अथर्ववेद के *पैप्पलाद शाखा* तक जाती है। किन्तु राजघाट (काशी) से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष इसकी प्राचीनता *800 ई0पू0* तक ले जाते हैं। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल (600 ई0पू0 से पूर्व) में काशी एक महाजनपद के रूप में समकालीन अन्य महाजनपदों में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुकी थी। महात्मा बुद्ध के यहाँ पर आगमन, प्रथम धर्मचक्रप्रर्वतन से इस नगर की प्रतिष्ठा धार्मिक केन्द्र के रूप में हुई। साहित्यिक साक्ष्यों विशेषकर जातक ग्रंथों में काशी का सुविस्तृत उल्लेख हुआ है, जिससे काशी के राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक पक्षों को ज्ञात किया जा सकता है। *जातकों से यह विदित होता है कि काशी का विस्तार 300 योजन तक था, जिसके उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स तथा दक्षिण में विन्ध्य पर्वत विद्यमान था।* किन्तु अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता हैं कि काशी-क्षेत्र का विस्तार *गाजीपुर, जौनपुर, मिर्जापुर, चंदौली एवं बिहार के भभुआ* तक परिसीमित था। काशी से प्राप्त अभिलेखों में मौर्यकाल से लेकर गाहडवाल शासकों की उपलब्धियों के साथ सांस्कृतिक पक्षों का वर्णन हुआ है।

काशी से प्राप्त 75 महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में *मौर्यकालीन ब्राह्मी* से *नागरी लिपि* प्रयुक्त है, जिसमें *शक संवत्, गुप्त संवत्, विक्रम् संवत्,* एवं *कलचुरि संवत्* का उल्लेख है। अभिलखों का वर्गीकरण, प्राप्ति स्थल, लेखन हेतु प्रयुक्त उपादान एवं विषयवस्तु

आदि अध्ययन के महत्त्वपूर्ण सहायक बिन्दु हैं। काशी से प्राप्त अभिलेखों में प्रस्तर एवं विशेष रूप से ताम्रपत्रों का प्रयोग हुआ है, तदुपरान्त अभिलेखों पर टिप्पणी प्रस्तुत की गई है। जिसमें अभिलेखों को काशी से संपृक्त करते हुए शासक की व्यक्तिगत् उपलब्धियों के साथ पूर्त कार्यों एवं दानात्मक प्रक्रिया का विवरण है।

वस्तुतः अभिलेख पुरातत्त्व एवं साहित्य के बीच सेतु का कार्य करते हैं। साहित्यिक विवरण में काशी के विविध नाम यथा; *पुष्पवती, रम्यनगर, सुदर्शन, कासीपुर, बारानसी, ब्रह्मवर्धन, महाश्मशान* एवं *जित्वरी* आदि सुस्पष्ट है। प्रायः काशी अथवा वाराणसी का उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों (वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रंथों, बौद्ध ग्रंथों) से तो ज्ञात होता है, किन्तु भौगोलिक स्थिति एवं सीमा विस्तार का विवरण स्पष्ट नहीं है।

काशी के प्राकृतिक भूगोल के अन्तर्गत नदी, जलवायु, मिट्टी, वनस्पति, जीव-जन्तु, पर्वत, आदि का अध्ययन करते हुए भौगोलिक परिस्थिति को ज्ञात करने का यथासंभव प्रयत्न हुआ है। भौगोलिक स्थिति एवं सीमा विस्तार के अध्ययन में *गाहडवाल अभिलेख* विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं। इन अभिलेखों में तीर्थ के रूप में काशी, गंगा नदी, वरुणा नदी, आदिकेशव घाट, कपालमोचन घाट आदि का उल्लेख है। कतिपय गाहडवाल अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी के उत्तर एवं गंगा के समीप स्थित आदिकेशव घाट को तत्कालीन वाराणसी का एक भाग समझा जाता था। आदिकेशव घाट गंगा-वरणा संगम पर गंगा के बाँए किनारे पर अवस्थित था। वाराणसी की दक्षिणी सीमा इस समय कम से कम गंगा एवं अस्सी के समीप स्थित लोलार्ककुण्ड तक फैल चुकी थी, जहाँ लोलार्कदित्य मंदिर विद्यमान है। *उक्तिव्यक्तिप्रकरण* से भी यह ज्ञात होता है कि 11वीं-12वीं शती ई0 में गंगा के बाँए किनारे पर नगर (वाराणसी) घनी आबादी के साथ बस चुका थी। साथ ही इन अभिलेखों से आम, महुआ वृक्षों का उल्लेख मिलता है, जिससे यह सूचित होता है कि काशी के भौगोलिक सीमा में विविध

नदियों, पर्वतों, वनस्पति एवं अन्य जीव-जन्तुओं का योगदान रहा। काशी की भौगोलिक सम्पदा एवं समृद्धि के कारण इसकी संस्कृति सदैव जीवन्त रही, फलतः विविध राजवंश के शासकों ने यहाँ अपना राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन किया।

वस्तुतः देखा जाए तो काशी के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ शतपथ ब्राह्मण के समय से ही हो चुका था, जिसमें आर्यों को पूर्वी भारत के आगमन से निर्धारित किया जा सकता है। हैवेल ने *'कासिस'* नामक जनजाति के आधार पर काशी की उत्पत्ति को बताते हुए यह बताया कि यह जनजाति गंगा की पूर्वी घाटी की ओर स्थानान्तरित होते हुए आधुनिक वाराणसी नगर के आस-पास के क्षेत्रों में आकर बस गई, जो कालान्तर में काशी कहलाई। तृतीय शताब्दी ई0पू0 से लेकर बारहवीं शती ई0 तक अभिलेखों एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के माध्यम से काशी के राजनीतिक विस्तार का उन्नयन हुआ। इन अभिलेखों में शासक एवं उसकी उपलब्धियों के विवरण के साथ-साथ काशी का उल्लेख हुआ है। मौर्य काल में सारनाथ अत्यन्त उन्नत अवस्था में था, जिसकी पुष्टि यहाँ से प्राप्त अभिलेख एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्य करते हैं। *अहरौरा लघु शिलालेख* एवं *सारनाथ लघुस्तम्भ लेखों* में अशोक का नाम, उपाधि एवं उसके धार्मिक कृत्यों का विवरण है। इन क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेख मौर्य साम्राज्य का विस्तार दर्शाते हैं। कुषाणकालीन सारनाथ *बोधिसत्त्व मूर्ति अभिलेख* में कनिष्क की उपाधियों के साथ क्षत्रप वनस्पर एवं महाक्षत्रप खरपल्लान का उल्लेख है जो वाराणसी का शासन संभालते थे। गुप्त-साम्राज्य पर नवीन शोधों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त- शासकों का मूल निवास-स्थान पूर्वी उत्तर-प्रदेश में था एवं काशी से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित रहा। *श्रीराम गोयल* ने यह मत प्रकट किया है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश से प्रारम्भिक गुप्त-सम्राटों के अधिकांश अभिलेख एवं मुद्रानिधि प्राप्त होने के कारण उनका राज्य संभवतः इसी क्षेत्र में रहा होगा। काशी-क्षेत्र से गुप्त शासकों के महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिले हैं, जो यह दर्शाते हैं कि काशी पर गुप्तों का आधिपत्य था। काशी-क्षेत्र के अन्य स्थलों यथा; सारनाथ, राजघाट एवं भीतरी से गुप्त

शासकों के अभिलेखों की प्राप्ति हुई है। यहाँ से प्राप्त अभिलेखों में शासकों की व्यक्तिगत् उपलब्धियों के साथ अभिलेख निर्माण की परम्परा का उल्लेख हुआ है। जिससे यह ज्ञात किया जा सकता है कि गुप्तों के शासनकाल में काशी का राजनीतिक विस्तार हुआ। गुप्तों के पश्चात् काशी हर्ष के शासनकाल में सम्मिलित हुई। ह्वेनसांग ने हर्ष के शासन में सारनाथ एवं वाराणसी का चित्रण प्रस्तुत करते हुए इसे एक समृद्ध नगर बताया है। हाँलांकि सारनाथ से कोई आभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त नहीं होते किन्तु अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों से सूचनाएँ ज्ञात होती हैं। हर्ष के पश्चात् काशी पर प्रकटादित्य का शासन हुआ। जिसकी पुष्टि प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख से होती है। इसमें उन्हें काशी का स्थानीय शासक कहा गया है। आठवीं शताब्दी ई0 में उत्तर भारत का सबसे प्रतापी राजा पालवंशीय शासक धर्मपाल हुआ। धर्मपाल की मृत्यु 794 और 832 ईस्वी के बीच हुई। धर्मपाल के पश्चात् उसका पुत्र देवपाल शासक हुआ। उसके राज्य का विस्तार मालवा तक था। किन्तु काशी पर पालों का आधिपत्य अधिक दिनों तक नहीं रह सका। प्रतिहारों के बढ़ते हुए विजय-पराक्रम से पाटलिपुत्र की सत्ता क्षीण होने लगी और लगभग 850 ई0 के करीब प्रतिहारों के हाथों में काशी आ गई। अपनी सैनिक योग्यता बढ़ाते हुए पालवंशीय शासक महीपाल (988-1038) ने राजनीतिक कुशलता से पाल सत्ता को चमका दिया। उसके राजनीतिक प्रभाव के सूचक अनेक अभिलेख दृष्टिगत् होते हैं, जो दक्षिणी और पूर्वी बंगाल से वाराणसी (काशी) तक विस्तृत हैं। *महीपाल का सारनाथ (वाराणसी) से एक अभिलेख* प्राप्त हुआ है, जिसमें महीपाल की उपलब्धियों का विवरण है। पाल वंश के पश्चात् कलचुरियों का काशी पर प्रभाव रहा। कलचुरि शासक कर्ण के दो अभिलेख काशी के *सारनाथ एवं राजघाट* से प्राप्त हुए, जो उनकी राजनीतिक प्रभुत्त्व के सूचक हैं। कर्ण की मृत्यु के 20 वर्ष पश्चात् गंगा-यमुना के दोआब में अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गई, इसी परिस्थिति में एक नई राज्य शक्ति का उत्थान प्रारम्भ हुआ जिसने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए कन्नौज एवं काशी पर अपना

आधिपत्य जमाये रखा। *डॉ0 मोतीचन्द्र* के मतानुसार ये कोई अन्य शक्ति नहीं, अपितु काशी के शासक गाहडवाल थे। काशी को प्रमुख रूप से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रसिद्धि गाहडवालों के काल में मिली। अभिलेखों में गाहडवालों को सूर्यवंशीय अथवा चन्द्रवंशीय न कहकर केवल *'क्षत्रिय'* सम्बोधित किया गया है। *'ग्रहवार'* अथवा *'गिरिगह्वर'* शब्द से ही गाहडवाल शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। गाहडवाल वंश का प्रथम वास्तविक शासक चन्द्रदेव हुआ। इसके तीन ताम्रपत्र *चन्द्रावती* से प्राप्त हुए हैं, जिसमें गाहडवाल वंशावली के साथ चन्द्रदेव की उपलब्धियाँ, उसके द्वारा प्रदत्त दान का विवरण एवं काशी का वर्णन है। मदनपाल नामक शासक जिसका समय 1104 से 1114 ई0 तक है, चन्द्रदेव का पुत्र था। अभिलेखों में मदनपाल को *'मदनदेव'* एवं *'मदनचन्द्र'* के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसके समय का एक ताम्रपत्र काशी से प्राप्त हुआ है। महाराजाधिराज के रूप में अपने पिता के समय में राज्य के सभी कार्यों का दायित्त्व गोविन्दचन्द्र के हाथों में था। गोविन्दचन्द्र अपनी माताओं (राल्हण देवी एवं पृथ्वी श्री) के नाम पर दान पत्र जारी करते थे। गाहडवाल वंश का प्रभुत्त्व गोविन्दचन्द्र के समय में हुआ। *गोविन्दचन्द्र के 28 ताम्रपत्र कमौली से प्राप्त हुए हैं।* जिससे यह अनुमानित होता है कि काशी गाहडवालों की सांस्कृतिक राजधानी थी। मुसलमानों का धावा गोविन्दचन्द्र के शासन काल की प्रमुख घटना है। *कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख* में तुर्कों से काशी की रक्षा के लिए गोविन्दचन्द्र को विष्णु के समान बताया गया है। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र, जयचन्द्र एवं हरिश्चन्द्र काशी के शासक हुए। गाहडवालों का साम्राज्य हरिश्चन्द्र के बाद तक भी चला, ऐसा उल्लेख *रणक विजयकर्ण के मिर्जापुर के लेख* से ज्ञात होता है। यह हरिश्चन्द्र के अधीन सामन्तीय शासक था। हरिश्चन्द्र के पश्चात् उसके किसी उत्तराधिकारी अथवा गाहडवालों की मुख्य शाखा के किसी राजा के विषय में कोई सूचना ज्ञात नहीं होती। फिर भी ऐसा अनुमानित होता है

कि उनके द्वारा नियुक्त उनके वंशज स्थानीय शासक के रूप में कुछ वर्षों तक शासन करते रहे।

प्रशासनिक-व्यवस्था के अन्तर्गत मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक के अभिलेखों में काशी के प्रशासनिक व्यवस्था की परियोजना प्रस्तुत की गई है। अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि *काशी में प्रायः राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था थी*। राजा राज्य का प्रमुख होता था। सप्तांग सिद्धान्त *(राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दंड एवं मित्र)* के अन्तर्गत काशी राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था संचालित होती रही होगी। यद्यपि राजा निरंकुश नहीं था। उसकी सहायता हेतु अनेक अमात्य एवं मंत्रिपरिषद होते थे, जो राजा को विभिन्न प्रकार के कार्यों में सहयोग करते थे। शासन तंत्र अनेक विभागों में विभाजित था। काशी की प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन-व्यवस्था द्वारा संचालित होती थी, जिसके प्रमुख उदाहरण यहाँ से प्राप्त अभिलेख एवं साहित्यिक विवरण हैं। वस्तुतः जो प्रशासनिक व्यवस्था मौर्यकाल में निर्धारित की गई थी, उसी के आधार पर विविध राजवंशों ने उसमें थोड़े-बहुत परिवर्तन कर शासन स्थापित किया। मौर्यकाल में *'महामात्र'* एक प्रशासनिक अधिकारी था, जिसकी पुष्टि सारनाथ अभिलेख से होती है। ये महामात्र कौन थे? यह प्रश्न स्वाभाविक है। अभिलेखों से यह विदित होता है कि इन महामात्रों की कई कोटियाँ थी। कुछ महामात्र प्रशासन के उच्च पदों से सम्बन्धित थे और कुछ विभिन्न विभागों के अधिकारी थे, जैसे सारनाथ एवं कौशाम्बी के महामात्र। मौर्यकालीन प्रशासनिक-व्यवस्था के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि मौर्य कालीन अफसर अपने कार्य संपादन के लिए यात्रा करते थे, जिसकी पुष्टि *अहरौरा लघु शिलालेख* से होती है। अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट अशोक ने स्थानीय महामात्रों को अपने क्षेत्राधिकार के अंत तक यात्रा करने का आदेश दिया। मौर्यों ने जो शासन तंत्र स्थापित किया, वह कुषाणों एवं गुप्तों के राजनीतिक संगठन में सहायक हुआ। गुप्तवंशीय शासक दैवीय उत्पत्ति में विश्वास करते हुए *महाराजाधिराज,*

परमभट्टारक, एकराट, परमेश्वर जैसी विस्तृत उपाधियों को धारण करते थे, जिसकी पुष्टि अभिलेखों से होती है। प्रशासन का मुख्य स्रोत सम्राट था, जिसके अधिकार और शक्तियाँ असीमित थीं। *स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख* से यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त सभी राजाओं का उन्मूलक, पृथ्वी पर अप्रतिरथ (जिसके समान पृथ्वी पर अन्य कोई न हो); चारों समुद्र के जल से आस्वादित कीर्ति वाले, कुबेर (धनद), वरुण, इन्द्र तथा यम (अन्तक) के समान, कृतान्त के परशु तुल्य अश्वमेध यज्ञकर्त्ता था। स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों के युद्ध के समय स्वयं सेनापति का कार्य संभाला था। सम्राट के द्वारा ही प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी और वे सभी पदाधिकारी सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। सम्राट अपने शासन कार्य में *अमात्यों, मंत्रियों* एवं *अधिकारियों* से सहायता प्राप्त करता था। गुप्तों के पश्चात् हर्ष ने किसी नवीन शासन-प्रणाली को जन्म नहीं दिया, अपितु उसने गुप्त शासन प्रणाली को ही कुछ संशोधन एवं परिवर्तनों के साथ अपना लिया। इसके समय प्रशासनिक व्यवस्था मृदु सिद्धान्तों पर आधारित थी। गाहडवालों की शासन व्यवस्था संघात्मक न होकर *राजतंत्रात्मक* थी। सम्पूर्ण राज्य का संचालन *केन्द्रीय, प्रान्तीय* एवं *स्थानीय शासन-व्यवस्था* द्वारा होता था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त किए गए थे। *राजा* का स्थान केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सर्वोच्च था और उसकी आज्ञा का पालन सभी के लिए अनिवार्य था। प्रशासन सम्बन्धी अनेक प्रकार के कार्य राजा अपने अधिकारी गण यथा; *युवराज, मंत्री, अमात्य, पुरोहित, सेनापति* तथा *भाण्डागारिक* की सहायता से करता था। गाहडवाल अभिलेखों में राजा को विभिन्न उपाधियों से सम्बोधित किया जाता था, जैसे- *परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, त्रयाधिपति, विद्याविचार वाचस्पति, क्षितिपाल, नरपति, गजपति, त्रिशंकुपति,* आदि। इन उपाधियों से उसकी शक्ति एवं सम्प्रभुता का पता चलता है।

सामाजिक इतिहास देश में रहने वाले लोगों के सर्वांगीण-जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है तथा समस्त जन-समुदाय के विभिन्न क्रियाकलापों यथा; *वर्णाश्रम-व्यवस्था, परिवार, संस्कार, विवाह, स्त्रियों की दशा, खान-पान वस्त्र-आभूषण एवं मनोरंजन के साधन* जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। ये सभी तत्त्व समाज के संचालन में सहायक प्रतीत होते हैं। मौर्यकाल से लेकर गाहडवाल काल तक समाज के सभी अवयव वैदिक परम्परा के अनुरूप ही विद्यमान थे। कुछ परिवर्तनों के साथ इनका यथावत् रूप समाज में बना रहा। *अशोक के पाँचवें शिलालेख* में यह उल्लेख है कि महामात्रों की नियुक्ति भिक्षुओं, ब्राह्मणों, इभ्यों (शिष्टजनों), गृहस्थियों, अनाथों तथा धर्मगामियों की सुरक्षा एवं सुख के लिए की गई थी। काशी से प्राप्त कुषाणकालीन *कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3,* में उपाध्याय (ब्राह्मण), आचार्य एवं चतुर्परिषदों (चार वर्णों) का उल्लेख हुआ है। गुप्तकालीन *स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख* से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त ने भीतरी में विष्णु की प्रतिमा स्थापित कराने के पश्चात् ग्राम दान दिया। लेख के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दान ग्रहण करने की परम्परा ब्राह्मण वर्ग में विद्यमान थी। प्रायः काशी से प्राप्त 46 ताम्रपत्रों में ब्राह्मण एवं 9 ताम्रपत्रों में क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख हुआ है, जो समाज में इनकी उच्च स्थिति को दर्शाता है। ब्राह्मणों के प्रमुख 6 कर्त्तव्य थे- यज्ञ-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान एवं प्रतिग्रह। वैश्यों का प्रमुख कार्य व्यापार एवं वाणिज्य था। समकालीन साहित्य कृत्यकल्पतरु में इनका उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण का उल्लेख क्रमशः अभिलेखों में लोहार, सुनार, सूत्रधार आदि के रूप में हुआ है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के उल्लेख के साथ ही गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत विवाह, परिवार एवं अन्य संस्कारों का उल्लेख अभिलेखों में द्रष्टव्य है। विवाह संस्कार का उल्लेख *कुमारदेवी के सारनाथ प्रस्तर पट्ट अभिलेख* में हुआ है। अन्य संस्कारों के अन्तर्गत जातकर्म संस्कार का उल्लेख *जयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र (वि0सं0 1232),* नामकरण संस्कार का उल्लेख *सिहवर*

ताम्रपत्र (वि0सं0 1232) एवं अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख *कर्ण के बनारस दानपत्र (क0 सं0 793)* में हुआ है, जिसे कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग में स्नान करके, शिव की आराधना के पश्चात् जारी किया था। स्त्री माता, पत्नी, एवं पुत्री के रूप में सदैव से ही आदृत रहीं हैं। काशी में स्त्रियों की दशा सम्मानजनक थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अभिलेखों में मिलता है। इस क्रम में *कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्ति लेख* एवं गाहडवालकालीन ताम्रपत्र क्रमशः *गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र लेख (वि0सं0 1162), गोविन्दचन्द्र एवं उसकी रानी नयनकेलिदेवी का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख (वि0सं0 1176)* एवं *कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर पट्ट लेख* महत्वपूर्ण है, जिसमें त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा (कुषाणकालीन) राल्हणदेवी, पृथ्वीश्रीका, नयनकेलिदेवी, गोस्सलदेवी, कुमारदेवी (गाहडवालकालीन) आदि के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने पति एवं पुत्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से दान करते हुए दिखाई देती हैं। खान-पान, वस्त्र-आभूषण एवं मनोरंजन के साधन आदि का विवरण राजघाट से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों, जातक ग्रन्थों, एवं उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण से भी मिलता है।

काशी के आर्थिक समृद्धि में सहायक प्रमुख अवयवों जिनमें कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य को सम्मिलित किया गया है। मध्य गंगा घाटी में बसे होने के कारण यहाँ उन्नत किस्म की फसलें एवं प्रचुर मात्रा में खाद्यान प्राप्त होता था। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो मौर्य काल से लेकर कलचुरि वंश के अभिलेखों में अर्थव्यवस्था सम्बन्धी साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते किन्तु गाहडवाल काल में आर्थिक परिदृश्य अभिलेखों में विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। काशी से प्राप्त अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्य एवं साहित्यिक विवरण इसकी पुष्टि करते हैं। काशी में विशेष रूप से उद्योग-धंधे एवं व्यापार-वाणिज्य की प्रचुर उन्नति हुई। वस्त्र उद्योग, चन्दन उद्योग, शिल्प उद्योग एवं बढ़ईगिरी प्रमुख उद्योग थे। काशी प्रारम्भिक अवस्था से ही व्यापार एवं वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र रही है। बौद्ध एवं जैन ग्रंथों से यह सूचना मिलती है कि वाराणसी में श्रेष्ठि एवं सार्थवाहों के समूह विद्यमान थे,

जो व्यापार हेतु प्रसिद्ध थे। आभिलेखिक साक्ष्यों में कृषि, फसल, बाग, वृक्ष, पशु-पालन आदि का उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है। मंदिर निर्माण, अभिलेखों को उत्कीर्ण करवाना भी आर्थिक समृद्धता का सूचक है। कर-व्यवस्था का काशी के आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसका उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में विशेष रूप से हुआ है। इनमें *भाग, भोगकर, हिरण्य, प्रवणिकर, तुरुष्कदण्ड, कुमारगादिआणक, कूटक, यमलिकाम्बलि, जलकर, गोकर, लवणकर, विषयदान, पर्णकर, दशबन्ध, अक्षपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विशतिअठप्रस्थ, वलदी, निधि-निक्षेप, आकर* आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन करों के माध्यम से कोष की आपूर्त्ति होती थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न काशी में धर्म का भी प्रभाव था।

काशी विविध मतावलम्बियों की साधना-स्थली रही है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह विदित होता है कि काशी में सनातन धर्म के विविध सम्प्रदायों यथा; *शैव, वैष्णव* और *शाक्त धर्म* के साथ *जैन* एवं *बौद्ध धर्म* का भी प्रभाव रहा। विविध कालों में प्रत्येक धर्म-सम्प्रदायों की प्रभुता बनी रही, जिसे अभिलेखों के आधार पर दर्शाया गया है। मौर्य एवं कुषाण काल में बौद्ध धर्म प्रगति पर था, जिसकी पुष्टि *सारनाथ लघु शिलालेख ,अहरौरा लघु शिलालेख* एवं *कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्त्तिलेख* से होती है। वहीं गुप्तों के काल में वैष्णव एवं शैव धर्म की प्रभुता बनी रही। काशी में गुप्त शासकों का काल पौराणिक धर्म एवं उससे सम्बन्धित देवी-देवताओं के पुनर्स्थापना का काल था। काशी का एक अन्य नाम *'अविमुक्त'* भी है। *स्कन्दगुप्त का भीतरी शिलालेख* महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भीतरी ग्राम में विष्णु मंदिर बनवानें का उल्लेख है। सातवीं शताब्दी ई0 के *प्रकटादित्य के सारनाथ लेख* में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष) नामक मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। काशी में गाहडवाल काल में सनातन धर्म की अत्यन्त प्रगति हुई। विशेष रूप से वैदिक परम्परा का विशेष प्रभाव पड़ा। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में विशेष रूप से *वैष्णव सम्प्रदाय* की चर्चा की गई है। अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि

गाहडवाल शासकों का झुकाव वैष्णव सम्प्रदाय की ओर विशेष रूप से था। विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा करने का विधान *चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0 स0 1150)* से ज्ञात होता है। गाहडवाल ताम्रपत्रों में संलग्न *मुहर* विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनमें मानवरूपी गरुड़ का अंकन है, जिसे वैष्णव धर्म के साथ सम्बद्ध किया जाता है। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित काशी में गाहडवाल शासकों द्वारा *आदिकेशव मंदिर* एवं *इन्द्रमाधव मंदिर* बनवाने का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। चन्द्रदेव के *चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150)* से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी में गंगा एवं वरुणा के संगम पर आदिकेशव मंदिर के निर्माण हेतु चंद्रदेव के द्वारा अपने वजन के बराबर सोना, चाँदी और अमूल्य रत्न, एक हज़ार गाय एवं 500 ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से 32 ग्राम दिए गए। *कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख* में गोविन्दचन्द्र को विष्णु का अवतार सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त काशी में *शाक्त, गणेश, सूर्य, गंगा* आदि की उपासना की जाती थी, जिसके प्रत्यक्ष अभिलेखीय प्रमाण गाहडवालकालीन अभिलेख हैं। काशी में विविध धर्म-सम्प्रदायों की उन्नति हुई, जिसमें प्रमुख रूप से ब्राह्मण धर्म की प्रमुखता द्रष्टव्य होती है। धर्म की यह प्रधानता काशी के इतिहास में समान विद्यमान रही है। धर्म का प्रभाव शिक्षा एवं साहित्य में स्पष्टतया दृष्टिगत् है।

भारतवर्ष की ज्ञानोपासना समस्त क्षेत्रों में प्रवाहित होती रही है। इस ज्ञानोपासना का केन्द्र अत्यन्त प्राचीन काल से काशी अथवा वाराणसी ही रहा है। वेद-वेदांग, वैदिक वाङ्मय, तंत्रशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, काव्य, अलंकार शास्त्र, जैन एवं बौद्ध शिक्षा के विषयों का पठन-पाठन और साहित्य-सृजन काशी में सहस्त्राब्दियों से अनवरत रूप से चलता रहा। अभिलेखों में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से सम्बन्धित विषयों के उल्लेख के साथ-साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिक्षाओं का भी उल्लेख हुआ है। उत्तरवैदिक काल से ही काशी वैदिक शिक्षा-पद्धति का केन्द्र रही है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण *बृहदारण्यक उपनिषद्* में वर्णित काशी नरेश अजातशत्रु एवं गार्ग्य बालाकि का

संवाद है। अभिलेखों में विशेष रूप में *सारनाथ लघु शिलालेख, कुषाणकालीन सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3, गुप्तकालीन अभिलेख एवं राजघाट से प्राप्त मृण्मुहरें, महीपाल का सारनाथ अभिलेख, कलचुरि शासक कर्ण का सारनाथ अभिलेख* एवं *राजघाट ताम्रपत्र* तथा *गाहडवालकालीन 35 ताम्रपत्र* उल्लेखनीय हैं। जिनसे काशी में वैदिक अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म की शिक्षाओं का उल्लेख हुआ है। काशी में शिक्षा का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही दृष्टव्य है, परन्तु अभिलेखों में अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा वर्णन उपलब्ध नहीं है, केवल प्रसंगवश साहित्य का उल्लेख मिलता है अथवा दान के पात्र सम्बन्धी वार्त्ता में दान ग्राही की विद्वता का वर्णन किया गया है तथा यह कहा गया है कि अमुक व्यक्ति कई विषयों का पण्डित था। साधारणतः उसके वंश का विवरण देते समय ब्राह्मण के वैदिक शाखा का नाम लिया गया है। इन सभी प्रकार के उल्लेखों से हमें अध्ययन सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

प्राथमिक स्त्रोतः-

- अग्निपुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1900.
- अर्थशास्त्र (कौटिल्यीय) : टी. गणपति शास्त्री, (सं0) त्रिवेन्द्रम, 1924.
- अष्टाध्यायी (पाणिनीय) : (सं0) एस0सी0 बोस, चौखम्बा ओरिऐन्टल सिरीज, बनारस, 1897.
- अंगुत्तरनिकाय : पालि, भाग-1-4, सहसम्पादक भिक्षु जगदीशकश्यप, नालन्दा देवनागरी पालि।
- अथर्ववेद : सायण व्याख्याहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1930.
- ऐतरेय ब्राह्मण : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि0सं0, 1994.
- काशी रहस्य : (ब्रह्मवैवर्तपुराण) गुरु मण्डल ग्रंथमाला, कलकत्ता, 1957.
- कृत्यकल्पतरु : लक्ष्मीधर, (सं.) के0वी0 रंगास्वामी आयंगर गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज, Vol. XCVIH
- काशीखण्ड : (सं0) करुणापति त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 4 Vol. (1991-98)
- कथावत्थु : पालि (अभिधम्मपिटक, सहसम्पादक भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरी पालि सिरीज, बिहार, 1961.
- खुद्दकनिकाय : सुत्तपिटक, सम्पादक भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा देवनागरी, पालि सिरीज, बिहार, 1959 (नालन्दा महाविहार, 1958)
- जातक (छः खण्ड) : हिन्दी अनुवाद भदन्त, आनन्द कौसल्यायन हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग 2008-2014, भाग 3, 1946.

- थेरीगाथा : सं0 कश्यप, भिक्षु जगदीश, नवनालन्दा, महाविहार, 1957.
- दीर्घनिकाय : पालि (सुत्तपिटक), भाग 1-3, सहसम्पादक भिक्षु जगदीश कश्यप, नवनालन्दा महाबिहार, 1958.
- उक्तिव्यक्तिप्रकरण : पं0 दामोदर, मुनिविजय द्वारा संपादित, बम्बई, 1953.
- महाभारत : रामनारायण शास्त्री, (सं.) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2012-2020
- रामायण : गीताप्रेस, गोरखपुर, 1967.

द्वितीयक स्त्रोतः-

- अग्रवाल, वासुदेवशरण : भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, 1966.
- अल्तेकर, अनन्त सदाशिव : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, इलाहाबाद, 1959

  : प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, इलाहाबाद, 1968.
- ओझा, गौरीशंकर : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (600-1200ई0) इलाहाबाद, 1929.
- ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, दिल्ली 1975.
- उपाध्याय, भरत सिंह : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, 1961.
- उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, दिल्ली, 1961.
- उपाध्याय, विभा : प्राचीन भारत में भूमिदान, जयपुर, 1992.
- उपाध्याय, बलदेव : काशी की पाण्डित्य परम्परा, वाराणसी-1983.

- कनिंघम, ए0 : प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, इलाहाबाद, 1971.
- काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग तीन), हिन्दी समिति ग्रन्थमाला, लखनऊ, 1966.
- केजरीवाल, ओम. प्रकाश (सम्पादक) : काशी नगरी एक : रूप अनेक, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 2010.
- गिरि, कमल, मारुतिनन्दन तिवारी तथा विजय प्रकाश सिंह : काशी के मंदिर एवं मूर्त्तियाँ, वाराणसी, 2003.
- गुप्त, परमेश्वरी लाल : प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड-1, वाराणसी, 2002.

  : प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड-2, वाराणसी, 2008.
- गोयल, श्रीराम : गुप्तकालीन अभिलेख, मेरठ, 1984.

  : मौखरि- पुष्यभूति- चालुक्ययुगीन अभिलेख, मेरठ, 1987.
- घोषाल, उपेन्द्रनाथ : हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास, (अनु0 अजयमित्र शास्त्री), नई दिल्ली, 1997.
- चन्द्रा, दिनेश : प्राचीन भारतीय अभिलेख, लखनऊ, 2008.
- चौधरी, हेमचन्द्रराय : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, इलाहाबाद, 1971.
- चौधरी, राधाकृष्ण : प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पटना, 1968.
- जायसवाल, विदुला : आदि काशी से वाराणसी तक, नई दिल्ली, 2011.
- दुबे, सीताराम : आभिलेखिक अध्ययन की प्रविधि एवं इतिहास लेखन, दिल्ली 2004.
- पाण्डेय, विमल चन्द्र : प्राचीन भारत का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, मेरठ, 1971.

- पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र : बौद्ध-धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963.
- पाठक, विशुद्धानन्द : उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास लखनऊ, 1973 (10 वाँ संस्करण 2015)
- पाण्डेय, उमा : वाराणसी : भारत का सांस्कृतिक केन्द्र, नई दिल्ली, 1980.
- फ्लीट, जे0एफ0 : भारतीय अभिलेख संग्रह, भाग-3 (अनु0), गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र,जयपुर, 1974.
- मिराशी, वी.वी. : कलचुरि नरेश और उनका काल, भोपाल, 1965.
- मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968.

  : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1974.
- मोतीचन्द्र : काशी का इतिहास (द्वितीय संस्करण), वाराणसी 1985.
- वर्मा, राधाकान्त : भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ, इलाहाबाद, 1977.
- वर्मा, जगमोहन : फाह्यान की भारत यात्रा, वाराणसी, 1991.
- वर्मा, ठाकुर प्रसाद देवी प्रसाद सिंह तथा जयशंकर मिश्र : युग-युगों में काशी, वाराणसी, 1986.
- विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, मसूरी, 1975.
- विश्वकर्मा, ईश्वरशरण : काशी का ऐतिहासिक भूगोल, दिल्ली, 1987.
- वाजपेयी, कृष्णदत्त एवं अन्य : ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, जयपुर, 1992.
- शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचना, नई दिल्ली, 1993.

- : प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1992.
- सुकुल, कुबेरनाथ : वाराणसी वैभव, पटना, 1977.
  : वाराणसी डाउन दि एजेज, वाराणसी 1974.
- सिंह, देवी प्रसाद (सम्पादक) : काशी का ऐतिहासिक भूगोल एवं राजनीतिक इतिहास, काशी प्रान्त, 2006.
- सिंह, प्रतिभा : शिव काशी : पौराणिक परिप्रेक्ष्य एवं वर्तमान संदर्भ, वाराणसी, 2004.
- सिंह, राघवेन्द्र प्रताप : पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी 2008.
- सिंह, रामचन्द्र : राजघाट की मृण्मूर्ति, उत्तर प्रदेश पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ, 1978.
- त्रिपाठी, करुणापति (सम्पादित) : काशी खण्ड, स्कन्दपुराण अन्तर्गत, द्वितीय भाग, वाराणसी, 1992.
- त्रिपाठी, रामप्रताप : पुराणों मे गंगा, प्रयाग, 1952.
- त्रिपाठी, रामाशंकर : प्राचीन भारत का इतिहास, वाराणसी-1937.

Epigraphical and Archaeological Report :

- E. Hultzsch : Corpus Inscriptionum Indicarum Vol, 1, 1969.
- John Fiathfull Flect : Corpus Inscriptionum Indicarum Vol, 4, 1963.
- Mirashi, V.V. : Corpus Inscriptionum Indicarum Vol, 4, 1955.
- Epigraphia Indica, Vol- 1-36.
- Indian Antiquary, 2, 18
- A.K. Narain and T.N. Roy : Excavation at Rajghat, Part 1-IV, BHU. 1976.

- F.O. Oertel : 'Excavation at Sarnath' Annual Report Archaeological Survey of India, 1904-1905] Calcutta, 1908, PP. 59.
- Daya Ram Sahni : Catalogue of the Museum of Archaeology of Sarnath, Calcutta, 1914.
- Vidula Jayaswal : Aktha : A Satellite Settlement of Sarnath, Varanasi (Report of Excavation Conducted in the year 2002) Bharti Bulletin of the Department of Ancient Indian History, Culture of Archaeology, B.H.U.

English Books :

- Agrawala, Vasudeva Sharan : Varanasi Seals and Sealings. Varanasi 1984.
  : Sarnath. Archaeological Survey of India, Calcutta, 1956.
- Altekar, Anant Sadashiv : History of Benaras : From prehistoric Times to Present Day. Banaras. 1973
- Bhattacharya, B.C. : The History of Sarnath of the Cradle. of Buddhism. Banaras 1924.
- Chandramouli, K. : Kashi the City Luminous, Delhi 1995.
- EcK, Diana L. : Banaras the city of light, New Delhi-1982.
- Havell, Ernest Benfield : Banaras the Sacred City, London, 1905.
- Jayaswal, Vidula : From Stone Quarry to Sculpturing workshops : A Report on Archaeological Investigations around chunnar, Delhi, 1998.

- Joshi, Esha Basanti (ed.) : Uttar Pradesh. District Gazetteers: Varanasi, Government Press, Allahabad, 1965.
- Majumdar, B. : A Guide to Sarnath, Pilgrims Books, Varanasi, Reprint 2006.
- Niyogi, Roma : History of Gahadawala Dynasty, Oriental Book Agency, Calcutta, 1959.
- Pandey, Rajendra : Kashi Through the Ages, Delhi, 1979.
- Singh, Birendra Pratap : Life in Ancient Varanasi (an Account Based on Archaeological Evidence). Delhi, 1985.
- Verma T.P. and A.K. Singh : Inscriptions of Gahadavalas and Their times, delhi 2011.

परिशिष्ट

परिशिष्ट

अभिलेखों की सूची

शोध-प्रबन्ध 'काशी क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों की ऐतिहासिक महत्त्व' नामक विषय से सम्बन्धित **(75)** की संख्या में अभिलेखों की प्राप्ति हुई है, जिनका परिचयात्मक अध्ययन निम्नवत् हैः-

मौर्यकालीन अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्त्रोत
1.	अहरौरा लघु शिलालेख	257 ई0पू0	भारती अंक-5, पृ0सं0 135, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
2.	सारनाथ लघु स्तम्भ लेख	-	कॉर्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम् खण्ड-1, पृ0सं0 116, हुल्श द्वारा प्रकाशित।

क्षत्रपकालीन अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्त्रोत
1.	राजा अश्वघोष का सारनाथ लेख	40 ई0	एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-8, पृ0सं0 171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।

कुषाणकालीन अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्त्रोत
1.	कनिष्क प्रथम का सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्त्तिलेख (3) की संख्या में प्राप्त	81 ई0	एपी0इण्डि0, खण्ड-8, पृ0सं0 171, फोगेल द्वारा प्रकाशित।

2.	कुषाणकालीन सारनाथ से प्राप्त पालि भाषा में लेख	-	एपी0इण्डि0, खण्ड-9, पृ0सं0 291, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
3.	कुषाणकालीन बभनियाव से प्राप्त अभिलेख	45 शंक संवत् (123 ई0)	संस्कृति साधना, खण्ड- 32, पृ0सं0 258-260, बी0आर0 मणि द्वारा प्रकाशित।

गुप्तकालीन अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्रोत
1.	स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ लेख	-	भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-3, जे0एफ0 फ्लीट (अनुवादक)- गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र, पृ0सं0
2.	कुमारगुप्त तृतीय का भीतरी से प्राप्त मुद्रालेख	-	प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, पी0एफ0 गुप्त, खण्ड-2, पृ0सं0 190.
3.	कुमारगुप्त का सारनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख	गु0सं0154	प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, पी0एल0 गुप्त, खण्ड-2, पृ0-87
4.	सारनाथ बुद्ध मूर्त्ति लेख	गु0सं0 157	प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, पी0 एल0 गुप्त. खण्ड-2, पृ0 157-173.
5.	राजघाट वाराणसी स्तम्भ लेख	गु0सं0 159	पी0एल0 गुप्त0 प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड-2, पृ0सं0 176-177.
6.	सारनाथ से प्राप्त लेख	-	कनिंघम,ए.एस.आई.,जिल्द-1,पृ0-123
7.	बुद्धगुप्त का भीतरी	गु0सं0 170	अग्रवाल.पी.के. 1983,इम्पीरियल गुप्ता,

	शिलापट्ट लेख		वाराणसी- पृ0-111
8.	भीतरी शिलालेख	गु0सं0 221	अग्रवाल.पी.के. 1983,इम्पीरियल गुप्ता, वाराणसी-112

मौखरी अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्रोत
1.	ईश्वरवर्मा का खण्डित जौनपुर पाषाण अभिलेख	-	भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-3, जे0एफ0 फ्लीट (अनुवाद-गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र), पृ0सं0 286.

स्थानीय अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्रोत
1.	प्रकटादित्य का सारनाथ लेख	-	भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-3, जे0एफ0 फ्लीट (अनुवादक-गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र), पृ0सं0 367-369.
2.	प्रहलादपुर स्तम्भ लेख	-	भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड-3, जे0एफ0 फ्लीट अनुवादक-गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र), पृ0सं0- 311.
3.	पंथ का बनारस लेख	-	एपी0 इण्डि0, खण्ड-9, पृ0सं0 59-62, दयाराम साहनी द्वारा प्रकाशित।

पाल अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्रोत
1.	महीपाल का सारनाथ अभिलेख	1027 ई0	इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-14, पृ0 139-140, हुल्श द्वारा प्रकाशित।

कलचुरिकालीन अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्रोत
1.	कलचुरि शासक कर्ण का बनारस दानपत्र लेख	क0सं0 793	का0इ0इ0, खण्ड-4, पृ0सं0 236, वी0बी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।
2.	कर्ण का सारनाथ अभिलेख	क0सं0 810	का0इ0इ0, खण्ड-4, पृ0सं0 275, वी0वी0 मिराशी द्वारा प्रकाशित।

गाहडवालकालीन अभिलेख

क्र0सं0	अभिलेख	तिथि	स्रोत
1.	चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1148	एपी0 इण्डि0 खण्ड-9, पृ0 सं0- 302-305, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
2.	चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1150	एपी0इण्डि0 खण्ड- 14, पृ0 सं0- 192-196, डी0आर0 साहनी द्वारा प्रकाशित।
3.	चन्द्रदेव का चन्द्रावती ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1156	एपी0इण्डि0 खण्ड-14, पृ0सं0- 197-200, डी0आर0 साहनी द्वारा प्रकाशित।

4.	गोविन्दचन्द्र का बनारस (कमौली) दानपत्र अभिलेख	वि.सं. 1162	एपी0इण्डि0 खण्ड-2, पृ0सं0 358-361, आर्थर वेनिस द्वारा प्रकाशित।
5.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1171	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0- 101-103, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
6.	गोविन्दचन्द्र का भदैनी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1171	एपी0इण्डि0 खण्ड-8, पृ0सं0- 152-153, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
7.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1172	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0- 103-104, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
8.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1174	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 104-106, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
9.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1175	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0- 106-107, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
10.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1176	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0- 109, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
11.	गोविन्दचन्द्र एवं उसकी रानी नयनकेलिदेवी का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1176	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0- 107-109, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
12.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1178	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 109-111, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
13.	गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1181	जे0ए0एस0बी0, खण्ड-LVI, पृ0सं0 113-188,

			ए0 फ्यूहरर द्वारा प्रकाशित।
14.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1182	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 99-101, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
15.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1184	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 111, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
16.	गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1185	जे0ए0एस0बी0, खण्ड-LVI, पृ0सं0 118-123, ए0 फ्यूहरर द्वारा प्रकाशित।
17.	गोविन्दचन्द्र का भदैनी ताम्रपत्र	वि.सं. 1187	एपी0इण्डि0 खण्ड-8, पृ0सं0 153-155, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
18.	गोविन्दचन्द्र एवं युवराज आस्फोटचन्द्र का भदैनी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1190	एपी0इण्डि0 खण्ड-8, पृ0सं0 155-156, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
19.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1190	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 111-112, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
20.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1196	एपी0इण्डि0 खण्ड-2, पृ0सं0 361-363, आर्थर वेनिस द्वारा प्रकाशित।
21.	गोविन्दचन्द्र का राजघाट ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1197	एपी0इण्डि0 खण्ड- 26, पृ0सं0 268-273, कृष्ण देव द्वारा प्रकाशित।
22.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1197	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 114, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।

23.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1198	एपी0इण्डि0 खण्ड-26, पृ0सं0-113-114, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
24.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1200	एपी0इण्डि0 खण्ड- 4, पृ0सं0- 114-116, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
25.	गोविन्दचन्द्र का मछलीशहर ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1201	एपी0इण्डि0 खण्ड-5, पृ0सं0 115-116, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
26.	गोविन्दचन्द्र एवं महाराजपुत्र राज्यपाल का भदैनी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1203	एपी0इण्डि0, खण्ड-8, पृ0सं0 156-158, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
27.	गोविन्दचन्द्र का भदैनी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1207	एपी0इण्डि0 खण्ड-8, पृ0सं0-158-159, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
28.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1211	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-116-117, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
29.	कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर पट्ट अभिलेख	-	एपी0इण्डि0 खण्ड-9, पृ0सं0 319-328, स्टेन कोनोव द्वारा प्रकाशित।
30.	विजयचन्द्र एवं जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1224	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-117-120, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
31.	जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1226	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-120-121, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
32.	जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1228	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-121-123, एफ0

			कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
33.	जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1230	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-123-124, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
34.	जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1231	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-124-126, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
35.	जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1232	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-126-128, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
36.	जयचन्द्र का सिहवर (बनारस) ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1232	इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0सं0 129-134, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
37.	जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1233	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0-128-129, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
38.	जयचन्द्र का गोदन्ती (बनारस) ताम्रपत्र भिलेख (बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र)	वि.सं. 1233	एपी0इण्डि0 खण्ड-18, पृ0सं0-134-136, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
39.	जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1233	इण्यिन एण्टीक्वेरी खण्ड-18, पृ0सं0-136-137, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
40.	जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1234	इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0सं0 137-139, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
41.	जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1236	इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0सं0 139-140, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।

42.	जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1236	इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0सं0 140-142, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
43.	जयचन्द्र का बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1236	इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड-18, पृ0सं0 142-143, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
44.	हरिश्चन्द्र का मछलीशहर (जौनपुर) ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1253	एपी0 इण्डि0 खण्ड-10, पृ0सं0 93-100, हीरानन्द द्वारा प्रकाशित।
45.	सिलसिला (भभुआ) प्रस्तर अभिलेख	वि.सं. 1162	एपी0इण्डि0 खण्ड-36, पृ0सं0 39-41, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
46.	वत्सराज का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख (गोविन्दचन्द्रकालीन) सामन्त शासक)	वि.सं. 1191	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, पृ0सं0 130-133, एफ0 कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
47.	विजयचन्द्र का सुनहर ताम्रपत्र लेख	वि.सं. 1223	एपी0इण्डि0 खण्ड-35, डी.सी. सरकार द्वारा प्रकाशित।
48.	विजयचन्द्र का जौनपुर स्तम्भ अभिलेख	वि.सं. 1225	ए0एस0आई0आर0, खण्ड-11, पृ0सं0 125, अलेक्जेण्डर कनिंघम द्वारा प्रकाशित।
49.	जयचन्द्र का (वाराहपुर, नंदगंज गाजीपुर) लाहड़पुर स्तम्भ लेख।	वि.सं. 1230	एपी0इण्डि0 खण्ड-32, पृ0सं0 35-309, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
50.	बेलखारा (मिर्जापुर) से प्रापत अभिलेख	वि.सं. 1253	ए0एस0आई0आर0 खण्ड-11, पृ0सं0 128-129, कनिंघम द्वारा प्रकाशित।
51.	जौनपुर से प्राप्त ईंट पर	वि.सं. 1273	जे0ए0एस0बी0, खण्ड-19,

	लिखित लेख		पृ0सं0 455-456, हीरानन्द द्वारा प्रकाशित।
52.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1175	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, एफ. कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
53.	गोविन्दचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख	वि.सं. 1196	एपी0इण्डि0 खण्ड-4, एफ. कीलहॉर्न द्वारा प्रकाशित।
54.	भीमदेव का राजघाट प्रस्तर लेख	वि.सं. 1208	एपी0इण्डि0 खण्ड-37, पृ0सं0 245-46, डी0सी0 सरकार द्वारा प्रकाशित।
55.	गोविन्दचन्द्र का बनारस (ज्ञानप्रवाह) से प्राप्त अभिलेख	वि.सं. 1208	ज्ञान-प्रवाह, रिसर्च जर्नल्स, भाग-18, पृ0सं0 218-225, नीरज कुमार पाण्डेय द्वारा प्रकाशित, वर्ष-2014-15.

प्राचीन भारत में काशी का प्रसार क्षेत्र

काशी के विविध स्थलों से प्राप्त अभिलेख
Ghazipur
Kumargupta Budhagupta
Jayachandra
Bhadohi
Chandauli
Govind Chandra
Mahipal
Mirzapur
Bhabua
Belkhara
N
ताम्रपत्र
पाषाण
स्तम्भ एवं मूर्तियाँ
ईंट

काशी क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का प्रतिशत
70%
60%
50%
40%
30%
20%
10%
0%
5%
8%
25%
61.33%
मूर्ति
स्तम्भ
पाषाण
ताम्रपत्र
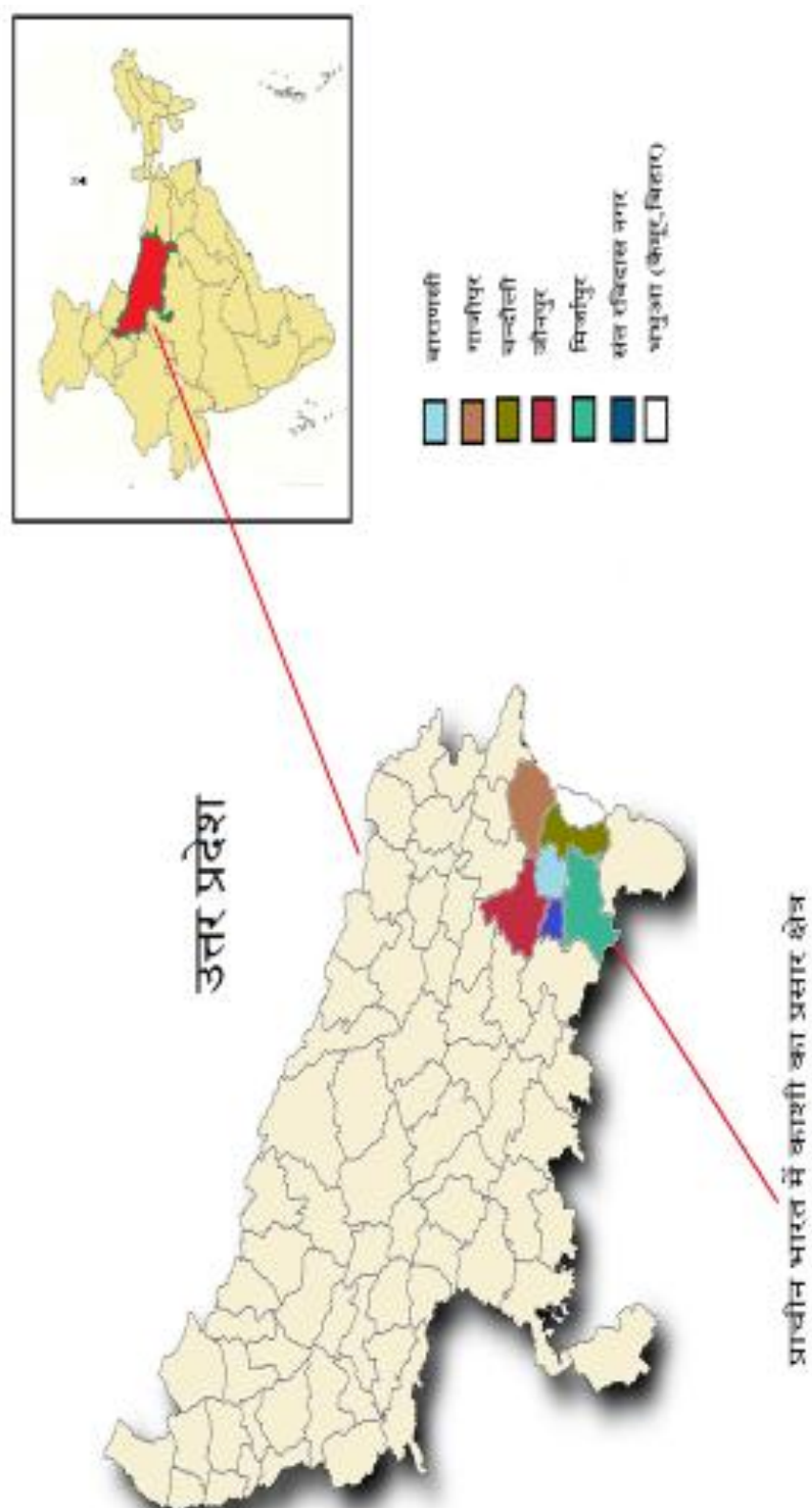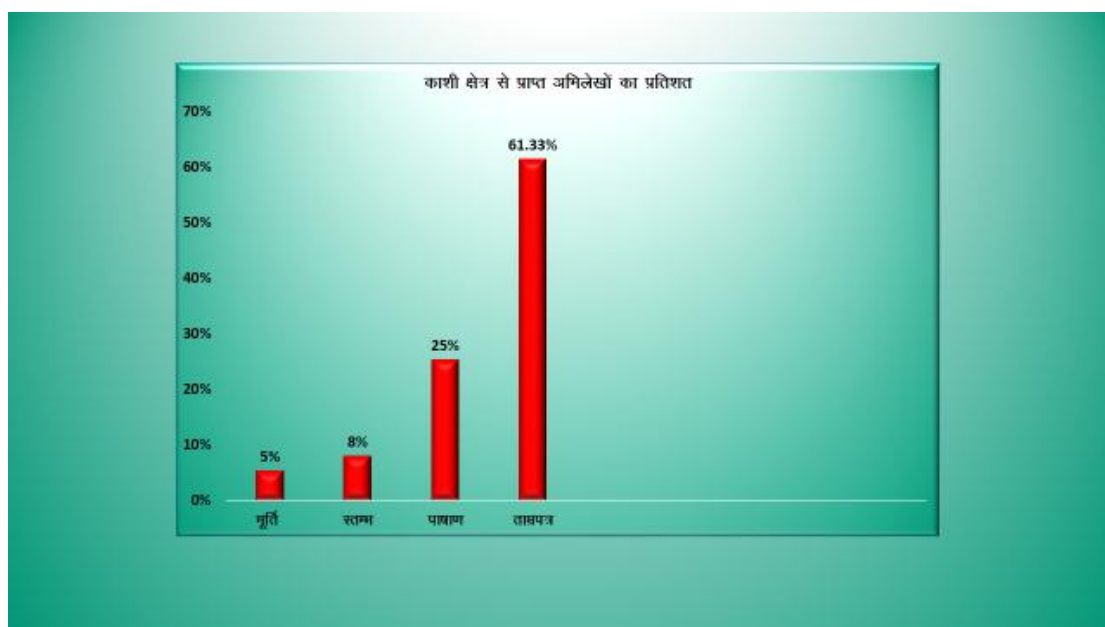
प्राचीन काशी के इतिहास का कालक्रम

प्राचीन काल (लगभग 800 ई0 पू0–1200 ई0)	
800 ई0 पू0 लगभग	राजघाट (वाराणसी) में प्राचीनतम् बस्ती और मिट्टी के तटबन्ध के पुरावशेष।
8 वीं सदी ई0 पू0	तेईसवें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काशी में जन्म।
सतवीं सदी ई0 पू0	काशी– एक स्वतन्त्र महाजनपद।
छठी–दूसरी सदी ई0 पू0	पहले कोशल में और बाद में मगध में काशी का समावेश।
528 ई0 पू0	काशी के समीप ऋषिपत्तन (मृगदाव) सारनाथ में बुद्ध का प्रथम धर्मोपदेश।
340 ई0 पू0	सम्राट अशोक की वाराणसी–यात्रा। सारनाथ में अशोक स्तम्भ और धमेख तथा धर्मराजिका स्तूप की स्थापना।
175 ई0 पू0 लगभग	शुंगकाल, काशी में हिंद–यवन (दिमित्रियस या मिनांडर मिलिन्द) की सेना का पड़ाव। राजघाट से यूनानी देवी–देवताओं वाली मृण्मुद्राओं की प्राप्ति।
81 ई0	काशी पर कनिष्क का अधिकार। सारनाथ में भिक्षुबल द्वारा स्थापित बोधिसत्त्व मूर्ति व उस पर लेख।
दूसरी–तीसरी सदी ई0	काशी पर कौशांबी के मघ राजाओं का अधिकार।
1 ई0 से 300 ई0	राजघाट के पुरावशेषों के आधार पर वाराणसी के इतिहास में समृद्धि का काल।
चौथी–पाँचवीं सदी ई0	काशी पर गुप्तों का शासन। राजघाट से बड़ी संख्या में नाम–मुद्राओं की प्राप्ति। वाणिज्य–व्यापार में वृद्धि। वाराणसी में शैव–धर्म का पुनरुत्थान और सारनाथ में सर्वास्तिवादी बौद्धों का प्रभुत्व।
5 वीं सदी, पूर्वार्ध	फाहयान की वाराणसी व सारनाथ की यात्रा।
सतवीं सदी, पूर्वार्ध	हर्षवर्धन के शासनकाल (606–647 ई0) में चीनी पर्यटक युवानच्वाङ की वाराणसी व सारनाथ यात्रा।
9 वीं सदी, पूर्वार्ध	जयादित्य और वामन द्वारा काशिकावृत्ति की रचना। शंकराचार्य की काशी–यात्रा और शंकरदिग्विजय तथा ब्रह्मसूत्र–भाष्य की रचना।
8 वीं से 11 वीं सदी	पालों, प्रतिहारों और कलचुरियों का काशी पर शासन।
11 वीं सदी, पूर्वार्ध	काशी पर त्रिपुरि के कलचुरि नरेश गांगेयदेव और उसके पुत्र कर्ण का शासन।
12 वीं सदी ई0	काशी पर गाहडवालों का शासन। गाहडवाल नरेश गोविन्दचन्द्र के राजपंडित दामोदर द्वारा तत्कालीन लोकभाषा (कोसली) में उक्तिव्यक्तिप्रकरण की रचना। गोविन्दचन्द्र के संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर भट्ट द्वारा राजतंत्र व धर्मशास्त्र के विशाल निबन्ध–ग्रन्थ कृत्यकल्पतरु की रचना। गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी द्वारा सारनाथ में बौद्ध विहार का निर्माण। गाहडवाल युग में काशी के प्रधान देवता अविमुक्तेश्वर शिव की विश्वेश्वर में परिवर्तन। काशी पर शहाबुद्दीन गोरी और कुतुबुद्दीन ऐबक के हमले। काशिराज जयचन्द्र की मृत्यु (1193 ई0) एवं गाहडवालों का अंत।
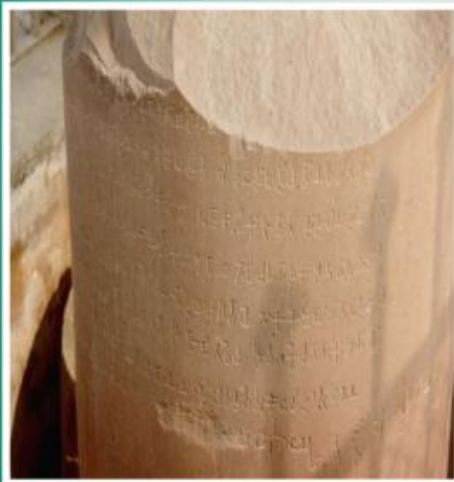
सारनाथ लघु शिलालेख

(छाप), कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम् – खण्ड –1

सौजन्य – सारनाथ संग्रहालय

काशी क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों की चित्र सूची
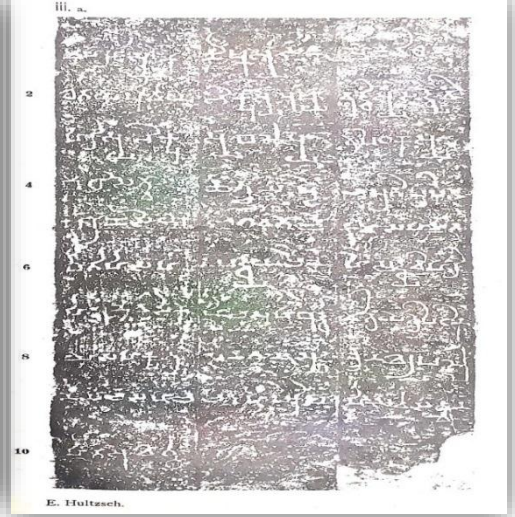
कनिष्क का सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख (छाप), एपिग्राफिया इण्डिका – खण्ड–9
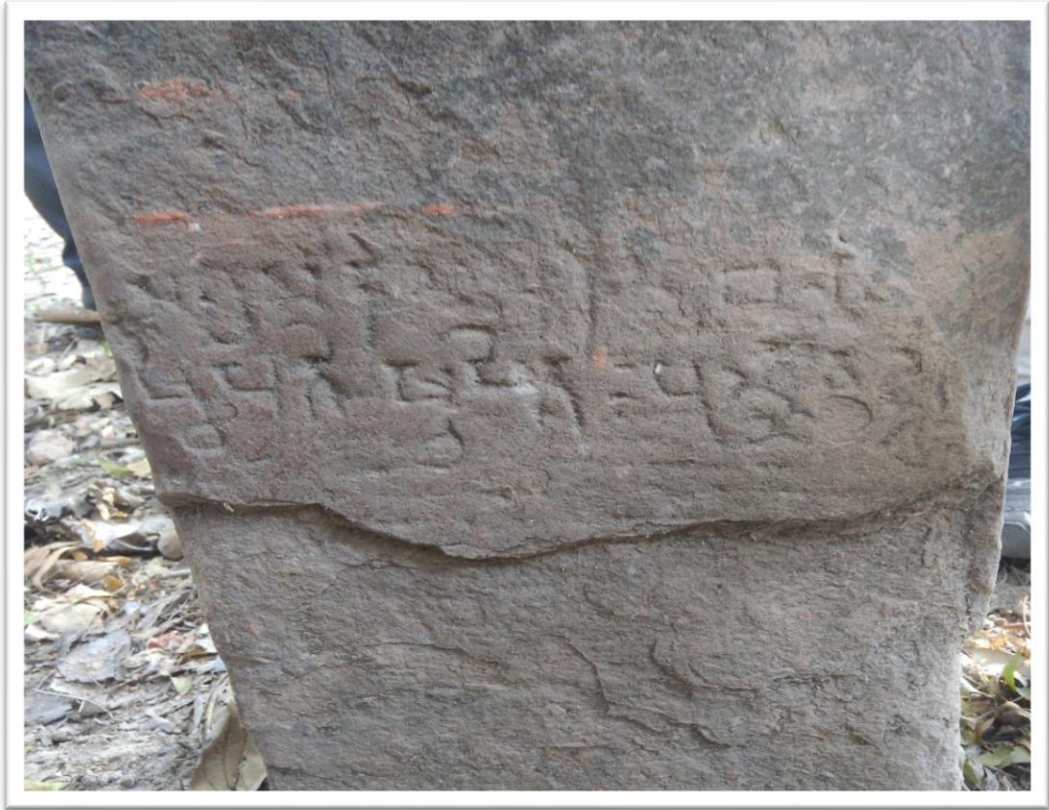
सौजन्य– सारनाथ संग्रहालय

बभनियांव ग्राम से प्राप्त कुषाणकालीन अभिलेख – (45 शक सम्वत्)

सौजन्य – हिस्ट्री टूडे, जर्नल नं0–20 (2019)

कुषाणकालीन पालि भाषा का लेख
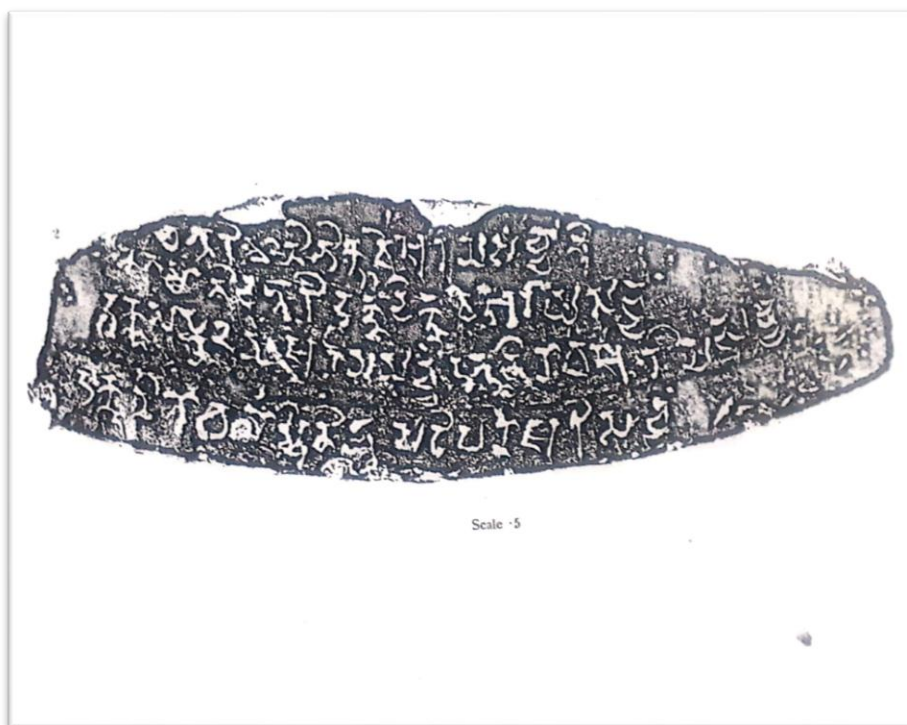
(छाप), एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड–9

सौजन्य – सारनाथ संग्रहालय

बुद्धगुप्त का सारनाथ अभिलेख

सौजन्य – सारनाथ संग्रहालय
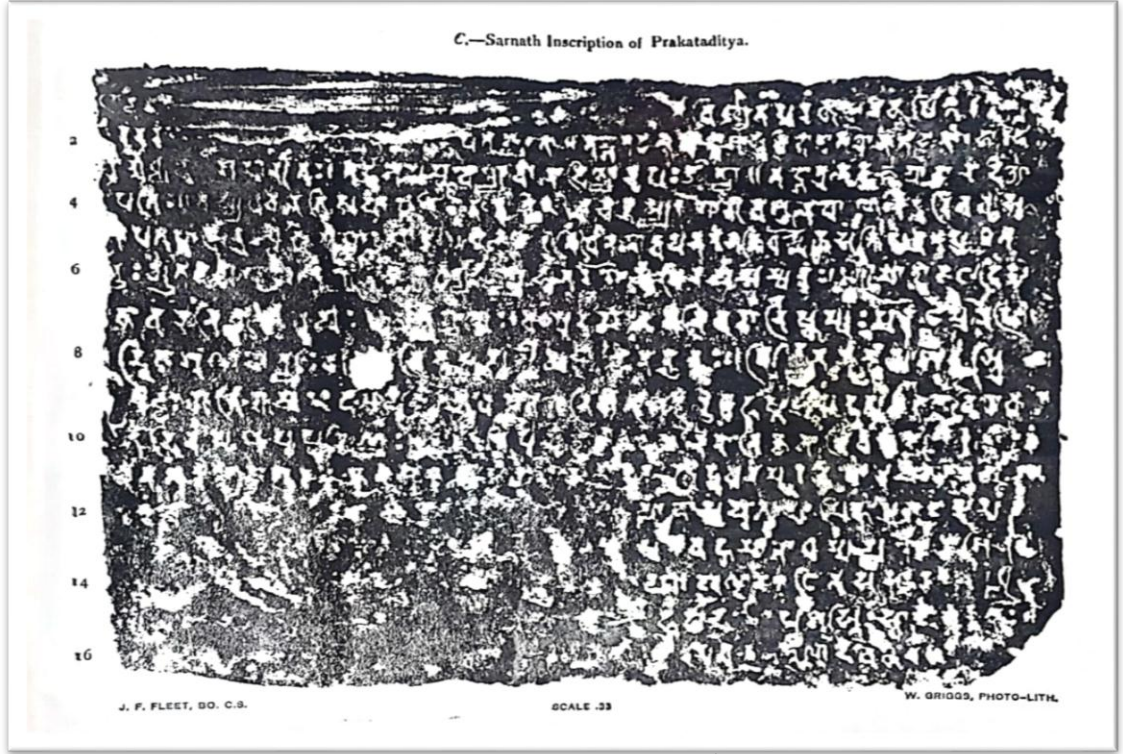
प्रकटादित्य का सारनाथ अभिलेख

सौजन्य – कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्
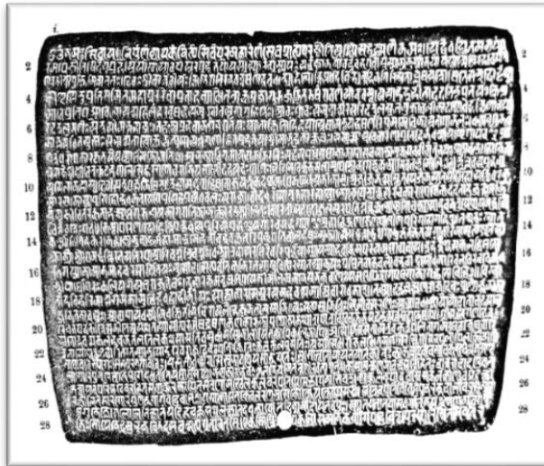
कर्ण का बनारस दानपत्र अभिलेख, क0 सं0 793

सौजन्य – कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्

राजघाट से प्राप्त गोविन्दचन्द्र का ताम्रपत्र अभिलेख – वि0 सं0 1197 (1140 ई0)

सौजन्य–भारत कला भवन संग्रहालय

कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख

सौजन्य – सारनाथ संग्रहालय

जयचन्द्र का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख – वि0 सं0 1232 (1179 ई0)

सौजन्य – भारतीय संग्रहालय कलकत्ता

ज्ञानप्रवाह से प्राप्त गोविन्दचन्द्र का ताम्रपत्र अभिलेख एवं संलग्न मुहर – वि0 सं0 1208 (1151 ई0

सौजन्य – ज्ञानप्रवाह अध्ययन केन्द

प्रकाशित शोध लेख

अभिलेखों में काशी का ऐतिहासिक विकास

पूजा अर्चना *

भारतीय सभ्यता में समन्वय की भावना स्थापित करने में काशी का बहुत बड़ा योगदान रहा है, संभवतः इसी कारण लोगों का काशी के प्रति इतना आकर्षण है। जहाँ देश के अन्य नगर समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपनी मूलधारा का परित्याग करते रहे, वहीं काशी ने परिवर्तनों एवं समन्वय के साथ अपनी सांस्कृतिक विरासत का अस्तित्व बनाये रखा। अमेरिकी साहित्यकार **मार्क ट्वेन** ने अपने यात्रा–वृत्तान्त ***'फॉलोविंग द इक्वेटर'*** में काशी को **इतिहास, परम्परा एवं दन्तकथाओं से भी दोगुना प्राचीन बताया है।**इतना ही नहीं इस वृत्तान्त के चार अध्याय काशी (वाराणसी) को ही समर्पित हैं। हिन्दू–धर्म और संस्कृति की शिक्षा–पद्धति को देखकर उन्होंने काशी को ***'ऑक्सफोर्ड ऑफ इण्डिया'*** की संज्ञा दी है। साहित्यिक परम्परा के अनुसार काशी की प्राचीनता उत्तर–वैदिक काल**(अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा)**[1] तक जाती हैकिन्तु आभिलेखिक स्रोततृतीय शताब्दी ईसा पूर्व (मौर्यकाल) से प्राप्त होते हैं।

जातक ग्रन्थों के अनुसार काशी तीन सौ योजन तक विस्तृत थी,जिसके उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स तथा दक्षिण में विन्ध्य–पर्वत था।[2]यदिआभिलेखिक साक्ष्यों की बात की जाए तो इसका विस्तार**गाज़ीपुर** (स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भ अभिलेख), **जौनपुर**(हरिश्चन्द्र का मछलीशहर ताम्रपत्र अभिलेख), **मिर्ज़ापुर**(अशोककालीन अहरौरा लघु शिलालेख, हरिश्चन्द्रकालीन बेलखरा अभिलेख), **चन्दौली**(प्रहलादपुर तिथिविहीन स्तम्भ अभिलेख) एवं **बिहार के भभुआ** (नायक अंगसिंह का सिलसिला अभिलेख) के अधिकांश भू–भाग तक था। इन सभी अभिलेखों का काशी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी न किसी रूप में रहा है। वर्तमान समय मेंमध्य–गांगेय क्षेत्र में अवस्थित काशी का विस्तार लगभग 1535 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में है। प्रो0 विदुला जायसवाल[3] के अनुसार वाराणसी नगर की परिधि के बाहर का सीमान्त–क्षेत्र जहाँ छोटे एवं बड़े गाँव स्थित थे तथा दूरस्थ ऐसे भाग जो निरन्तर वाराणसीसे जुड़े हुए थे, उन्हें '**काशी–क्षेत्र**' के अन्तर्गत सीमांकित किया गया है।इन क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों को अध्ययन का आधार बनाकर काशी के इतिहास पर कार्यकिया गया है। संयोग से विगत् वर्षों में काशी क्षेत्र से कुछ नवीन अभिलेखों की प्राप्ति हुई है, जो इतिहास–लेखन के तथ्यों की पुष्टि में सहायक प्रतीत होते हैं। आभिलेखिक साक्ष्य साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक दोनों साक्ष्यों का समन्वित सेतु होने के कारण अपेक्षाकृत अधिकप्रमाणिक कहे जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में तृतीय शताब्दी ई0पू0 से लेकर बारहवीं शती ई0 तक जिन राजवंशों ने काशी पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन किया, उनके काल का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।इन्हीं के आलोक में प्रस्तुत शोध–पत्र विश्लेषित है–

काशी से प्राप्त विविध राजवंशों के अभिलेखों एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर काशी पर उनके आधिपत्य की पुष्टि होती है, साथ ही उनसे भौगोलिक स्थिति का संज्ञान भी हो जाता है। इस दृष्टि सेकाशी से प्राप्त कलचुरियों एवं गाहडवालों के अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें तीर्थ के रूप में काशी, गंगा नदी, वरुणा नदी, आदिकेशव घाट, कपालमोचन घाट आदि का वर्णन मिलता है। प्राकृतिक वनस्पतियों में आम, महुआ एवं अन्य*(समधूककाम्रवनवाटिका)* वृक्षों का उल्लेखलगभग सभी गाहडवाल ताम्रपत्रों में हुआहै। काशी क्षेत्र में स्थित 75 ग्रामों एवं 11 पत्तलाओं आदि का विवरण **चन्द्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150)** में प्राप्तहोता है।[4]

शतपथ ब्राह्मण[5] के एक उद्धरण के आधार पर काशी के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ आर्यों के पूर्वी भारत के आगमन से निर्धारित किया जा सकता है। इसी आधार को लेकर हैवेल[6] ने 'कासिस'

---

* शाध छात्रा, पा. भा. इ. स. एव परातत्व विभाग, काशो हिन्द विश्वविद्यालय

नामक जनजाति से 'काशी' की उत्पत्ति को बताया है। उनका कथन है कि यह जनजाति गंगा की पूर्वी घाटी की ओर स्थानान्तरित हुई और आधुनिक वाराणसी नगर के आस–पास के क्षेत्रों में आकर बस गई। काशी की राजधानी के रूप में वाराणसी को लगभग छठीं शताब्दी ई0 पू0 में ख्याति प्राप्त हुई।बौद्ध–ग्रंथ ***अंगुत्तर निकाय*** एवं जैन–ग्रंथ ***भगवतीसूत्र*** में **षोडशमहाजनपदों** जिनमें काशी राज्य एवं उसकी राजधानी वाराणसी भी सूचीबद्ध है, का उल्लेख मिलता है।वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख अनेक जातक कथाओं से ज्ञात होता है। कुछ जातक कथाओं का प्रारम्भ ही *'अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जकारेन्ते'* पंक्ति से होता है।मगध के अधीन रही काशी मेंहर्यंक वंश (बिम्बिसार,अजातशत्रु), का शासनथा। इसके पश्चात् तृतीय शताब्दी ई0 पू0 में मौर्य सम्राट अशोक के शासनकाल में काशी की अवस्थिति का अनुमान**सारनाथ लघु शिलालेख**[7](राजाज्ञा), **अहरौरा लघु शिलालेख**[8]एवंअन्य पुरातात्विक साक्ष्यों से होता है। इन अभिलेखों में अशोक को *प्रियदर्शी* और *राजा* की उपाधि से सम्बोधित किया गया है। प्रथम शती ई0 में काशी पर कुषाणों का आधिपत्य हुआ, जिसकी पुष्टि **कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्त्ति अभिलेख वर्ष–3**,[9] से होती है। अभिलेख में कनिष्क को *महाराज* की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है, जो उसकी उच्च स्थिति का सूचक है। हाल ही में **बभनियाव**[10](वाराणसी शहर से 25 किमी दूर दक्षिण–पश्चिम में गंगा नदी के सहायक एवं विलुप्त हो चुके प्राचीन प्रवाह पथ पर स्थित) ग्राम सेकुषाणकालीन अभिलेख की प्राप्ति हुई है, जिसकी तिथि 45 शक संवत् है।कुषाणों के पश्चात् गुप्त साम्राज्य में काशी की महत्ता बनी रही, जिसकी पुष्टि साहित्यिक विवरण के साथ–साथ आभिलेखिक साक्ष्य भी करते हैं। गुप्त शासकों के काशी–क्षेत्र से 8 अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें स्कन्दगुप्त का **भीतरी शिलालेख,**[11]कुमारगुप्ततृतीय का**भीतरीसे प्राप्त मुद्रालेख**,[12] सारनाथ से प्राप्त **कुमारगुप्त** एवं**बुद्धगुप्त** का **बोधिसत्त्वप्रतिमा लेख**[13]विशेष उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों में गुप्त शासकों को *परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर,* की संज्ञा दी गई है। पूर्व मध्यकाल में काशी में मौखरियों, पालों, कलचुरियों एवंगाहडवालों का शासन हुआ। मौखरि शासक**ईश्वरवर्मन का जौनपुर पाषाण अभिलेख,**[14] **महीपाल का सारनाथ अभिलेख,**[15] **कलचुरि शासक कर्ण का सारनाथ**[16]एवं **बनारस दानपत्र अभिलेख**[17] महत्त्वपूर्ण है, जिनसे तत्त्कालीन काशी में इन शासकों की उपस्थिति देखी जा सकती है। गाहडवाल शासकों में चन्द्रदेव, मदनपाल, गोविन्दचन्द्र और उसकी पत्नी कुमारदेवी, विजयचन्द्र, जयचन्द्र एवं हरिश्चन्द्र के अभिलेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें काशी के उल्लेख के साथ–साथउनके राजनीतिक तथा व्यक्तिगत् उपलब्धियों का वर्णन हुआ है। काशी कोप्रमुख रूप से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रसिद्धि गाहडवालों के काल में मिली, जिसे ताम्रपत्रों में देखा जा सकता है।

काशी की **प्रशासनिक व्यवस्था** केअन्तर्गत मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक काशी की प्रशासनिक–व्यवस्था का विवरण अभिलेखों के माध्यमसे प्रस्तुत किया गया है। काशी में प्रायः राजतन्त्रात्मक शासन–व्यवस्था थी।अर्थशास्त्र[18] के सप्तांग सिद्धान्त (**राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दंड** एवं **मित्र**)के अन्तर्गत काशी राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था संचालित होती रही होगी। इनमें **राजा** का अग्रिम स्थान था, राजा में ही सभी अधिकार एवं शक्तियाँ निहित होती थी। राजकीय आदेश एवं ताम्रपत्रों को जारी करने का समस्त अधिकार राजा के पास होता था।राजकार्य में राजा की सहायता हेतु **मंत्रिपरिषद्** की नियुक्ति की जाती थी। ये अन्य कार्यों में भी राजा की सहायता करते थे, जिसकी पुष्टि **सारनाथलघुशिलालेख** में **महामात्र** शब्द से होती है, जो मौर्यकाल में धर्म से सम्बन्धित प्रशासनिक अधिकारी था। संभवतः इसके द्वारा ही काशी की देख–रेख होती रही होगी।**राष्ट्र** (प्रशासनिक इकाई), **दुर्ग, कोष** (राजस्व–प्रशासन), **दंड** एवं **मित्र** शासन–व्यवस्था के अन्यसहायक अंग थे। कालान्तर में मौर्य एवं गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के आधार पर ही गाहडवाल शासकों ने भी शासन किया। गाहडवाल काल में सम्पूर्ण राज्य केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन–व्यवस्था द्वारा संचालित होता था, जिसके अन्तर्गत 17 प्रकार के उच्च राज्याधिकारियों का उल्लेख चन्द्रदेव के **चन्द्रावती ताम्रपत्र**[19] (वि0सं0 1148) में हुआ है, जो क्रमशः राजा, रानी, युवराज, मंत्री, पुरोहित, प्रतीहार, सेनापति, भाण्डागारिक, भिषक, नैमित्तक, अन्तःपुरिक, दूत, करि, तुरग, पत्तना, आकर–स्थान व गोकुल आदि हैं।इसके साथ ही गाहडवाल अभिलेखों में प्रशासनिक इकाईयों का उल्लेख मण्डल, विषय, पथक,

पत्तला, ग्राम व पाटक के रूप में हुआ है।**कोष** की आपूर्ति का प्रमुख साधन *कर–व्यवस्था* थी। गाहडवाल अभिलेखों में विविध करों का उल्लेख हुआ है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। गुप्त, कलचुरि एवं गाहडवाल अभिलेखों में राजा को कुछ विशेष उपाधियों जैसे–परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, त्रियाधिपति, विद्याविचार वाचस्पति, क्षितिपाल, नरपति, गजपति एवं त्रिशंकुपतिसे सम्बोधित किया गया है। इनकी आज्ञा सभी के लिए मान्य थी। मात्स्य–न्याय से बचने के लिए राजा **दण्ड** का विधान करताथा।सप्तांग सिद्धान्तों में सबसे अन्तिम अंग **मित्र** है, जिसमें शासक अपने राज्य को स्थायी एवं शक्तिशाली बनाने हेतु चतुरुपाय एवं षाड्गुणों का विधान करता था। इस प्रसंग में कोशलराज प्रसेनजित ने अजातशत्रु के साथ युद्ध के परिणामस्वरूप कूटनीति का सहारा लेते हुए अपनी कन्या का विवाह अजातशत्रु से कर दिया और दहेज स्वरूप काशी को भी भेंट कर अपनी स्थिति को यथावत् बनाए रखा। इसी प्रकार का उदाहरण कलचुरि शासक **कर्ण के बनारस दानपत्र**[20] में हुआ है, जिसमें कर्ण के वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख हूण राजकुमारी आवल्लदेवी के साथ हुआ है। गाहडवाल शासक गोविन्दचन्द्र का विवाहराजकुमारी कुमारदेवी के साथ हुआ, जिसका विवरण**कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख**[21] में है। इस प्रकार के उदाहरण काशी की स्थायी एवं सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं।

सामाजिक इतिहास देश में रहने वाले लोगों के सर्वांगीण–जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है तथा समस्त जन–समुदाय के विभिन्न क्रियाकलापों यथा**; वर्णाश्रम–व्यवस्था, परिवार, संस्कार, विवाह, स्त्रियों की दशा,खान–पान, वस्त्र–आभूषण एवंमनोरंजन के साधन**जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। ये सभी तत्त्व समाज के संचालन में सहायक प्रतीत होते हैं। इन्हीं अवयवों को दृष्टि में रखकर प्राचीन काशीके सामाजिक इतिहास का एक परिदृश्य अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तकसमाज के सभी अवयव वैदिक परम्परा के अनुरूप ही विद्यमान थे।कुछ परिवर्तनों के साथ इनका यथावत् रूप समाज में बना रहा।***उत्तराध्ययन सूत्र***[22]में चारों वर्णों ब्राह्मण (बंभण), क्षत्रिय (खत्तिम), वैश्य (वइस्स) और शूद्र (सुद्द) का उल्लेख प्राप्त होता है। अशोक के पाँचवें शिलालेख में यह उल्लेख है कि महामात्रों की नियुक्ति भिक्षुओं, ब्राह्मणों, इभ्यों (शिष्टजनों),गृहस्थियों, अनाथोंतथा धर्मगामियों की सुरक्षा एवं सुख के लिए की गईथी।काशी से प्राप्त**कुषाणकालीन कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3,**[23]मेंउपाध्याय (ब्राह्मण), आचार्यएवं चतुर्परिषदों (चार वर्णों) का उल्लेख हुआ है।गुप्तकालीन **स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख**[24] से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त ने भीतरी में विष्णु की प्रतिमा स्थापित कराने के पश्चात् ग्राम दान दिया। लेख के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दान ग्रहण करने की परम्परा ब्राह्मण वर्ग में विद्यमान थी।प्रायः काशी से प्राप्त **46** ताम्रपत्रों में ब्राह्मण एवं **9** ताम्रपत्रों में क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख हुआ है, जो समाज में इनकी उच्च स्थिति को दर्शाता है। ब्राह्मणों के प्रमुख 6 कर्त्तव्य थे– यज्ञ–याजन, अध्ययन–अध्यापन, दान एवं प्रतिग्रह। इन ब्राह्मणों के नाम के साथ वेद, शाखा, गोत्र एवं प्रवर का वर्णन हुआ है, जो उनके वैदिक ग्रन्थों में दक्षताका सूचक है।राष्ट्र एवं समाज की रक्षा का दायित्त्व क्षत्रिय वर्ग के ऊपर ही था, जिसे समाज में दूसरा स्थान प्राप्त था।**जयचन्द्रकालीन लाहडपुरा अभिलेख**[25] में श्रेणी (निगम) के सदस्यों में साहूकार का उल्लेख हुआ है, जो निश्चित रूप से वैश्य वर्ग से सम्बन्धित रहा होगा। वैश्यों का प्रमुख कार्य व्यापार एवं वाणिज्य था।समकालीन साहित्य ***कृत्यकल्पतरू*** में इनका उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण का उल्लेख क्रमशः अभिलेखों में लोहार, सुनार, सूत्रधार आदि के रूप में हुआ है।**आश्रम व्यवस्था** का परिपालन प्रारम्भ से ही काशी में होता रहा है जिसकी पुष्टि **अकथा**[26] नामक पुरास्थल से अन्वेषित उत्तर–वैदिककालीन यज्ञ–हवन सम्बन्धी उपकरण करते हैं, इसकी निरन्तरता गाहडवाल काल तक बनी हुई थी।ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के उल्लेख के साथ ही गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत विवाह, परिवार एवं अन्य संस्कारों का उल्लेख अभिलेखों में द्रष्टव्यहै। **विवाह** संस्कार का उल्लेख **कुमारदेवी** के **सारनाथ प्रस्तर पट्ट अभिलेख**[27]में हुआ है। इसमें गोविन्दचन्द्र एवं उसकी पत्नी कुमारदेवी की तुलना विष्णु और लक्ष्मी के समान की गई है, जो दाम्पत्य जीवन के प्रमुख उदाहरण

माने जा सकते हैं। अभिलेखों में परिवार का उल्लेख हुआ है, जिसमें प्रपितामह, पितामह, पिता, माता, पुत्र एवं पुत्री का विशिष्ट स्थान था। अन्य संस्कारों के अन्तर्गत जातकर्म संस्कार का उल्लेख **जयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र** (वि0सं0 1232)[28], नामकरण संस्कार का उल्लेख**सिहवर ताम्रपत्र**[29](वि0सं0 1232) एवंअन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख **कर्ण के बनारस दानपत्र**[30](क0 सं0 793) में हुआ है, जिसे कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग में स्नान करके, शिव की आराधना के पश्चात् जारी किया था। स्त्री माता, पत्नी, एवं पुत्री के रूप में सदैव से ही आदृत रहीं हैं। काशी में स्त्रियों की दशा सम्मानजनक थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अभिलेखों में मिलता है। इस क्रम में **कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्ति लेख**[31] एवं गाहडवालकालीन ताम्रपत्र क्रमशः**गोविन्दचन्द्र का बनारसताम्रपत्र लेख** (वि0सं0 1162)[32], **गोविन्दचन्द्र एवं उसकी रानी नयनकेलिदेवी का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख** (वि0सं0 1176)[33] एवं**कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर पट्ट लेख**[34] महत्वपूर्ण है, जिसमें त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा (**कुषाणकालीन**) राल्हणदेवी, पृथ्वीश्रीका, नयनकेलिदेवी, गोस्सलदेवी, कुमारदेवी (**गाहडवालकालीन**) आदि के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने पति एवं पुत्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से दान करते हुए दिखाई देती हैं। इन अभिलेखों से राजनीतिक, साम्पत्तिक एवं शिक्षा विषयक अधिकारों से स्त्रियों के विशेषाधिकारों को पुष्ट किया जा सकता है। खान–पान, वस्त्र–आभूषण एवं मनोरंजन के साधन आदि का विवरण राजघाट से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों, जातक ग्रन्थों, एवं ***उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण***से भी मिलता है। दूध, घी, दही, खीर, मिठाई, सत्तू, पूड़ी आदि विशिष्ट खाद्य–पदार्थ थे। लोग मांसाहार का भी सेवन करते थे, जिसकी पुष्टि गाहडवाल ताम्रपत्रों में समत्स्याकरः शब्द से होती है। वस्त्राभूषण के अन्तर्गत धोती, कुर्ता, पगड़ी और बनारसी वस्त्र के साथ कर्णफूल, नुपूर, कंठहार, मणिबन्ध, भुजबन्ध आदि महत्त्वपूर्ण सौन्दर्य–प्रसाधन के स्रोत थे।

प्राचीन काशी की आर्थिक समृद्धि के प्रमुख अवयवों में**कृषि, पशुपालन, व्यापार–वाणिज्य,उद्योग–धंधे एवं कराधान–प्रणाली** का विकासनिरन्तर रूप से हुआ।कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य को सम्मिलित रूप से अर्थशास्त्र में **वार्त्ता** कहा गया है। काशी क्षेत्र मेंकपास, गन्ना, धान, गेहूँ, जौ, चना, सरसों, आदि की विशेष रूप से खेती की जाती थी। मध्य गंगा घाटी में बसे होने के कारण यहाँ उन्नत किस्म की फसलें होती थी एवं प्रचुर मात्रा में खाद्यान प्राप्त होता था। प्राकृतिक वनस्पतियों में आम, महुआ*(समधूककाम्रवनवाटिका)*आदि वृक्षों का उल्लेख लगभग सभी गाहडवाल ताम्रपत्रों में मिलता है।पशुपालन अर्थव्यवस्था का दूसरा प्रमुख आधार था। पशुओं में गाय, भैंस, बैल, बकरी, कुत्ता, आदि पालतू पशु थे, जिसकी पुष्टि जातक ग्रन्थों से होती है। गाहडवालकालीन अभिलेखों में सहस्रों गायों को*(गोसहस्रमहादान)*दान में देने का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन समय से ही गाय का आर्थिक महत्त्व था।काशी में विशेष रूप से उद्योग–धन्धें एवं व्यापार–वाणिज्य की उन्नति हुई, जिसकी पुष्टि साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से होती है। वस्त्र उद्योग, चन्दन उद्योग, शिल्प उद्योग एवं बढ़ईगिरी प्रमुख उद्योग थे।अन्य स्रोतोंसे यह ज्ञात होता है कि **काशी,** बंग, पुण्ड्र, व कलिंग सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे।[35]गुप्तकाल में काशी में इनउद्योग–धन्धों की विशेष उन्नति हुई।काशी में इस प्रकार के उदाहरण सारनाथ, राजघाट, अकथा की खुदाई से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य करते हैं। संभवतः इन व्यवसायों एवं उद्योगों का संचालन श्रेणियाँ करती थीं।काशी प्रारम्भ से ही व्यापार–वाणिज्य का केन्द्र रही है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से यह विदित होता है कि वाराणसी में श्रेष्ठि एवं सार्थवाहों के समूह विद्यमान थे, जो व्यापार करने के लिए प्रसिद्ध थे। ***बावेरू जातक*** में वाराणसी के कुछ वणिक वर्गों का दिशाकाक लेकर जहाज से बावेरू (बेबिलोन) राष्ट्र जाने का विवरण मिलता है। व्यापारी गण घोड़े, चन्दन, मिट्टी के बर्तन, बनारसी वस्त्र, आभूषण, खाद्य एवं पेय–पदार्थ (शराब) आदि का व्यापार वाराणसी से सुदूर देशों एवं स्थानीय क्षेत्रों में किया करते थे।इसके अतिरिक्त जातकों से यह विदित होता है कि काशी (वाराणसी) के नाविक गंगा नदी में नाव चलाकर एवं मत्स्य पालन के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे, जिसकी निरन्तरता वर्तमान में भी बनी हुई है।

काशी से प्राप्त विविध राजवंशों के लेखों में उल्लिखित दान करने की प्रक्रिया शासकों की आर्थिक नीतियों को स्पष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त काशी में जिन राजवंशों ने अनेक स्मारकों एवं मंदिरों का निर्माण करवाया, उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अर्थ–व्यवस्था में अपना सहयोग दिया।इसी क्रम में प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष)नामक मंदिर बनाने का वर्णन मिलता है। आठवीं शती का सारनाथ से प्राप्त पंथ के लेख से यह सूचना प्राप्त होती है कि पंथ ने अत्यन्त**धन** लगाकर अनेक धार्मिक कृत्यों के पश्चात् चंडी की एक मूर्त्ति स्थापित की।[36]काशी में **'कर्णमेरु'** नामक मंदिर की स्थापना कलचुरि शासक कर्णदेव ने करवाया, जिसका उल्लेख **कर्ण केजबलपुर ताम्रपत्र** में हुआ है।[37]इसकी पुष्टि ***प्रबन्धचिन्तामणि*** एवं ***उक्तिव्यक्तिप्रकरण*** से भी होती है। ***उक्तिव्यक्तिप्रकरण*** में यह उल्लेख है कि उपाध्याय (गुरु) जब अपने शिष्यों के साथ भ्रमण कर रहे थे तब उनके शिष्यों की दृष्टि कर्ण द्वारा बनवाये गए कर्णमेरु मंदिर पर पड़ी। उन्होंने प्रश्न किया–**"हो इहि कोउ जो कनमेरुतूलु प्रासादु कराविह?राजा जइ कोउ? (21/18–19)"** क्या कोई ऐसा होगा जो कर्णमेरु के तुल्य प्रासाद बनवाए? कोई राजा है? इस कथन से यह स्पष्ट है कि काशी में कर्णमेरु मंदिर के समान अन्य कोई दूसरा मंदिर नहीं था और लोगों को यह विश्वास था कि उसके समान दूसरा मंदिर बनवाना कठिन था। गाहडवाल शासकों ने काशी में विविध प्रकार के मंदिरों का निर्माण करवाया, जिनमें आदिकेशव, इन्द्रमाधव मंदिर प्रमुख हैं। मंदिर कर व्यवस्था के स्रोत रहे होंगे, ऐसा अनुमानित किया जा सकता है।ये सभी विवरण इन शासकों की आर्थिक समृद्धि के परिचायकहैं।

कर–व्यवस्था का काशी के आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसका उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में विशेष रूप से हुआ है।इनमें **भाग, भोगकर, हिरण्य, प्रवणिकर, तुरुष्कदण्ड, कुमारगादिआणक, कूटक, यमलिकाम्बलि, जलकर, गोकर, लवणकर, विषयदान, पर्णकर, दशबन्ध, अक्षपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विशतिअठप्रस्थ, वलदी, निधि–निक्षेप, आकर** आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन करों के माध्यम से कोष की आपूर्त्ति होती थी।

विश्व स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अनेक नगरों का उदय एवं उनका पतन हुआ किन्तु काशी सतत् विकासमान रही और इसका धार्मिक–आध्यात्मिक स्वरूप गतिमान रहा। काशी विविध मतावलम्बियों की साधना–स्थली रही है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह विदित होता है कि काशी में सनातन धर्म के विविध सम्प्रदायों यथा; शैव, वैष्णव और शाक्त धर्म के साथ जैन एवं बौद्ध धर्म का भी प्रभाव रहा। शोध–पत्र में आभिलेखिक स्रोतों के माध्यम से काशी में धार्मिक परिदृश्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

इस क्रम में शैव–सम्प्रदाय से सम्बन्धित अभिलेख काशी में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुए हैं, जिसमें प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य कुषाणकालीन बभनियांव[38] से प्राप्त अभिलेख है। अभिलेख पर उत्कीर्ण दो पंक्तियों में भगवान शिव के सम्मान में पुण्यवृद्धि हेतु दान का उल्लेख है। इस अभिलेख के प्राप्त होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शैव धर्म का काशी में अस्तित्व था। प्रारम्भिक अवस्था में काशी में विशेष रूप से नागों एवं यक्षों की भी पूजा की जाती थी। संभावना व्यक्त की जा सकती है कि यक्षों में शिव का भी स्थान रहा हो। बौद्ध साहित्य ***महामयूरी*** नामक ग्रन्थ में वाराणसी के प्रधान यक्ष को **महाकाल** सम्बोधित किया गया है, जो शिव का अन्य नाम है। काशी में गुप्त शासकों का काल पौराणिक धर्म एवं उससे सम्बन्धित देवी–देवताओं के पुनर्स्थापना का काल था। काशी का एक अन्य नाम **'अविमुक्त'** भी है।**अविमुक्तेश्वर**[39] नाम की मृण्मुहरें काशी के राजघाट से प्राप्त हुई हैं, जो भाषा एवं लिपि के आधार पर गुप्तकाल की मानी जाती हैं।ह्वेनसांग ने वाराणसी में शैव सम्प्रदाय की विशेष रूप से चर्चा की है। आठवीं सदी का सारनाथ से प्राप्त पंथ के लेख से यह सूचना प्राप्त होती है कि वह प्रतिदिन शिव की पूजा करते थे। कलचुरि शासक कर्ण के बनारस दानपत्र[40] का प्रारम्भ ही शिव की स्तुति**(ओं नमः शिवाय।। निर्गुणं व्यापकं शिवं परमकारणं)** से होता है। गाहडवाल शासकों केअभिलेखों में उन्हें**'परममाहेश्वर'** सम्बोधित किया गया है।**कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख**[41] में हर एवं हरि का उल्लेख हुआ है। काशी में शैव सम्प्रदाय के साथ–साथ वैष्णव सम्प्रदाय के भी अभिलेखीय प्रमाण मिलते हैं।इस क्रम में **स्कन्दगुप्त का भीतरी शिलालेख**[42] महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भीतरी ग्राम में विष्णु मंदिर बनवानें का उल्लेख है। वैष्णव अवतारवाद सिद्धान्त का प्रभाव काशी में था, जिसे साहित्य एवं पुरातत्त्व के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

भारत कला भवन संग्रहालय में संरक्षित गुप्तकालीन गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सातवीं शताब्दी ई0 के **प्रकटादित्य के सारनाथ लेख**[43]में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष) नामक मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में विशेष रूप से वैष्णव सम्प्रदाय की चर्चा की गई है। अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाहडवाल शासकों का झुकाव वैष्णव सम्प्रदाय की ओर विशेष रूप से था। विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा करने का विधान **चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र**[44] (वि0 स0 1150) से ज्ञात होता है। गाहडवाल ताम्रपत्रों में संलग्न मुहर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें मानवरूपी गरूड़ का अंकन है, जिसे वैष्णव धर्म के साथ सम्बद्ध किया जाता है। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित काशी में गाहडवाल शासकों द्वारा आदिकेशव मंदिर एवं इन्द्रमाधव मंदिर बनवाने का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है।चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150)[45]से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी में गंगा एवं वरुणा के संगम पर आदिकेशव मंदिर के निर्माण हेतु चंद्रदेव के द्वारा अपने वजन के बराबर सोना, चाँदी और अमूल्य रत्न, एक हज़ार गाय एवं 500 ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से 32 ग्राम दिए गए। कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में गोविन्दचन्द्र को विष्णु का अवतार सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त काशी में शाक्त, गणेश, सूर्य, गंगा आदि की उपासना की जाती थी, जिसके प्रत्यक्ष अभिलेखीय प्रमाण गाहडवालकालीन अभिलेख हैं।

इसी क्रम में काशी में जैन धर्म की भी उपस्थिति देखी जा सकती है। काशी में जैन धर्म का भी प्रभाव रहा। जैन धर्म के प्रमुख तीर्थंकरों यथा; सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस एवं पार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ था। संभवतः उनकी शिक्षाओं का प्रचार–प्रसार काशी से ही हुआ होगा। राजघाट से प्राप्त ऋषभदेव नाम के एक व्यक्ति की मुद्रा से यह ज्ञात होता है कि काशी में जैन धर्मानुयायी विद्यमान थे।

सारनाथ में बौद्ध धर्म की उन्नति विशेष रूप से हुई, जिसकी पुष्टिमौर्यकाल से लेकर गाहडवाल काल तक के अभिलेखों से होती है। मौर्यकाल मेंबौद्ध धर्म से सम्बन्धित सारनाथ लघु स्तम्भ लेख एवं अहरौरा लघु शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं, जिसमें बौद्ध संघ का उल्लेख हुआ है। सारनाथ से प्राप्त कनिष्ककालीन बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3 में भिक्षु बल के द्वारा बोधिसत्त्व की प्रतिमा निर्मित कराने का उल्लेख मिलता है। सारनाथ एवं राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन अभिलेखों से बौद्ध धर्म विषयक सूचना प्राप्त होती है। कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ बुद्ध–प्रतिमा लेख (गु0सं0 157) में बुद्ध को शास्ता सम्बोधित किया गया है। अप्रतिम गुणों से युक्त भगवान बुद्ध की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख इसी अभिलेख में हुआ है। परवर्ती गुप्त शासक बुद्धगुप्त का गु0सं0 159 का अभिलेख राजघाट से प्राप्त हुआ है, जिस पर महाराजाधिराज बुद्धगुप्त नाम अंकित है। इस अभिलेख को भिक्षु अभयमित्र ने प्रतिष्ठापित करवाया।पालवंशीय शासक महीपाल के सारनाथ अभिलेख में धर्मराजिका स्तूप के मरम्मत का उल्लेख हुआ है। गाहडवालों के शासनकाल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल में वैदिक धर्म का प्रभाव विशेष रूप से था किन्तु गोविन्दचन्द्र का संधिविग्रहिक लक्ष्मीधर बौद्ध धर्म के प्रति उदार था। उसके ग्रंथ कृत्यकल्पतरू में यह उल्लेख है कि विहार का निर्माण करवाना पुण्य का कर्म था। इसी क्रम में गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है। कुमारदेवी बौद्ध धर्म के वज्रयान शाखा की अनुयायी थी। लेख से यह ज्ञात होता है कि जम्बुकी पत्तला के लोगों के आग्रह पर कुमारदेवी ने धर्मचक्रजिन विहार की मरम्मत करवाई। उसने भारत का सर्वश्रेष्ठ विहार निर्मित करवाया। अभिलेख में बौद्ध धर्म के वज्रयानी शाखा की देवी वसुधरा की अलंकृत शैली में**(ओं नमो भगवत्यै आर्यवसुधारावै।। समवतु वसुधारा धर्मपीयूषधारा प्रशमितबहुविश्वोद्दामदुःखोरुधारा। धनकनकसमृद्धिं भूर्भुवः श्वः किरन्ती तदखिलजनदैन्याजयन्ती जगन्ति।।)**स्तुति की गई है।

अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि काशी में विविध धर्म–सम्प्रदायों की उन्नति हुई, जिसमें प्रमुख रूप से ब्राह्मण धर्म की प्रमुखता द्रष्टव्य होती है।

काशी सेप्राप्त अभिलेखों एवं तत्कालीन् साहित्यिक विवरणों का अध्ययन कर काशी के शैक्षणिक–व्यवस्था पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इन अभिलेखों में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से सम्बन्धित विषयों के उल्लेख के साथ–साथ बौद्धधर्म से सम्बन्धित शिक्षाओं का भी उल्लेख हुआ है। काशी उत्तर–वैदिक काल से ही वैदिक शिक्षा–पद्धति का केन्द्र रही है, जिसका प्रत्यक्ष साहित्यिक प्रमाण बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित् काशी नरेश अजातशत्रु एवं गार्ग्य बालाकि का संवाद है।अभिलेखों में विशेष रूप से **कुषाणकालीन सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3, गुप्तकालीन राजघाट से प्राप्त मुहरें, कलचुरि**

शासक कर्ण का बनारस दानपत्र अभिलेख(क0सं0 793), और**गाहडवालकालीन 35 ताम्रपत्र**विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनसे काशी में वैदिक अध्ययन–अध्यापन की पुष्टि होती है। कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष–3 में निहित कुछ शब्द जैसे– त्रिपिटकाचार्या (त्रिपिटक की आचार्या), उपाध्याय, आचार्य आदि शिक्षा–व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। गुप्तकालीन राजघाट से प्राप्त मुहरें जिनमें बह्वृच (ऋग्वेद), अध्वर्यु (यजुर्वेद), छान्दोग्य चरक (सामवेद), श्रीसारस्वतस्य एवं श्रीचातुर्वेदय अंकित मुहरें वैदिक शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित होती हैं। कर्ण के बनारस दानपत्र[46] में यह उल्लेख है कि आमह के प्रपौत्र वामन के पौत्र नारायण के पुत्र औदालक दैवरात्र और विश्वामित्र प्रवर वाले कौत्सगोत्रिय वेसालवासी ब्राह्मण **विश्वरूप** को काशी में सुरसी ग्राम दान में दिया गया। इसी क्रम में गाहडवाल शासकों के अभिलेख हैं, जो अधिकांशतः वैदिक ब्राह्मणों को दिए हुए ज्ञात होते हैं। इनके शासनकाल में ही काशी का अत्यधिक शैक्षिक–संवर्धन हुआ। इस संदर्भ में चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150)[47] में 500 ब्राह्मणों को दान देने का विवरण है। अभिलेख में यह उल्लेख है कि वेदों के अध्येता इसका अध्ययन करके उल्लासपूर्वक वैदिक यज्ञ करते थे।**दयाराम साहनी** नेइस अभिलेखमें495 ब्राह्मणों का नाम, गोत्र एवं प्रवर के साथ सूचीबद्ध किया है।इसमें जाट नामक ब्राह्मण को 'श्री ऋग्वेद चरणे चतुर्वेदिन', वील्ह को 'श्री यजुर्वेदचरणे चतुर्वेदिन', छीहिल को 'अथर्ववेद चरणे चतुर्वेदिन' तथा देदिग नामक ब्राह्मण को 'छान्दोग्य चरणे त्रिपाठिन' कहा गया। अभिलेखों में ऋग्वेद के चतुर्वेदियों की संख्या125, यजुर्वेद के चतुर्वेदियों की संख्या 95, अथर्ववेद के द्विवेदियों की संख्या 198 एवं श्री छान्दोग्य चरण के त्रिपाठियों की संख्या 74 है।लक्ष्मीधर[48] के अनुसार ब्राह्मणों का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे वेद, स्मृति एवं सदाचार का अध्ययन करें। इस प्रकार के उद्धरण लगभग सभी ताम्रपत्रों में दिखाई देते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि काशी प्रारम्भिक अवस्था से ही वैदिक शिक्षा का केन्द्र रही है। इसके साथ बौद्धधर्म की शिक्षाएँ भी काशी में प्रचलित थीं। इसके उदाहरण के रूप में हमारे सम्मुख सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन कनिष्क का सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्त्ति लेख, सारनाथ से प्राप्त कुषाणकालीन पालि भाषा में प्राप्त अभिलेख, कलचुरि शासक **कर्ण का सारनाथ अभिलेख** (810 कलचुरि संवत्) एवं कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्ति लेख में कुछ शब्द जैसे–उपाध्याय, आचार्य, अंतेवासी त्रिपिटकाचार्या यह दर्शाते हैं कि वैदिक परिपाटी एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित आचार्य काशी में विद्यमान थे। कुषाणकालीन पालि भाषा में प्राप्त अभिलेख[49] में चार आर्य सत्यों का उल्लेख हुआ है, जो महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से सम्बन्धित है। कलचुरि शासक कर्ण के सारनाथ अभिलेख[50] में धनेश्वर की पत्नी मामका को महायान सम्प्रदाय की परम–उपासिका कहा गया है। उसने ***अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता*** की प्रतिलिपि कराई और भिक्षुओं को दान दिया। इसी क्रम में गाहडवालकालीन कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में कुमारदेवी के द्वारा बौद्ध विहार का निर्माण एवं धर्मचक्रजिन बुद्ध की प्रतिमा का पुनर्संस्कार करवाने का उल्लेख है। बौद्ध विहारों में भिक्षु–भिक्षुणी अध्ययन–अध्यापन का कार्य करते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि काशी में वैदिक अध्ययन–अध्यापन के समान ही बौद्ध–धर्म का भी प्रचार–प्रसार हुआ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काशी के इतिहास को ज्ञात करने के लिए अभिलेख अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए है। अभिलेखों के माध्यम से ही काशी के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पक्षों को प्रस्तुत शोध–पत्र में दर्शाया गया है।

संदर्भ :

---

[1]अथर्ववेद–5/22/14
[2]मोतीचन्द्र, 2010(चतुर्थ संस्करण), काशी का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0–6
[3]जायसवाल, विदुला, 2011, आदिकाशी से वाराणसी तक, दिल्ली, पृ0–2
[4]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–302–305
[5]शतपथ ब्राह्मण, 1/4/1/10-17
[6]हैवेल, ई0वी0,1905, बेनारस द सैक्रेड सिटी, लन्दन, पृ0–141
[7]का0इ0इ0, खण्ड–1,पृ0–116
[8]भारती, अंक–5, पृ0–135
[9]एपि0 इण्डि0, खण्ड–8, पृ0–171
[10]संस्कृति साधना, खण्ड–32, पृ0–258–260

[11]जे0 एफ0,फ्लीट, भारतीय अभिलेख संग्रह(अनुवादक) गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, खण्ड–3,पृ0–66
[12]गुप्त, पी0,एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड–2, पृ0–190
[13]वही,पृ0–157–173
[14]जे0 एफ0,फ्लीट, भारतीय अभिलेख संग्रह(अनुवादक) गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, खण्ड–3,पृ0–286
[15]इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड–14, पृ0–139–140
[16]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–275
[17]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–236
[18]अर्थशास्त्र, 1/13
[19]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–302–305
[20]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–236
[21]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–319–328
[22]उत्तराध्ययनसूत्र, 25–31
[23]एपि0 इण्डि0, खण्ड–8, पृ0–171
[24]जे0 एफ0,फ्लीट, भारतीय अभिलेख संग्रह(अनुवादक) गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, खण्ड–3,पृ0–66
[25]एपि0 इण्डि0, खण्ड–8, पृ0–305–309
[26]जायसवाल, विदुला 2011, आदिकाशी से वाराणसी तक, दिल्ली,पृ0–7
[27]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–319–328
[28]एपि0 इण्डि0, खण्ड–4, पृ0–126–128
[29]इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड–18, पृ0–129–134
[30]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–236
[31]एपि0 इण्डि0, खण्ड–8, पृ0–171
[32]एपि0 इण्डि0, खण्ड–2, पृ0–358–361
[33]एपि0 इण्डि0, खण्ड–4, पृ0–107–109
[34]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–319–328
[35]मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृ0–64
[36]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–59–62
[37]एपि0 इण्डि0 2/1
[38]संस्कृति साधना, खण्ड–32, पृ0–258–260
[39]मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृ0–75–76
[40]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–236
[41]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9, पृ0–319–328
[42]जे0 एफ0,फ्लीट, भारतीय अभिलेख संग्रह(अनुवादक) गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, खण्ड–3,पृ0–66
[43]जे0 एफ0,फ्लीट, भारतीय अभिलेख संग्रह(अनुवादक) गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, खण्ड–3,पृ0–367–369
[44]एपि0 इण्डि0, खण्ड–14, पृ0–192–196
[45]वही।
[46]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–236
[47]एपि0 इण्डि0, खण्ड–14, पृ0–192–196
[48]कृत्यकल्पतरू, ब्रहमचारीकाण्ड, पृ0–266–267
[49]एपि0 इण्डि0, खण्ड–9,, पृ0–291
[50]का0इ0इ0, खण्ड–4 ,पृ0–275

***

''काशी में बौद्ध-धर्म एक आभिलेखिक अध्ययन''

पूजा अर्चना *

भगवान बुद्ध द्वारासारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्तन के उपरान्त उत्तर भारत के गंगा के मैदानी भागों में बौद्ध–धर्म वैदिक कर्मकाण्डों से संघर्ष करते हुए विस्तार से फैला। सारनाथ कायोगदानबौद्ध–धर्म के विस्तार में महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन परिस्थिति मेंयह पावन केन्द्र सम्पूर्ण काशी जनपद के साथ कोसल नरेश महाकोसल के आधिपत्य में था।[1]महाकोसल ने अपनी कन्या का विवाह मगध नरेश बिम्बिसार (543–493 ई०पू०) के साथ करके काशी ग्राम जिसकी आय एक लाख वार्षिक थी, अपनी कन्या को महाचुण्णमूल (दहेज) में उसके शृंगार–स्वरूप दे दिया।[2]प्रारम्भ में ही सारनाथ को शासन की तरफ से महत्त्व मिलने लगा था, इसका प्रमुख कारण राजा बिम्बिसार का भगवान बुद्ध का अनुयायी होना था। प्राचीन भारतीय इतिहास में बौद्ध–धर्म की गतिविधियों को प्रभावित करने वाले साम्राज्यों में मौर्य, शुंग, कुषाण, गुप्त, वर्धन, पाल, कलचुरि एवं गाहडवाल साम्राज्य प्रमुख रहे। इन्हीं राजवंशों को आधार बनाकर प्रस्तुत शोध–पत्र में काशी में बौद्ध–धर्म की गतिविधियों को अभिलेखों के माध्यम से अवलोकित करने का प्रयास किया गया है, जो इस प्रकार है–

सारनाथ से मौर्यकालीन विविध अवशेष मिले है, जिनसे ज्ञात होता है कि अशोक के काल में सारनाथ (इसिपत्तन) की अत्यन्त उन्नति हुई और यहाँ भिक्षु–भिक्षुणियों के संघ स्थापित हो गये। सारनाथ से प्राप्तअशोक के 'स्तम्भोंत्कीर्ण लेख'[3] जिसे 'संघ भेद लेख' भी कहा जाता है, में राजा का शासन–पत्र अंकित है। 'सारनाथ स्तम्भ लेख'[4]से सूचित होता है कि अशोक का उद्देश्य संघ में बढ़ती हुई विग्रह भावना व अनुशासन हीनता को रोकना था। शासन पत्र में उल्लिखित है कि ''जो कोई भी संघ में विग्रह उत्पन्न करेगा, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निष्कासित कर दिया जाएगा।'' सारनाथ में प्रतिमास पूर्णिमा के दिन बौद्ध–धर्म के अनुयायी भिन्न–भिन्न स्थानों से आकर एकत्र होते थे। राजाज्ञा के अनुसार धर्म महामात्य उन्हें सन्मार्ग बताते हुए यह स्मरण दिलाते थे कि धर्म एवं कर्म में किसी भी प्रकार की विषमता उत्पन्न न की जाये। स्तम्भ लेख से अनुमानित होता है कि अशोक के शासन काल में सारनाथ में बौद्ध–भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ अधिक संख्या में निवास करते थे।

राजघाट की खुदाई से मिले साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि काशी पर शुंगों का शासन था। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित शुंगों को बौद्ध–धर्म का कट्टर विरोधी बताया जाना दुष्प्रचार प्रतीत होता है जिसे ब्राह्मण मतावलम्बियों ने

---

* शोध छात्रा, प्रा. भा. इ. सं. एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भी अपने स्वार्थ वश प्रचारित किया होगा, क्योंकि शुंगों का ब्राह्मण कट्टरपंथी होने का प्रमाण अन्य किसी साक्ष्य से नहीं मिलता। विभिन्न क्षेत्रों में बौद्ध केन्द्रों में हुए बौद्ध–कला एवं निर्माण सम्बन्धी कार्य इस तथ्य के प्रमाण है कि शुंग शासक इतने निम्न–स्तर तक नहीं पहुँचे थे जो तत्कालीन समय के सबसे लोकप्रिय एवं सामान्य जन के बौद्ध–धर्म को बुरी तरह आहत करते। सारनाथ में एक वेदिका का निर्माणशुंग काल में कराया गया, जिसके कुछ अवशेष सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है। हारग्रीब्स[5] के अनुसार शुंग काल की अनेक कलात्मक वस्तुएँसारनाथ से प्राप्त हुई है। प्राप्त अवशेषों के आधार पर अनुमानित किया जा सकता है कि शुंगों के काल में सारनाथ में बौद्ध–धर्म का विकास मौर्य काल की भाँति भले ही क्रान्तिकारी ढंग से नहीं हुआ, परन्तु इसे सतत् विकास अवश्य माना जा सकता है।

काशी–क्षेत्र पर ईस्वी सन् की प्रथम सदी के अन्त में कुषाण वंश का आधिपत्य स्थापित हो गया। वाराणसी से कुषाण शासक विमकडफिसेज की मुद्राएँ प्राप्त हुई है।[6]तदुपरान्त कनिष्क राजा हुआ, जो एक धर्मसहिष्णु शासक था। 'कुषाणकालीन सारनाथ से मिले लेख'[7] से ज्ञात होता है कि कनिष्क के तीसरे राज्यवर्ष के पहले अर्थात् 81ई० से पूर्व इसका अधिकार वाराणसी पर था। ये लेख मथुरा से प्राप्तभिक्षु बल द्वारा बनवाई गई बोधिसत्त्व प्रतिमा पर है। लेख का अभिप्राय है कि महाराज कनिष्क के तृतीय राज्य संवत्सर में त्रिपिटज्ञ भिक्षु बल ने बोधिसत्त्व की प्रतिमा एवं यक्ष मूर्त्ति की वाराणसी में उसी जगह स्थापना की जहाँ भगवान् बुद्ध मृगदाव (सारनाथ) यात्रा के दौरान् चंक्रमण करते थे। इस प्रतिमा की स्थापना का उद्देश्य भिक्षु बल के माता–पिता, उपाध्याय, आचार्य, अन्तेवासी त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा, क्षत्रप वनस्फर और महाक्षत्रप खरपल्लाण एवं चतुर्परिषद् के साथ सभी वर्णों का हित–सुख था।[8] दूसरे लेख से जो प्रतिमा के पीठ पर है, से ज्ञात होता है कि भिक्षु बल ने महाक्षत्रप खरपल्लाण और क्षत्रप वनस्पर की सहायता से इस प्रतिमा का निर्माण करवाया। इस प्रकार कुषाण काल में बौद्ध–धर्म की व्यापक प्रगतिसारनाथ में हुई। 'सारनाथ बोधिसत्त्व प्रतिमा लेख' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ त्रिपिटकों का अध्ययन होता था। भिक्षु बल स्वयं त्रिपिटज्ञ थे, बुद्धमित्रा भी त्रिपिटकाचार्या थीं। सारनाथ के विहार में बौद्ध–धर्म के पठन–पाठन मेंआचार्य, उपाध्याय एवं अन्तेवासी भी लीन रहते थे। राजघाट की खुदाई से प्राप्त एक मुद्रा पर 'भिसक विहारे थेरस भिक्षु संघस' शब्द अंकित है।[9] इससे प्रतीत होता है कि इस काल में 'भिषग् विहार' नाम का बौद्धों का एक विहारसारनाथ में था। राजघाट (वाराणसी) से मिली कुछ अन्य मुद्राओं से भी वाराणसी में बौद्ध–धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। एक मुद्रा पर 'भगवतो सितस' लेख अंकित है। दूसरी मुद्रा पर कुषाण लिपि में 'बुद्धस्य' लेख दो लक्षणों के बीच में है। दाहिनी ओर चक्र शीर्षक वाला स्तम्भ और बायीं ओर सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्तन की घटना लोगों को स्मरणीय थी और बुद्ध के आदरणार्थ

भक्तगण ऐसी मुद्रा वहाँ चढ़ाते थे।[10] सारनाथ से मिले एक पत्थर के छत्र के टुकड़े पर भगवान बुद्ध द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन के समय के उपदेश चार आर्य सत्य उत्कीर्ण हैं।[11] लेख की लिपि अंतिम कुषाण काल की हैं। अभिलेख के विषय में स्टेनकोनोव कहते है कि यह उत्तर–भारत से प्राप्त पालि का एकमात्र लेख है और इससे ज्ञात होता है कि पालि–त्रिपिटक का तत्त्कालीन समय में अस्तित्व था जिसे काशी के लोग समझते थे एवं अध्ययन करते थे।उत्तर–भारत में गुप्त साम्राज्य की स्थापनाचौथी शताब्दी के प्रथम भाग में श्रीगुप्त द्वारा की गई। प्रारम्भ सेही काशी क्षेत्र को गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।

सारनाथ और मथुरा की बौद्ध–कला इसी युग की देन है। चूँकि गुप्तों का मुख्य क्षेत्र पूर्वी उत्तर–प्रदेश का क्षेत्र ही था, इसीलिए इनके द्वारा काशी एवं कौशाम्बी क्षेत्र को एक लम्बी अवधि तक राजनीतिक स्थिरता के साथ–साथ सांस्कृतिक समृद्धि भी मिली।

सारनाथ से प्राप्तगुप्तकालीन बौद्ध–मूर्त्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि बोधिसत्त्वों की पूजा यहाँ बढ़ रही थी। महायान ने अपने सम्प्रदाय में अन्य हिन्दू देवी–देवताओं को लेकरकुषाण युग में अपने को उत्कर्षित करने का प्रयास किया। मैत्रेय एवं अवलोकितेश्वर की इस युग की अनेक मूर्तियाँ सारनाथ से मिली हैं। पद्मपाणि, तारा, प्रज्ञापारमिता और दूसरे महायानी देवी–देवताओं की पूजा भी इस युग में बढ़ी। कुमारगुप्त द्वितीय के 'सारनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख वर्ष 154'[12] में भगवान बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना का भी उल्लेख हुआ है, जो अप्रतिम गुणों से सम्पन्न थी। इसे बौद्ध–भिक्षु अभयमित्र ने अपने माता–पिता, गुरुजनों के पुण्यार्जन तथा अपनी संतुष्टि के लिए निर्मित करवाया था।

स्कन्दगुप्त के समय में भी वाराणसी गुप्त–साम्राज्य के अन्तर्गत थी, इसके स्पष्ट प्रमाण राजघाट से प्राप्त मुद्राएँ है। इसके पश्चात् के गुप्त शासक अत्यन्त दुर्बल सिद्ध हुए। उसका सहोदर पुरुगुप्त गद्दी पर बैठा जो एक बौद्ध शासक था। परन्तु इसके काल में सारनाथ में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ इसके बाद के वर्षों में जो शासक गद्दी पर बैठे उनमें बुद्धगुप्त भी एक था, जो एक बौद्ध धर्मावलम्बी शासक था।

काशी परछठीं शताब्दी के मध्य में कन्नौज के मौखारियों का राज्यस्थापित हो चुका था।[13]कन्नौज में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के उपरान्त मौखरियों ने अपना राज्य–विस्तार पूर्व की ओर प्रारम्भ किया। इस दिशा में कौशाम्बी, काशी का गंगा के मैदान का बृहद उपजाऊ क्षेत्र पड़ता था, जिस पर मगध के मागध–गुप्तों की भी दृष्टि थी। परिणामतः दोनों के मध्य लम्बे समय तक संघर्ष चला। इस संघर्ष को अन्ततः हर्षवर्धन ने ही विराम दिया। हर्षवर्धन (606 से 647 ई०) का शासन उत्तर एवं पूर्वी भारत के विस्तृत भाग पर था, इसके अन्तर्गत काशी भी सम्मिलित थी। हर्ष के शासन काल में महान् चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया। इसका विवरण समकालीन

जिज्ञासा, ISSN 0974-7648, वाल्यूम 13, नं. III, मार्च 2019

बौद्ध–धर्म की गतिविधियों का एक अमूल्य मूल्यांकन है। ह्वेनसांग स्वयं सारनाथ (वाराणसी) में आया था।[14] इसने सारनाथ में बौद्ध–धर्म की समृद्धि का विवरण अपने यात्रा–विवरण दिया है।

पूर्व मध्यकाल में हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त ही उत्तर–भारत में हिन्दू प्रभुत्त्व का अवसान प्रारम्भ हो गया। इस उथल–पुथल के कारण भी सारनाथ में धार्मिक गतिविधियों में कोई विशेष कमी नहीं आई। प्रतिहारों के पश्चात् इस पर बंगाल–बिहार के पालों का आधिपत्य हो गया। पाल शासक बौद्ध मतावलम्बी थे। अतः उन्होंने सारनाथ में अनेक बौद्ध विहार बनवाये एवं लेख उत्कीर्ण करवाया। इस प्रसंग मेंसारनाथ से प्राप्त स्थिरपाल एवं बसन्तपाल का 1026 ई० का लेख उल्लेखनीय है। इसे 'महीपाल का सारनाथ लेख' भी कहा जाता है।[15] यह लेख एक मूर्त्ति की पीठ पर है। लेख में वर्णित है कि– गौडाधिपति महीपाल की आज्ञा से स्थिरपाल एवं उसके छोटे भाई वसन्तपाल ने धर्मराजिका स्तूप तथा धर्मचक्र विहार की मरम्मत करवायी और अष्टमहास्थान गन्धकुटी नाम के एक नये मंदिर की स्थापना की। अतः कहा जा सकता है कि पालों के काल में काशी के सारनाथ में बौद्ध धर्म की गतिविधियाँ सक्रिय थीं।

11वीं सदी में कलचुरियों का काशी पर शासन था। 'कलचुरि शासक कर्णदेव के सारनाथ से मिले 1058 ई० के लेख'[16]से ज्ञात होता है कि 1058 ई० तक सारनाथ में 'सद्धर्मचक्रविहार' नाम का एक विहार था। लेख से यह भी पता चलता है कि इसमें आने वाले भक्तगण महायानी थे, क्योंकि इसमें महायानियों के धार्मिक ग्रन्थ 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' की नकल करने की बात कही गई है। इस लेख और सारनाथ से मिली अनेक मूर्त्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय सारनाथ में महायानियों का वर्चस्व था।

कर्ण के पश्चात् चन्देल राजा कीर्तिवर्मा का यहाँ स्थापित हुआ। परन्तु इसके शासन के कुछ ही वर्षो पश्चात् गंगा–यमुना के दोआब में एक नई राज्य शक्ति का उदय हुआ, जिसने १०६० ई० के करीब काशी से लेकर कन्नौज तक अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये काशी के गाहडवाल थे।[17] गाहडवालों ने न केवल भयानक अराजकता से उत्तर–प्रदेश की रक्षा की वरन् करीब १०० वर्षों तक इसे भारतवर्ष की अग्रणी राज्य बनाए रखा। गाहडवालों की सांस्कृतिक राजधानी काशी ही थी।[18]मुस्लिम इतिहासकारों ने भी गाहडवालोंको काशी का राजा स्वीकृत किया है, इसका प्रमुख कारण यह भी है कि काशी क्षेत्र से इनके अधिकांश अभिलेख प्राप्त हुए हैं।[19]गाहड़वाल शासक स्वयं वैष्णव थे परन्तु उन्होंने अपनी धर्म–सहिष्णुता के कारण बौद्ध–धर्म को काफी प्रश्रय दिया जिसके परिणामस्वरूप मुस्लिम काल की विनाश लीला से ठीक पूर्व बौद्ध–धर्म एक बार पुनः जनसामान्य के मध्य पहुँचता प्रतीत हुआ।वाराणसी गोविन्दचन्द्र के समय में बौद्ध–विहारों के लिए प्रसिद्ध थी। गोविन्दचन्द्र की पत्नी कुमारदेवी का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर

था।'कुमारदेवी के सारनाथ लेख'[20]से ज्ञात होता है कि जंबुई पत्तलिका (आधुनिक जमुई) के लोगों ने कुमारदेवी से धर्मचक्रजिन विहार की मरम्मत के लिए आग्रह किया था और इसे स्वीकार कर कुमारदेवी ने सारनाथ के बौद्ध–मंदिरों की मरम्मत करवाई। इस घटना से तत्कालीन वाराणसी के लोगों में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा एवं जागरूकता का पता चलता है। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र राजा हुआ। विजयचन्द्र ने ही ११६८ ई० में जयचन्द्र को युवराज नियुक्त किया जो उसकी मृत्यु के बाद ११७० ई० में राजा बना। बोधगया से प्राप्त अभिलेख में जगन्मित्रा नन्द द्वारा जयचन्द्र को बौद्ध–धर्म में दीक्षित करने का उल्लेख आया है। संभवतः इसी कारण जयचन्द्र को बुद्ध एवं बौद्ध–विहारों के प्रति श्रद्धा थी।

सारनाथ से प्राप्त एक मुद्रा से भी यह ज्ञात होता है कि धर्मेक्षा स्तूप को, जिसको मुद्रा में 'धमांक'[21] कहा गया है, लोग बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे और इसकी पूजा करते थे। कुमारदेवी निर्मित विहार में एक सुरंग का होना इस तथ्य का सूचक है कि उस काल में विहारों में दुराचार काफी बढ़ गया था। जो भी हो यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि गाहड़वाल शासक वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण बौद्ध–धर्म को विशेष संरक्षण न दे सके, फलस्वरूप बौद्ध–धर्म यथावत् बना रहा।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि अशोक के शासन काल में बौद्ध–धर्म का विकास काशी (सारनाथ) में चरमोत्कर्ष में था। शुंग काल में इसका प्रभाव कम देखने को मिलता है, क्योंकि शुंगो के समय पुनः ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व स्थापित हुआ। आगे चलकर कुषाण शासकों द्वारा बौद्ध–धर्म में (महायान सम्प्रदाय) का अत्यधिक विकास हुआ क्योंकि कुषाण शासक विदेशी थे इसलिए उन्होंने उस समय के धर्म विशेष जो जनता में लोकप्रिय था उसी को प्रश्रय दिया। गुप्तों के शासन काल में वैष्णव धर्म का चरमोत्कर्ष होने के फलस्वरूप बौद्ध–धर्म का प्रभाव कम देखने को मिलता है। सारनाथ में इनके कुछ अभिलेख देखने को मिलते हैं। परवर्ती गुप्त शासकों द्वारा बौद्ध–धर्म के विकास में योगदान दिया गया। इसके बाद पूर्व मध्यकाल के कुछ अभिलेख जिनमें महीपाल का सारनाथ अभिलेख, कर्ण सारनाथ अभिलेख, कुमारदेवी का सारनाथ अभिलेख विशेष उल्लेखनीय है जो बौद्ध–धर्म की प्रगति में सहायक है।

इस प्रकार मौर्य काल से लेकरगाहडवाल काल तक की लम्बी ऐतिहासिक अवधि में काशी में बौद्ध–धर्म की गतिविधियाँ सदैव जीवन्त एवं सृजनात्मक रही। वस्तुतः इस अवधि में बौद्ध–धर्म और काशी ने एक दूसरे को बहुत अधिक प्रभावित किया, जिसे इस शोध–पत्र में अभिलेखों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ :

[1]मोतीचन्द्र, 2010, काशी का इतिहास, चतुर्थ संस्करण, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ0—4
[2]वही।
[3]का.इ.इ.,खण्ड—अ, सारनाथ लघु स्तम्भ लेख, पृ—116
[4]वही।
[5]सिंह,शशिभूषण, 2011, बौद्ध धर्म को काशी की देन, सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ—47
[6]मोतीचन्द्र, पूर्वोद्धृत, पृ—53
[7]एपी0 इण्डि0, खण्ड—8, पृ0—171
[8]वही।
[9]पाण्डेय,उमा,1980, भारत के सांस्कृतिक केन्द्रःवाराणसी, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि0, नई दिल्ली, पृ0—26—27
[10]मोतीचन्द्र, वही, पृ0—60
[11]एपि0 इण्डि0, खण्ड—8, पृ0—171
[12]गुप्त, पी0,एल0 ,2013, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, खण्ड—2, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ0—87
[13]मोतीचन्द्र, वही, पृ0—80
[14]वही, पृ0—80—81
[15]इण्डियन एण्टीक्वेरी, खण्ड—14, पृ0—139
[16]का0इ0इ0, खण्ड—4,(सं0) वी.वी. मिराशी, पृ0—139
[17]पाठक, विशुद्धानन्द,1990, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण, लखनऊ, पृ0—345—346
[18]वही।
[19]वही।
[20]एपी0 इण्डि0,खण्ड—9, पृ0—319—328
[21]दत्त,एन एवं के0 डी0 वाजपेयी,1956, उत्तर—प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, प्रकाशन ब्यूरो, उ0प्र0 सरकार, लखनऊ, पृ0—251.

***

काशी-क्षेत्र से प्राप्त अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्त्व

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की
डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

विभागाध्यक्ष
प्रो० ओंकार नाथ सिंह

शोध निर्देशिका
प्रो० मीना लाल

शोध छात्रा
पूजा अर्चना

उच्चानुशीलन केन्द्र
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

पंजीयन सं०-314405
वर्ष : 2021
पंजीकरण सं०-AIHC&Arch/RES/sept.2015/912

उपसंहार

उपसंहार

प्राचीन काशी के इतिहास के अध्ययन की प्रामाणिक एवं प्रमुख सामग्रियों में से अभिलेख विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। अभिलेख ही वह माध्यम हैं जो प्राचीन काशी के इतिहास के राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि संदर्भों को स्वयं में समाहित किए हुए हैं।

काशी विश्व के अति प्राचीन नगरों में एक है, जिसकी सातत्यता ,अखण्डता, प्राचीनता एवं धार्मिकता समादरता त्रिसहस्राधिक वर्षों से अक्षुण्ण है। साहित्यिक परम्परा में काशी की प्राचीनता उत्तरवैदिक साहित्य में उल्लिखित अथर्ववेद के *पैप्पलाद शाखा* तक जाती है। किन्तु राजघाट (काशी) से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष इसकी प्राचीनता *800 ई0पू0* तक ले जाते हैं। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल (600 ई0पू0 से पूर्व) में काशी एक महाजनपद के रूप में समकालीन अन्य महाजनपदों में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर चुकी थी। महात्मा बुद्ध के यहाँ पर आगमन, प्रथम धर्मचक्रप्रर्वतन से इस नगर की प्रतिष्ठा धार्मिक केन्द्र के रूप में हुई। साहित्यिक साक्ष्यों विशेषकर जातक ग्रंथों में काशी का सुविस्तृत उल्लेख हुआ है, जिससे काशी के राजनीतिक, एवं सांस्कृतिक पक्षों को ज्ञात किया जा सकता है। *जातकों से यह विदित होता है कि काशी का विस्तार 300 योजन तक था, जिसके उत्तर में कोशल, पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स तथा दक्षिण में विन्ध्य पर्वत विद्यमान था।* किन्तु अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता हैं कि काशी-क्षेत्र का विस्तार *गाजीपुर, जौनपुर, मिर्जापुर, चंदौली एवं बिहार के भभुआ* तक परिसीमित था। काशी से प्राप्त अभिलेखों में मौर्यकाल से लेकर गाहडवाल शासकों की उपलब्धियों के साथ सांस्कृतिक पक्षों का वर्णन हुआ है।

काशी से प्राप्त 75 महत्त्वपूर्ण अभिलेखों में *मौर्यकालीन ब्राह्मी* से *नागरी लिपि* प्रयुक्त है, जिसमें *शक संवत्, गुप्त संवत्, विक्रम् संवत्,* एवं *कलचुरि संवत्* का उल्लेख है। अभिलखों का वर्गीकरण, प्राप्ति स्थल, लेखन हेतु प्रयुक्त उपादान एवं विषयवस्तु

आदि अध्ययन के महत्त्वपूर्ण सहायक बिन्दु हैं। काशी से प्राप्त अभिलेखों में प्रस्तर एवं विशेष रूप से ताम्रपत्रों का प्रयोग हुआ है, तदुपरान्त अभिलेखों पर टिप्पणी प्रस्तुत की गई है। जिसमें अभिलेखों को काशी से संपृक्त करते हुए शासक की व्यक्तिगत् उपलब्धियों के साथ पूर्त कार्यों एवं दानात्मक प्रक्रिया का विवरण है।

वस्तुतः अभिलेख पुरातत्त्व एवं साहित्य के बीच सेतु का कार्य करते हैं। साहित्यिक विवरण में काशी के विविध नाम यथा; *पुष्पवती, रम्यनगर, सुदर्शन, कासीपुर, बारानसी, ब्रह्मवर्धन, महाश्मशान* एवं *जित्वरी* आदि सुस्पष्ट है। प्रायः काशी अथवा वाराणसी का उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों (वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, महाकाव्यों, जैन ग्रंथों, बौद्ध ग्रंथों) से तो ज्ञात होता है, किन्तु भौगोलिक स्थिति एवं सीमा विस्तार का विवरण स्पष्ट नहीं है।

काशी के प्राकृतिक भूगोल के अन्तर्गत नदी, जलवायु, मिट्टी, वनस्पति, जीव-जन्तु, पर्वत, आदि का अध्ययन करते हुए भौगोलिक परिस्थिति को ज्ञात करने का यथासंभव प्रयत्न हुआ है। भौगोलिक स्थिति एवं सीमा विस्तार के अध्ययन में *गाहडवाल अभिलेख* विशेष सहायक सिद्ध हुए हैं। इन अभिलेखों में तीर्थ के रूप में काशी, गंगा नदी, वरुणा नदी, आदिकेशव घाट, कपालमोचन घाट आदि का उल्लेख है। कतिपय गाहडवाल अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी के उत्तर एवं गंगा के समीप स्थित आदिकेशव घाट को तत्कालीन वाराणसी का एक भाग समझा जाता था। आदिकेशव घाट गंगा-वरणा संगम पर गंगा के बाँए किनारे पर अवस्थित था। वाराणसी की दक्षिणी सीमा इस समय कम से कम गंगा एवं अस्सी के समीप स्थित लोलार्ककुण्ड तक फैल चुकी थी, जहाँ लोलार्कदित्य मंदिर विद्यमान है। *उक्तिव्यक्तिप्रकरण* से भी यह ज्ञात होता है कि 11वीं-12वीं शती ई0 में गंगा के बाँए किनारे पर नगर (वाराणसी) घनी आबादी के साथ बस चुका थी। साथ ही इन अभिलेखों से आम, महुआ वृक्षों का उल्लेख मिलता है, जिससे यह सूचित होता है कि काशी के भौगोलिक सीमा में विविध

नदियों, पर्वतों, वनस्पति एवं अन्य जीव-जन्तुओं का योगदान रहा। काशी की भौगोलिक सम्पदा एवं समृद्धि के कारण इसकी संस्कृति सदैव जीवन्त रही, फलतः विविध राजवंश के शासकों ने यहाँ अपना राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन किया।

वस्तुतः देखा जाए तो काशी के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ शतपथ ब्राह्मण के समय से ही हो चुका था, जिसमें आर्यों को पूर्वी भारत के आगमन से निर्धारित किया जा सकता है। हैवेल ने *'कासिस'* नामक जनजाति के आधार पर काशी की उत्पत्ति को बताते हुए यह बताया कि यह जनजाति गंगा की पूर्वी घाटी की ओर स्थानान्तरित होते हुए आधुनिक वाराणसी नगर के आस-पास के क्षेत्रों में आकर बस गई, जो कालान्तर में काशी कहलाई। तृतीय शताब्दी ई0पू0 से लेकर बारहवीं शती ई0 तक अभिलेखों एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के माध्यम से काशी के राजनीतिक विस्तार का उन्नयन हुआ। इन अभिलेखों में शासक एवं उसकी उपलब्धियों के विवरण के साथ-साथ काशी का उल्लेख हुआ है। मौर्य काल में सारनाथ अत्यन्त उन्नत अवस्था में था, जिसकी पुष्टि यहाँ से प्राप्त अभिलेख एवं अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्य करते हैं। *अहरौरा लघु शिलालेख* एवं *सारनाथ लघुस्तम्भ लेखों* में अशोक का नाम, उपाधि एवं उसके धार्मिक कृत्यों का विवरण है। इन क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेख मौर्य साम्राज्य का विस्तार दर्शाते हैं। कुषाणकालीन सारनाथ *बोधिसत्त्व मूर्ति अभिलेख* में कनिष्क की उपाधियों के साथ क्षत्रप वनस्पर एवं महाक्षत्रप खरपल्लान का उल्लेख है जो वाराणसी का शासन संभालते थे। गुप्त-साम्राज्य पर नवीन शोधों से यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त- शासकों का मूल निवास-स्थान पूर्वी उत्तर-प्रदेश में था एवं काशी से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित रहा। *श्रीराम गोयल* ने यह मत प्रकट किया है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश से प्रारम्भिक गुप्त-सम्राटों के अधिकांश अभिलेख एवं मुद्रानिधि प्राप्त होने के कारण उनका राज्य संभवतः इसी क्षेत्र में रहा होगा। काशी-क्षेत्र से गुप्त शासकों के महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिले हैं, जो यह दर्शाते हैं कि काशी पर गुप्तों का आधिपत्य था। काशी-क्षेत्र के अन्य स्थलों यथा; सारनाथ, राजघाट एवं भीतरी से गुप्त

शासकों के अभिलेखों की प्राप्ति हुई है। यहाँ से प्राप्त अभिलेखों में शासकों की व्यक्तिगत् उपलब्धियों के साथ अभिलेख निर्माण की परम्परा का उल्लेख हुआ है। जिससे यह ज्ञात किया जा सकता है कि गुप्तों के शासनकाल में काशी का राजनीतिक विस्तार हुआ। गुप्तों के पश्चात् काशी हर्ष के शासनकाल में सम्मिलित हुई। ह्वेनसांग ने हर्ष के शासन में सारनाथ एवं वाराणसी का चित्रण प्रस्तुत करते हुए इसे एक समृद्ध नगर बताया है। हाँलांकि सारनाथ से कोई आभिलेखिक साक्ष्य प्राप्त नहीं होते किन्तु अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों से सूचनाएँ ज्ञात होती हैं। हर्ष के पश्चात् काशी पर प्रकटादित्य का शासन हुआ। जिसकी पुष्टि प्रकटादित्य के सारनाथ अभिलेख से होती है। इसमें उन्हें काशी का स्थानीय शासक कहा गया है। आठवीं शताब्दी ई0 में उत्तर भारत का सबसे प्रतापी राजा पालवंशीय शासक धर्मपाल हुआ। धर्मपाल की मृत्यु 794 और 832 ईस्वी के बीच हुई। धर्मपाल के पश्चात् उसका पुत्र देवपाल शासक हुआ। उसके राज्य का विस्तार मालवा तक था। किन्तु काशी पर पालों का आधिपत्य अधिक दिनों तक नहीं रह सका। प्रतिहारों के बढ़ते हुए विजय-पराक्रम से पाटलिपुत्र की सत्ता क्षीण होने लगी और लगभग 850 ई0 के करीब प्रतिहारों के हाथों में काशी आ गई। अपनी सैनिक योग्यता बढ़ाते हुए पालवंशीय शासक महीपाल (988-1038) ने राजनीतिक कुशलता से पाल सत्ता को चमका दिया। उसके राजनीतिक प्रभाव के सूचक अनेक अभिलेख दृष्टिगत् होते हैं, जो दक्षिणी और पूर्वी बंगाल से वाराणसी (काशी) तक विस्तृत हैं। *महीपाल का सारनाथ (वाराणसी) से एक अभिलेख* प्राप्त हुआ है, जिसमें महीपाल की उपलब्धियों का विवरण है। पाल वंश के पश्चात् कलचुरियों का काशी पर प्रभाव रहा। कलचुरि शासक कर्ण के दो अभिलेख काशी के *सारनाथ एवं राजघाट* से प्राप्त हुए, जो उनकी राजनीतिक प्रभुत्त्व के सूचक हैं। कर्ण की मृत्यु के 20 वर्ष पश्चात् गंगा-यमुना के दोआब में अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गई, इसी परिस्थिति में एक नई राज्य शक्ति का उत्थान प्रारम्भ हुआ जिसने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए कन्नौज एवं काशी पर अपना

आधिपत्य जमाये रखा। *डॉ0 मोतीचन्द्र* के मतानुसार ये कोई अन्य शक्ति नहीं, अपितु काशी के शासक गाहडवाल थे। काशी को प्रमुख रूप से राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रसिद्धि गाहडवालों के काल में मिली। अभिलेखों में गाहडवालों को सूर्यवंशीय अथवा चन्द्रवंशीय न कहकर केवल *'क्षत्रिय'* सम्बोधित किया गया है। *'ग्रहवार'* अथवा *'गिरिगह्वर'* शब्द से ही गाहडवाल शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। गाहडवाल वंश का प्रथम वास्तविक शासक चन्द्रदेव हुआ। इसके तीन ताम्रपत्र *चन्द्रावती* से प्राप्त हुए हैं, जिसमें गाहडवाल वंशावली के साथ चन्द्रदेव की उपलब्धियाँ, उसके द्वारा प्रदत्त दान का विवरण एवं काशी का वर्णन है। मदनपाल नामक शासक जिसका समय 1104 से 1114 ई0 तक है, चन्द्रदेव का पुत्र था। अभिलेखों में मदनपाल को *'मदनदेव'* एवं *'मदनचन्द्र'* के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसके समय का एक ताम्रपत्र काशी से प्राप्त हुआ है। महाराजाधिराज के रूप में अपने पिता के समय में राज्य के सभी कार्यों का दायित्त्व गोविन्दचन्द्र के हाथों में था। गोविन्दचन्द्र अपनी माताओं (राल्हण देवी एवं पृथ्वी श्री) के नाम पर दान पत्र जारी करते थे। गाहडवाल वंश का प्रभुत्त्व गोविन्दचन्द्र के समय में हुआ। *गोविन्दचन्द्र के 28 ताम्रपत्र कमौली से प्राप्त हुए हैं।* जिससे यह अनुमानित होता है कि काशी गाहडवालों की सांस्कृतिक राजधानी थी। मुसलमानों का धावा गोविन्दचन्द्र के शासन काल की प्रमुख घटना है। *कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख* में तुर्कों से काशी की रक्षा के लिए गोविन्दचन्द्र को विष्णु के समान बताया गया है। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र, जयचन्द्र एवं हरिश्चन्द्र काशी के शासक हुए। गाहडवालों का साम्राज्य हरिश्चन्द्र के बाद तक भी चला, ऐसा उल्लेख *रणक विजयकर्ण के मिर्जापुर के लेख* से ज्ञात होता है। यह हरिश्चन्द्र के अधीन सामन्तीय शासक था। हरिश्चन्द्र के पश्चात् उसके किसी उत्तराधिकारी अथवा गाहडवालों की मुख्य शाखा के किसी राजा के विषय में कोई सूचना ज्ञात नहीं होती। फिर भी ऐसा अनुमानित होता है

कि उनके द्वारा नियुक्त उनके वंशज स्थानीय शासक के रूप में कुछ वर्षों तक शासन करते रहे।

प्रशासनिक-व्यवस्था के अन्तर्गत मौर्य काल से लेकर गाहडवाल काल तक के अभिलेखों में काशी के प्रशासनिक व्यवस्था की परियोजना प्रस्तुत की गई है। अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि *काशी में प्रायः राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था थी*। राजा राज्य का प्रमुख होता था। सप्तांग सिद्धान्त *(राजा, मंत्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दंड एवं मित्र)* के अन्तर्गत काशी राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था संचालित होती रही होगी। यद्यपि राजा निरंकुश नहीं था। उसकी सहायता हेतु अनेक अमात्य एवं मंत्रिपरिषद होते थे, जो राजा को विभिन्न प्रकार के कार्यों में सहयोग करते थे। शासन तंत्र अनेक विभागों में विभाजित था। काशी की प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय शासन-व्यवस्था द्वारा संचालित होती थी, जिसके प्रमुख उदाहरण यहाँ से प्राप्त अभिलेख एवं साहित्यिक विवरण हैं। वस्तुतः जो प्रशासनिक व्यवस्था मौर्यकाल में निर्धारित की गई थी, उसी के आधार पर विविध राजवंशों ने उसमें थोड़े-बहुत परिवर्तन कर शासन स्थापित किया। मौर्यकाल में *'महामात्र'* एक प्रशासनिक अधिकारी था, जिसकी पुष्टि सारनाथ अभिलेख से होती है। ये महामात्र कौन थे? यह प्रश्न स्वाभाविक है। अभिलेखों से यह विदित होता है कि इन महामात्रों की कई कोटियाँ थी। कुछ महामात्र प्रशासन के उच्च पदों से सम्बन्धित थे और कुछ विभिन्न विभागों के अधिकारी थे, जैसे सारनाथ एवं कौशाम्बी के महामात्र। मौर्यकालीन प्रशासनिक-व्यवस्था के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि मौर्य कालीन अफसर अपने कार्य संपादन के लिए यात्रा करते थे, जिसकी पुष्टि *अहरौरा लघु शिलालेख* से होती है। अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मौर्य सम्राट अशोक ने स्थानीय महामात्रों को अपने क्षेत्राधिकार के अंत तक यात्रा करने का आदेश दिया। मौर्यों ने जो शासन तंत्र स्थापित किया, वह कुषाणों एवं गुप्तों के राजनीतिक संगठन में सहायक हुआ। गुप्तवंशीय शासक दैवीय उत्पत्ति में विश्वास करते हुए *महाराजाधिराज,*

परमभट्टारक, एकराट, परमेश्वर जैसी विस्तृत उपाधियों को धारण करते थे, जिसकी पुष्टि अभिलेखों से होती है। प्रशासन का मुख्य स्रोत सम्राट था, जिसके अधिकार और शक्तियाँ असीमित थीं। *स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ लेख* से यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त सभी राजाओं का उन्मूलक, पृथ्वी पर अप्रतिरथ (जिसके समान पृथ्वी पर अन्य कोई न हो); चारों समुद्र के जल से आस्वादित कीर्ति वाले, कुबेर (धनद), वरुण, इन्द्र तथा यम (अन्तक) के समान, कृतान्त के परशु तुल्य अश्वमेध यज्ञकर्त्ता था। स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों के युद्ध के समय स्वयं सेनापति का कार्य संभाला था। सम्राट के द्वारा ही प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी और वे सभी पदाधिकारी सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। सम्राट अपने शासन कार्य में *अमात्यों, मंत्रियों* एवं *अधिकारियों* से सहायता प्राप्त करता था। गुप्तों के पश्चात् हर्ष ने किसी नवीन शासन-प्रणाली को जन्म नहीं दिया, अपितु उसने गुप्त शासन प्रणाली को ही कुछ संशोधन एवं परिवर्तनों के साथ अपना लिया। इसके समय प्रशासनिक व्यवस्था मृदु सिद्धान्तों पर आधारित थी। गाहडवालों की शासन व्यवस्था संघात्मक न होकर *राजतंत्रात्मक* थी। सम्पूर्ण राज्य का संचालन *केन्द्रीय, प्रान्तीय* एवं *स्थानीय शासन-व्यवस्था* द्वारा होता था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त किए गए थे। *राजा* का स्थान केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सर्वोच्च था और उसकी आज्ञा का पालन सभी के लिए अनिवार्य था। प्रशासन सम्बन्धी अनेक प्रकार के कार्य राजा अपने अधिकारी गण यथा; *युवराज, मंत्री, अमात्य, पुरोहित, सेनापति* तथा *भाण्डागारिक* की सहायता से करता था। गाहडवाल अभिलेखों में राजा को विभिन्न उपाधियों से सम्बोधित किया जाता था, जैसे- *परमभट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, त्रयाधिपति, विद्याविचार वाचस्पति, क्षितिपाल, नरपति, गजपति, त्रिशंकुपति,* आदि। इन उपाधियों से उसकी शक्ति एवं सम्प्रभुता का पता चलता है।

सामाजिक इतिहास देश में रहने वाले लोगों के सर्वांगीण-जीवन का चित्रण प्रस्तुत करता है तथा समस्त जन-समुदाय के विभिन्न क्रियाकलापों यथा; *वर्णाश्रम-व्यवस्था, परिवार, संस्कार, विवाह, स्त्रियों की दशा, खान-पान वस्त्र-आभूषण एवं मनोरंजन के साधन* जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। ये सभी तत्त्व समाज के संचालन में सहायक प्रतीत होते हैं। मौर्यकाल से लेकर गाहडवाल काल तक समाज के सभी अवयव वैदिक परम्परा के अनुरूप ही विद्यमान थे। कुछ परिवर्तनों के साथ इनका यथावत् रूप समाज में बना रहा। *अशोक के पाँचवें शिलालेख* में यह उल्लेख है कि महामात्रों की नियुक्ति भिक्षुओं, ब्राह्मणों, इभ्यों (शिष्टजनों), गृहस्थियों, अनाथों तथा धर्मगामियों की सुरक्षा एवं सुख के लिए की गई थी। काशी से प्राप्त कुषाणकालीन *कनिष्क के सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3,* में उपाध्याय (ब्राह्मण), आचार्य एवं चतुर्परिषदों (चार वर्णों) का उल्लेख हुआ है। गुप्तकालीन *स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख* से यह विदित होता है कि स्कन्दगुप्त ने भीतरी में विष्णु की प्रतिमा स्थापित कराने के पश्चात् ग्राम दान दिया। लेख के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि दान ग्रहण करने की परम्परा ब्राह्मण वर्ग में विद्यमान थी। प्रायः काशी से प्राप्त 46 ताम्रपत्रों में ब्राह्मण एवं 9 ताम्रपत्रों में क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख हुआ है, जो समाज में इनकी उच्च स्थिति को दर्शाता है। ब्राह्मणों के प्रमुख 6 कर्त्तव्य थे- यज्ञ-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान एवं प्रतिग्रह। वैश्यों का प्रमुख कार्य व्यापार एवं वाणिज्य था। समकालीन साहित्य कृत्यकल्पतरु में इनका उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण का उल्लेख क्रमशः अभिलेखों में लोहार, सुनार, सूत्रधार आदि के रूप में हुआ है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के उल्लेख के साथ ही गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत विवाह, परिवार एवं अन्य संस्कारों का उल्लेख अभिलेखों में द्रष्टव्य है। विवाह संस्कार का उल्लेख *कुमारदेवी के सारनाथ प्रस्तर पट्ट अभिलेख* में हुआ है। अन्य संस्कारों के अन्तर्गत जातकर्म संस्कार का उल्लेख *जयचन्द्र के कमौली ताम्रपत्र (वि0सं0 1232),* नामकरण संस्कार का उल्लेख *सिहवर*

ताम्रपत्र (वि0सं0 1232) एवं अन्त्येष्टि संस्कार का उल्लेख *कर्ण के बनारस दानपत्र (क0 सं0 793)* में हुआ है, जिसे कर्ण ने अपने पिता गांगेयदेव के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर प्रयाग में स्नान करके, शिव की आराधना के पश्चात् जारी किया था। स्त्री माता, पत्नी, एवं पुत्री के रूप में सदैव से ही आदृत रहीं हैं। काशी में स्त्रियों की दशा सम्मानजनक थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन अभिलेखों में मिलता है। इस क्रम में *कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्ति लेख* एवं गाहडवालकालीन ताम्रपत्र क्रमशः *गोविन्दचन्द्र का बनारस ताम्रपत्र लेख (वि0सं0 1162), गोविन्दचन्द्र एवं उसकी रानी नयनकेलिदेवी का कमौली ताम्रपत्र अभिलेख (वि0सं0 1176)* एवं *कुमारदेवी का सारनाथ प्रस्तर पट्ट लेख* महत्वपूर्ण है, जिसमें त्रिपिटकाचार्या बुद्धमित्रा (कुषाणकालीन) राल्हणदेवी, पृथ्वीश्रीका, नयनकेलिदेवी, गोस्सलदेवी, कुमारदेवी (गाहडवालकालीन) आदि के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने पति एवं पुत्र के साथ प्रत्यक्ष रूप से दान करते हुए दिखाई देती हैं। खान-पान, वस्त्र-आभूषण एवं मनोरंजन के साधन आदि का विवरण राजघाट से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों, जातक ग्रन्थों, एवं उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण से भी मिलता है।

काशी के आर्थिक समृद्धि में सहायक प्रमुख अवयवों जिनमें कृषि, पशुपालन, व्यापार एवं वाणिज्य को सम्मिलित किया गया है। मध्य गंगा घाटी में बसे होने के कारण यहाँ उन्नत किस्म की फसलें एवं प्रचुर मात्रा में खाद्यान प्राप्त होता था। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो मौर्य काल से लेकर कलचुरि वंश के अभिलेखों में अर्थव्यवस्था सम्बन्धी साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते किन्तु गाहडवाल काल में आर्थिक परिदृश्य अभिलेखों में विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। काशी से प्राप्त अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्य एवं साहित्यिक विवरण इसकी पुष्टि करते हैं। काशी में विशेष रूप से उद्योग-धंधे एवं व्यापार-वाणिज्य की प्रचुर उन्नति हुई। वस्त्र उद्योग, चन्दन उद्योग, शिल्प उद्योग एवं बढ़ईगिरी प्रमुख उद्योग थे। काशी प्रारम्भिक अवस्था से ही व्यापार एवं वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र रही है। बौद्ध एवं जैन ग्रंथों से यह सूचना मिलती है कि वाराणसी में श्रेष्ठि एवं सार्थवाहों के समूह विद्यमान थे,

जो व्यापार हेतु प्रसिद्ध थे। आभिलेखिक साक्ष्यों में कृषि, फसल, बाग, वृक्ष, पशु-पालन आदि का उल्लेख प्रमुख रूप से हुआ है। मंदिर निर्माण, अभिलेखों को उत्कीर्ण करवाना भी आर्थिक समृद्धता का सूचक है। कर-व्यवस्था का काशी के आर्थिक समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसका उल्लेख गाहडवाल ताम्रपत्रों में विशेष रूप से हुआ है। इनमें *भाग, भोगकर, हिरण्य, प्रवणिकर, तुरुष्कदण्ड, कुमारगादिआणक, कूटक, यमलिकाम्बलि, जलकर, गोकर, लवणकर, विषयदान, पर्णकर, दशबन्ध, अक्षपटलप्रस्थ, प्रतिहारप्रस्थ, विशतिअठप्रस्थ, वलदी, निधि-निक्षेप, आकर* आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन करों के माध्यम से कोष की आपूर्त्ति होती थी। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न काशी में धर्म का भी प्रभाव था।

काशी विविध मतावलम्बियों की साधना-स्थली रही है। अभिलेखीय साक्ष्यों से यह विदित होता है कि काशी में सनातन धर्म के विविध सम्प्रदायों यथा; *शैव, वैष्णव* और *शाक्त धर्म* के साथ *जैन* एवं *बौद्ध धर्म* का भी प्रभाव रहा। विविध कालों में प्रत्येक धर्म-सम्प्रदायों की प्रभुता बनी रही, जिसे अभिलेखों के आधार पर दर्शाया गया है। मौर्य एवं कुषाण काल में बौद्ध धर्म प्रगति पर था, जिसकी पुष्टि *सारनाथ लघु शिलालेख ,अहरौरा लघु शिलालेख* एवं *कुषाणकालीन बोधिसत्त्व मूर्त्तिलेख* से होती है। वहीं गुप्तों के काल में वैष्णव एवं शैव धर्म की प्रभुता बनी रही। काशी में गुप्त शासकों का काल पौराणिक धर्म एवं उससे सम्बन्धित देवी-देवताओं के पुनर्स्थापना का काल था। काशी का एक अन्य नाम *'अविमुक्त'* भी है। *स्कन्दगुप्त का भीतरी शिलालेख* महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भीतरी ग्राम में विष्णु मंदिर बनवानें का उल्लेख है। सातवीं शताब्दी ई0 के *प्रकटादित्य के सारनाथ लेख* में उसके द्वारा विष्णु (मुरद्विष) नामक मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। काशी में गाहडवाल काल में सनातन धर्म की अत्यन्त प्रगति हुई। विशेष रूप से वैदिक परम्परा का विशेष प्रभाव पड़ा। गाहडवाल शासकों के अभिलेखों में विशेष रूप से *वैष्णव सम्प्रदाय* की चर्चा की गई है। अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि

गाहडवाल शासकों का झुकाव वैष्णव सम्प्रदाय की ओर विशेष रूप से था। विष्णु के अवतार कृष्ण की पूजा करने का विधान *चंद्रदेव के चंद्रावती ताम्रपत्र (वि0 स0 1150)* से ज्ञात होता है। गाहडवाल ताम्रपत्रों में संलग्न *मुहर* विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनमें मानवरूपी गरुड़ का अंकन है, जिसे वैष्णव धर्म के साथ सम्बद्ध किया जाता है। वैष्णव धर्म से सम्बन्धित काशी में गाहडवाल शासकों द्वारा *आदिकेशव मंदिर* एवं *इन्द्रमाधव मंदिर* बनवाने का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है। चन्द्रदेव के *चन्द्रावती ताम्रपत्र (वि0सं0 1150)* से यह ज्ञात होता है कि वाराणसी में गंगा एवं वरुणा के संगम पर आदिकेशव मंदिर के निर्माण हेतु चंद्रदेव के द्वारा अपने वजन के बराबर सोना, चाँदी और अमूल्य रत्न, एक हज़ार गाय एवं 500 ब्राह्मणों को सम्मिलित रूप से 32 ग्राम दिए गए। *कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख* में गोविन्दचन्द्र को विष्णु का अवतार सम्बोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त काशी में *शाक्त, गणेश, सूर्य, गंगा* आदि की उपासना की जाती थी, जिसके प्रत्यक्ष अभिलेखीय प्रमाण गाहडवालकालीन अभिलेख हैं। काशी में विविध धर्म-सम्प्रदायों की उन्नति हुई, जिसमें प्रमुख रूप से ब्राह्मण धर्म की प्रमुखता द्रष्टव्य होती है। धर्म की यह प्रधानता काशी के इतिहास में समान विद्यमान रही है। धर्म का प्रभाव शिक्षा एवं साहित्य में स्पष्टतया दृष्टिगत् है।

भारतवर्ष की ज्ञानोपासना समस्त क्षेत्रों में प्रवाहित होती रही है। इस ज्ञानोपासना का केन्द्र अत्यन्त प्राचीन काल से काशी अथवा वाराणसी ही रहा है। वेद-वेदांग, वैदिक वाङ्मय, तंत्रशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, काव्य, अलंकार शास्त्र, जैन एवं बौद्ध शिक्षा के विषयों का पठन-पाठन और साहित्य-सृजन काशी में सहस्त्राब्दियों से अनवरत रूप से चलता रहा। अभिलेखों में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि से सम्बन्धित विषयों के उल्लेख के साथ-साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित शिक्षाओं का भी उल्लेख हुआ है। उत्तरवैदिक काल से ही काशी वैदिक शिक्षा-पद्धति का केन्द्र रही है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण *बृहदारण्यक उपनिषद्* में वर्णित काशी नरेश अजातशत्रु एवं गार्ग्य बालाकि का

संवाद है। अभिलेखों में विशेष रूप में *सारनाथ लघु शिलालेख, कुषाणकालीन सारनाथ बोधिसत्त्व मूर्तिलेख वर्ष-3, गुप्तकालीन अभिलेख एवं राजघाट से प्राप्त मृण्मुहरें, महीपाल का सारनाथ अभिलेख, कलचुरि शासक कर्ण का सारनाथ अभिलेख* एवं *राजघाट ताम्रपत्र* तथा *गाहडवालकालीन 35 ताम्रपत्र* उल्लेखनीय हैं। जिनसे काशी में वैदिक अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्म की शिक्षाओं का उल्लेख हुआ है। काशी में शिक्षा का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही दृष्टव्य है, परन्तु अभिलेखों में अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा वर्णन उपलब्ध नहीं है, केवल प्रसंगवश साहित्य का उल्लेख मिलता है अथवा दान के पात्र सम्बन्धी वार्त्ता में दान ग्राही की विद्वता का वर्णन किया गया है तथा यह कहा गया है कि अमुक व्यक्ति कई विषयों का पण्डित था। साधारणतः उसके वंश का विवरण देते समय ब्राह्मण के वैदिक शाखा का नाम लिया गया है। इन सभी प्रकार के उल्लेखों से हमें अध्ययन सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान हो जाता है।